प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार

(ANCIENT INDIAN ECONOMIC THOUGHT)

डॉ० रामनरेश त्रिपाठी

एम० ए० [अर्थशास्त्र], डी० फिल्

आचार्य

(प्राचीन राजशास्त्रार्थशास्त्राचार्य)

वोहरा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स

इलाहाबाद

विश्वप्रसिद्ध भारतीय

अर्थशास्त्री

स्वर्गीय प्रो० जे० के० मेहता

की

स्मृति में

दो शब्द

अर्थशास्त्र साहित्य हिन्दी में तैयार करने का आरम्भ एक प्रकार से स्व० पं० दयाशंकर दुबे और उनके अभिन्न साथी केला जी से आरम्भ हुआ। उनसे ही मैंने भी इस योगदान में आजन्म योग देने का वादा किया था। इस शृंखला में लेखक ने भी नए पीढ़ी के विद्यार्थियों को प्रेरणा देने की चेष्टा की है।

प्रस्तुत विद्यार्थी चि० डा० राम नरेश के संस्कृत के ज्ञान को देखते हुए इनका उपयोग करने की बात मन में आई। राम नरेश जी ने प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन से प्राचीन आर्थिक विचारों और नीतियों के सम्बन्ध में ज्ञान को ढूंढ-ढूंढ करके शोध-थीसिस प्रस्तुत की और सफल रहे।

तत्पश्चात् उन्होंने उसके आभास पर एक मौलिक ग्रन्थ तैयार किया जिसका मुझे व्यक्तिगत परिचय है। भारत के आर्थिक विचारों को पाश्चात्य विचारगत गुलामी से मुक्त करने के लिए आवश्यक है कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों और कम दामों में शिक्षकों और शोध छात्रों को उपलब्ध हों। मैं तो यह भी कहूंगा कि प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों के पठन-पाठन को एम० ए० के पाठ्यक्रम में स्थान मिले। परन्तु तदर्थ पुस्तकें एवम् साहित्य तो आज की भाषा में उपलब्ध हो।

मैं तो यह भी विचार रखता हूं कि अनेक अन्य उत्कृष्ट एवं भिन्न-भिन्न विषयों पर भी डा० त्रिपाठी लेखनी उठाएँ।

आशा है सभी अधिकारी इस विचारधारा को पुष्टि करने में योग देंगे।

महेश चन्द
विभागाध्यक्ष
अर्थशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद।

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृत साहित्य अगाध समुद्र है। इसके अन्दर से मोती सरीखे विचारो को तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब उसमें गहराई तक गोता लगाया जाय फिर इस संस्कृत वाङ्गमय से आर्थिक विचारों की खोज, एक अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिये तो निश्चय ही अत्यन्त कठिन है। संस्कृत तथा अर्थशास्त्र के बीच सामजस्य स्थापित करने से सम्बन्धित तमाम कठिनाइयों का सामना करते हुये मैंने यत्र-तत्र बिखरे आर्थिक विचारों को इस पुस्तक में क्रमबद्ध करने का यथा सम्भव प्रयास किया है।

प्रागैतिहासिक काल में लोगों को भोजन व्यवस्था की सर्वाधिक चिन्ता थी। सिन्धु सभ्यता के अन्तर्गत मनुष्य की आवश्यकतायें और अधिक बढ़ गई। वैदिक काल की सभ्यता न केवल आर्थिक विचारों की दृष्टि से अपितु सांस्कृतिक एवं सामाजिक रचना-क्रम की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है। इसमें उत्पादन, विनिमय, वितरण, व्यापार आदि के लक्ष्य क्रमशः सामने आते हैं, जो अर्थशास्त्र के प्रमुख अग है। इनका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है।

महाकाव्यों मे रामायण एवं महाभारत भारतीय सामाजिक रचना के सर्व विदित सार ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में विचारों की परिपक्वता का समावेश है। सूत्र एवं पौराणिक ग्रन्थों में भी इन्हीं विचारों को आधार मानकर समाज रचना में परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया है। बृहस्पति, कामन्दक, कौटिल्य एवं शुक्राचार्य जैसे महान आचार्यों के विचारों को समझना और आत्मसात् करना एक अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिये आसान कार्य नहीं है, फिर भी विद्वानों एवं सुधी अध्येताओं की प्रेरणा से संतोषजनक सफलता प्राप्त कर सका हूँ।

अर्थशास्त्र के उन महान् विद्वानों को भला मैं कैसे भूल सकता हूँ जिन्होंने इस दिशा में मेरी रुचि उत्पन्न की। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के अर्थशास्त्री स्व० प्रो० जी० डी० कारवल, स्व० प्रो० जे० के० मेहता से प्रायः जब भी मैं मिला, उन्होंने मुझे इस दिशा में कार्य करने के लिये प्रेरित ही नहीं किया बल्कि समय-समय पर अमूल्य सुझाव भी दिये। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति प्रो० डा० पी० डी० हजेला, प्रो० प्रकाश चन्द्र जैन, प्रो० महेश चन्द्र अग्रवाल, श्री कृष्ण लाल, स्व० सुरेश चन्द्र पन्त, डा० परमार आदि गुरुजनों ने इस पुस्तक को आगे बढ़ाने में जो सुझाव दिये हैं, उनके प्रति मैं हृदय से आभार ज्ञापित करता हूँ।

अर्थशास्त्र विभाग के अतिरिक्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय राजनीति विभाग के प्राध्यापक डा० सुरेन्द्र नाथ मित्तल, डा० कमलेश दत्त त्रिपाठी (काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय) तथा भारतीय समाज के विकास-क्रम के लब्ध प्रतिष्ठ अध्येता एवं वरिष्ठ पत्रकार श्री श्रीकृष्ण दास ने पदे-पदे जो प्रेरणा एवं सहयोग प्रदान किया है, उसे शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नहीं।

अन्त में, मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ से सम्बद्ध पुस्तकालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय, राजकीय पुस्तकालय आदि से इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिये जो अपार साहित्य उपलब्ध हुआ उसके लिये मैं उन पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

—डॉ० रामनरेश त्रिपाठी

विषय-सूची (सूत्र)

कामन्दक

राजा तथा राज्य, राजा और धर्म, धर्म, अर्थ एवं काम का सम्बन्ध, विद्या-वर्ण-वर्णाश्रम, वार्त्ता, अर्थ का प्रयोजन, अर्थ या धन की महत्ता, भूमि, आय प्राप्ति के साधन, आय-व्यय सम्बन्धी नियम, श्रमजीवी, कुशल श्रमिक, करारोपण, कोश की आवश्यकता, साहस।

कौटिल्य

संक्षिप्त परिचय, विद्या, अर्थशास्त्र, परिभाषा, सामाजिक स्थिति, जीवन स्तर, राजा, कोश संग्रह, शुल्क, शुल्क लेने के नियम, शुल्क के प्रकार करों का विवेचन, मुख्य श्रोत, लगान, उत्पादन तथा उसके साधन, कृषि, कृषि नीति, सिचाई, पशुपालन, वाणिज्य, व्यापार, व्यवसाय, सामूहिक संगठन, (श्रेणी, कुल, गण, पुग, संघ) वाणिज्य तथा उद्योग के नियम, विभिन्न उद्योग तथा मजदूरी, श्रमिक संघ, श्रमिक तथा मजदूरी, स्त्री श्रमिक, वस्तु विक्रय, बाजार का संगठन, व्यक्तिगत सम्पत्ति, सम्पत्ति का बटवारा, लाभ के नियम, आय, द्यूत, ऋण लेना तथा व्याज, दास, सार्वजनिक व्यय, विश्लेषणात्मक अध्ययन।

शुक्र

सामाजिक सिद्धान्त, अर्थशास्त्र और विज्ञान, धन तथा रहन-सहन का स्तर, वर्ण बिभाजन, विद्या, पुरुषार्थ, राज्य, धन की प्रशंसा तथा उपभोग, धन के लक्षण, संचित धन के भेद, भूमि, भूमि की प्रधानता, भूमि सम्बन्धी नियम, कृषि, सिंचाई के साधन, द्रव्य तथा धन, मूल्य की परिभाषा, व्यवसाय, व्यापार, भृत्य, श्रमिकों की मजदूरी, श्रमिकों के नियम,

भूमिका

मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक विकास के साथ उसके सामाजिक ढाँचे में भी परिवर्तन होता रहता है। इसी विकास-क्रम में हमें सभ्य समाज की रचना देखने को मिलती है।

मानव मस्तिष्क विचारों का केन्द्र है। वह सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ अपने विचारों में परिवर्तन लाता है। विचारों के माध्यम से ही मानव-चेतना आगे बढ़ती है। वह आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं को साकार तथा क्रियाशील बनाती और सिद्धान्त रूप में परिणत करती है। भारतीय समाज में आर्थिक विचारों के विकास का क्रम भी कुछ ऐसी ही मानव-चेतना से निर्मित समाज की रचना एवं परिस्थितियों का प्रतिरूप है।

आर्थिक विचार समय एवं परिस्थितियों के अनुकूल हमेशा बदलते रहे और इनके आकार-प्रकार में निरन्तर विकास तथा परिवर्तन होता रहा। इस सिद्धान्त को हमें स्वीकार कर ही आगे बढ़ना उचित होगा। क्योंकि प्राचीन आर्थिक विचारों को वर्तमान की भाँति वैज्ञानिक रूप भले ही न मिल पाया हो, किन्तु इतना अवश्य है कि वे हमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविकता से अवगत कराते हैं। इन्हें वैज्ञानिक विचारों की आधार-शिला के रूप में तो स्वीकार ही किया जा सकता है क्योंकि अतीत ही वर्तमान को जन्म देता है। इस आधार पर भारतीय विद्वानों को इन विचारों को मान्यता अवश्य देनी होगी।

अनेक अर्थशास्त्री इन विचारों को मान्यता देने से कतराते हैं। उनके अनुसार केवल वैज्ञानिक आर्थिक विचार ही वास्तविक विचार है। किन्तु ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है क्योंकि प्राचीन आर्थिक विचारों की यदि अवहेलना कर दी जाय तो निश्चय ही आर्थिक विचारों का इतिहास अधूरा रह जायेगा। इस पुस्तक में इन्हीं विचारों को आधार मानकर भारतीय आर्थिक विचारों की एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार

मानव इतिहास का विकास क्रमिक होता है। प्रायः उसकी प्रगति के पिछले सोपानों की ओर सम्यक् ध्यान नहीं दिया जाता है, किन्तु वर्तमान का अनुशीलन करते समय अतीत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह तथ्य ही प्राचीन विचारों के अध्ययन की प्रेरणा प्रदान करता है। इसी के फलस्वरूप आर्थिक विचारों के मूलभूत

तत्वों को समझने का प्रयास किया जा सकता है। इसी दृष्टि ने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों के सांगोपांग अध्ययन के लिए आधार प्रदान किया।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय अमूल्य भारतीय निधि है, उसका जितनी ही गहराई से अध्ययन किया जाय, उतना ही कम है क्योंकि इनके द्वारा सभ्यता एवं संस्कृति के मूल प्रेरणा-स्रोतों का ज्ञान प्राप्त कर उनसे लाभ उठाया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों के बारे में अभी तक बहुत कम कार्य किया गया है। इसके परिज्ञान हेतु ऐसे कार्य बहुत कम हुए हैं जिनसे आर्थिक विचारों का पूर्ण अध्ययन किया जा सके। इसलिये आवश्यक हो जाता है कि इस विषय पर अधिक-से-अधिक कार्य किये जायें। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को चाहिए कि वह प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों का अध्ययन कर उसके स्वरूप का विश्लेषण वैज्ञानिक ढंग से करें। समस्त संस्कृत वाङ्मय में बिखरे विचारों का संकलन कर, उसे एक वैज्ञानिक रूप देना कठिन है, परन्तु असम्भव नहीं।

भारतीय आर्थिक विचारों के स्रोत

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों को वस्तुतः सभी प्राचीन ग्रन्थों में महत्व-पूर्ण स्थान दिया गया है। भारतीय वाङ्मय का यह एक महत्वपूर्ण भाग है। इसके संस्कृत, पाली एवं प्राकृत भाषाओं में होने के कारण इस दिशा में आर्थिक विचारों का सम्यक् अनुशीलन अब तक प्रायः नहीं किया जा सका है। प्रचुर मात्रा में उप-लब्ध संस्कृत वाङ्मय को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर हम आर्थिक विचारों का अध्ययन करते हैं :—

(१) ऐतिहासिक साक्ष्य—इनके अन्तर्गत शिलालेख एवं ध्वंसावशेषों के अतिरिक्त भारतीय इतिहास में वर्णित प्रागैतिहासिक तथा सिन्धु सभ्यता का परिगणन होता है।

(२) वैदिक साहित्य—वैदिक साहित्य के अन्तर्गत चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) उपनिषद (मुख्यतः १०८) आरण्यक, ब्राह्मण, सूत्र ग्रन्थ, जातक आदि की गणना की जाती है।

(३) स्मृति साहित्य—स्मृतियों की संख्या सौ से भी अधिक है, परन्तु प्रमुख स्मृतिकारों में मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, गौतम, पराशर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों ने आर्थिक विचारों को काफी महत्व प्रदान किया है।

(४) पुराण-इतिहास—इस साहित्य के अन्तर्गत रामायण, महाभारत एवं उप-पुराणों को रखा जाता है। इनमें वायु, अग्नि, विष्णु, वामन, भागवत पुराण आदि ऐसे पुराण हैं, जिनमें अर्थव्यवस्था सम्बन्धी विचार पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

(५) काव्य साहित्य—इसमें कालिदास, बाणभट्ट, भास, शूद्रक, दण्डी आदि के ग्रन्थ लिये जा सकते हैं।

ऐतिहासिक विचारक

मेगस्थनीज, ह्वानच्वांग, फाहियान तथा इब्नबतूता आदि विदेशी इतिहासकारों के अतिरिक्त अलबरुनी, अबुलफ़ज़ल, फरिश्ता, बदाउनी आदि इतिहासकारों के ग्रन्थों, स्तम्भों, शिलाओं तथा सिक्कों आदि से आर्थिक विचारों का अनुमान लगाया जा सकता है।

काल निर्धारण

भारतीय संस्कृत वाङ्मय के काल निर्धारण का कार्य एक कठिन समस्या है। यद्यपि इतिहासकारों ने इस समस्या को हल करने की दिशा में काफी प्रयास किया है, परन्तु प्रायः उनके विचारों में परस्पर मतभेद रहा है। भारतीय इतिहासकारों के लिये यह समस्या इतनी जटिल क्यों सिद्ध हुई, इसका प्रमुख कारण तत्कालीन विचारकों द्वारा आत्म-प्रशस्ति एवं ग्रन्थों में समय का उल्लेख न किया जाना रहा है। हमारे इतिहासकारों द्वारा प्रागैतिहासिक सभ्यता तथा उसके समय की खोज आज भी जारी है। अभी हाल इलाहाबाद विश्वविद्यालय इतिहास विभाग की ओर से प्रतापगढ़ जिले की पट्टी तहसील से ८ किलो मीटर दूर महदहा ग्राम में की गयी खोदायी में प्रागैतिहासिक काल के अनेक मानव कंकाल, शस्त्र आदि प्राप्त हुए हैं। इस सभ्यता के बारे में दस हजार वर्ष पूर्व से भी अधिक का अनुमान लगाया जा रहा है। इसके अलावा अन्य कई स्थानों पर भी इतिहासकारों द्वारा की गई खोज में इस सभ्यता की परिचायक मूल्यवान वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। किन्तु सभ्यता की प्राचीनता तिथि के बारे में इतिहासकारों के अलग-अलग मत रहे हैं। अतएव एक निश्चित काल का निर्धारण न हो पाने के अभाव में मैं किसी का अन्धानुकरण कर तिथि देना उचित नहीं समझता।

इसी प्रकार सिन्धु सभ्यता की तिथि भी अनिर्णीत है। मार्शल, सारगम, मैक्समूलर, मैके, डॉ० डी० पी० अग्रवाल तथा 'विन्टरनिट्ज' आदि विद्वानों ने इस सभ्यता के काल निर्धारण पर अलग-अलग प्रकाश डाला है। यद्यपि विन्टरनिट्ज द्वारा निर्धारित काल को इतिहासकारों ने अधिक सही माना है, तथापि विवादग्रस्त विषय का उल्लेख कर पुस्तक को विवादास्पद बनाना उचित न होगा।

वेद, महाकाव्य, सूत्र ग्रन्थ, स्मृति साहित्य तथा पुराणादि साहित्य के काल निर्धारण में भी काफी मत-मतांतर हैं। यही कारण है कि यहाँ पर ग्रन्थों को ही आधार मानकर क्रमानुसार आर्थिक विचारों का विवेचन करना उचित समझा गया है।

आर्थिक विचारों का अस्तित्व

पाश्चात्य अर्थशास्त्र के अनुयायिओं ने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों के अस्तित्व को इतना विवादास्पद बना दिया है कि एक बार गम्भीरता से सोचना पड़ता है कि क्या प्राचीन भारतीय जीवन में इन आर्थिक विचारों का कोई अस्तित्व था, या नहीं ? मैं तो विभिन्न विचारकों के मत-मतांतरों के अनुशीलन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि प्राचीन भारतीय समाज की आर्थिक क्रियाशीलता की पृष्ठ-भूमि में सुचिन्तित प्राचीन आर्थिक विचारों का अस्तित्व है और इसका विकास उत्तरोत्तर शास्त्र अथवा अनुशासन का रूप ग्रहण करता गया है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इन विचारों की उपेक्षा कर समाज एवं आर्थिक जगत की बहुत बड़ी निधि को पीछे छोड़ दिया था। कुछ अर्थशास्त्रियों ने तो इन विचारों का खुलकर विरोध किया है। उनके अनुसार प्राचीन आर्थिक विचारों का कोई महत्व नहीं है। वे विचार अवैज्ञानिक, दोषपूर्ण तथा सामाजिक उपयोगिता से परे बताये गये। किन्तु क्या उनकी यह दृष्टि सही है ? सम्भवतः कोई भी विचार-शील अथवा भारतीय संस्कृति पर निष्ठा रखने वाला व्यक्ति यह स्वीकार करने को तैयार न होगा।

वेद-वेदांगों तथा प्राचीन भारतीय शास्त्रों एवं साहित्य के हृदय-स्थल में जाकर आर्थिक विचारों को शृङ्खलाबद्ध रूप में रख कर अध्ययन करने पर पता चलता है कि आदियुगीन मानव की सभ्यता की प्रगति के साथ ही साथ उनके आर्थिक विचारों का भी विकास हुआ। इसे यों भी कहा जा सकता है कि आदि-कालीन मानव समाज के आर्थिक विकास के फलस्वरूप उसकी सभ्यता का भी क्रमशः विकास हुआ है।

क्रमबद्ध अध्ययन का अभाव

इतना होते हुए भी यह भी निर्विवाद सत्य है कि अभी तक भारतीय वाङ्मय में यत्र-तत्र बिखरे हुए आर्थिक विचारों का क्रमबद्ध अध्ययन नहीं किया जा सका है। अतएव सामाजिक परिवर्तन के परिवेश में ही आर्थिक विचारों के विकास का अध्ययन समीचीन जान पड़ता है। इसीलिये यहाँ पर ऐतिहासिक विकास के सन्दर्भ में इस पुस्तक में वेद, उपनिषद्, महाकाव्य, स्मृति, सूत्र, पुराण, जातक, अर्थशास्त्र तथा राजनीति के प्राचीन आचार्यों द्वारा निरूपित आर्थिक बिचारों की चिर विकास-मान् रेखा को ऐतिहासिक क्रम में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जो सामान्यतः अभी तक सम्भव नहीं हो सका था। 'आर्थिक विचार' देश-काल एवं परिस्थितियों के अनुकूल बदलते तथा विकसित होते रहते हैं। उनके प्रारम्भिक स्वरूपों को ठीक-ठीक रखना विचारों के अनुशीलन की उचित दिशा है। यहाँ पर

भारतीय आर्थिक विचारों का विवेचन इस तथ्य को पूर्णरूपेण ध्यान में रखकर किया गया है ।

अध्ययन विधि

प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के क्रमिक विकास का अध्ययन करते समय भारतीय सभ्यता पर अत्यधिक प्रभाव डालने वाले वाह्य तथ्यों का भी अध्ययन करना आवश्यक है । तत्कालीन भौगोलिक स्थिति, भू-विस्तार, जलवायु आदि की जानकारी भी इतिहास का एक अंग है । इसके बाद ही प्राकृतिक साधन, प्राकृतिक वैभव, भूमि का उपजाऊपन (उत्पादन क्षमता) के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है ।

आर्थिक इतिहास के अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई काल निर्धारण की है । फिर भी उपलब्ध सामग्री को क्रमबद्ध करके इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है ।

इतिहास के यदि समग्र वास्तविक स्वरूप को जानना है तो, समाज के प्रत्येक वर्ग की सामाजिक स्थिति, रहन-सहन, कार्य, व्यवहार, उत्पादन प्रणाली आदि का भी परिज्ञान करना होगा । परन्तु आर्थिक विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई सुव्यवस्थित सामग्री उपलब्ध न होने के कारण प्राचीन भारतीय आर्थिक जीवन की सम्पूर्ण जानकारी का दावा नहीं किया जा सकता । इसके साथ ही आज के विद्यार्थी को केवल सामाजिक इतिहास की जानकारी ही नहीं अपितु उसे समाज के आर्थिक जीवन एवं उसकी विभिन्न दशाओं से सम्बन्धित सभी समस्याओं का पर्यालोचन करना चाहिए जिससे भविष्य में क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित चिन्तन का इतिहास उपलब्ध रहे ।

वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों, स्मृतियों तथा पुराणों में निहित सामग्री ही, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक विचारों के इतिहास के मूल-स्रोत हैं । अतः इस उपलब्ध वाङ्मय तथा पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों का इतिहास प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है ।

आर्थिक विचारों का उद्भव

भारतीय इतिहास प्रागैतिहासिक काल तथा सिन्धु सभ्यता की नगर व्यवस्था, रहन-सहन, खान-पान तथा व्यवसायिक रीति-रिवाजों से प्रारम्भ होता है । इसी को हम प्राचीन आर्थिक विचारों के उद्भव का काल स्वीकार कर सकते हैं । यद्यपि आर्थिक विचारों का स्वरूप किसी ग्रन्थ के रूप में नहीं पाया जाता तथापि ध्वंसावशेष के रूप में बिखरी सामग्री उनके स्वरूप को स्पष्ट करने में पूर्णतया सक्षम है । भारतीय इतिहास में यदि सिन्धु घाटी की सभ्यता एवं उसके पूर्व का ऐतिहासिक

जीवन प्रामाणिक समझा जाता है, तो अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक विचारों को भी उससे अलग नहीं किया जा सकता।

अर्थशास्त्र अथवा उसका इतिहास समय-समय पर प्रचलित आर्थिक प्रवृत्तियों का संग्रह है। प्रो० हेने ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। उनके अनुसार आर्थिक विचारों की पद्धतियों के इतिहास को अर्थशास्त्र का इतिहास कहते हैं।

कुछ पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों का कथन है कि अर्थशास्त्र का उद्‌भव तभी से माना जायेगा, जब से आर्थिक विचारों ने व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप प्राप्त किया। उनके अनुसार अर्थशास्त्र का जन्म २०० वर्ष पूर्व प्रकाशित एडम स्मिथ की 'वेल्थ ऑफ नेशन' नामक पुस्तक से माना जाना चाहिये। किन्तु अधिकांश भारतीय अर्थ-शास्त्री इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि विचार वैज्ञानिक ही हो क्योंकि देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार विचार हमेशा बदलते और विकसित होते रहते हैं तथा वैज्ञानिक स्वरूप भी समय-समय पर बदलता रहता है।

ज्ञान की किसी भी शाखा को वैज्ञानिक बनाने के लिये आवश्यक है कि उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा अनुशीलन कर सभी सामान्य परिस्थितियों में खरे उतरने वाले मूल-भूत शाश्वत सिद्धान्तों को ग्रहण किया जाय। प्राचीन आर्थिक विचारों में सत्य का अभाव नहीं। अतएव तथाकथित वैज्ञानिकता के अभाव का बहाना लेकर उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता और न ही मानव जाति के ऐति-हासिक विकास-क्रम से अलग किया जा सकता है। वैदिक ग्रन्थों से सम्बद्ध आर्थिक विचार, दर्शन, धर्म एवं नीतिशास्त्र से समन्वय स्थापित कर आगे बढ़े। वे सदैव विकास की ओर उन्मुख रहे। क्योंकि सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के विकास के साथ आर्थिक विचारों का विकास-क्रम भी चलता रहा है।

आर्थिक तथा सामाजिक विचारों का सम्बन्ध

आधुनिक अर्थशास्त्री आज के वातावरण में उत्पन्न समस्याओं पर विचार करते हैं। उनके सामने मुख्यतः मूल्य, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, बड़े पैमाने पर उत्पादन सट्टा तथा एकाधिकार आदि की समस्याएँ हैं। इसी प्रकार प्राचीन विचारकों ने भी सम-सामयिक आर्थिक स्थितियों और समस्याओं पर विचार किया था। उनके चिन्तन की आधारशिला एक सुखी, सम्पन्न, क्रियाशील, उत्क्रमणशील मानव समाज की परिकल्पना थी, तत्कालीन उत्पादन, वितरण, विनिमय प्रणाली पर आधारित आर्थिक जीवन उसका मूल आधार था। परन्तु समाज ज्यों-ज्यों विकसित होता गया, त्यों-त्यों इन विचारों में भी विकास, परिवर्तन एवं संशोधन होता गया।

उदाहरण के लिए, अधिकतम सामाजिक कल्याण का विचार प्राचीन वैदिक

परम्परा में विद्यमान था और धीरे-धीरे वह हमारे स्वस्थ सामाजिक जीवन का अंग बन गया। इस विचार परम्परा को किसी भी प्रकार भारतीय संस्कृति से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

आधुनिक युग में भी महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक विचार इसी परम्परा में थे, जो वर्तमान समय की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के साथ मेल खाते हैं। वे हमारे सामाजिक जीवन के, हमारी संस्कृति के आज की परिस्थितियों में अविभाज्य अंग बन गये।

इसमें निर्विवाद है कि आर्थिक विचारों तथा सामाजिक विकास के इतिहास में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

प्राचीन आर्थिक विचारों की उपयोगिता

प्राचीन अर्थशास्त्र एवं आर्थिक विचारों के अध्ययन के द्वारा सामाजिक जीवन के अनेक ऐसे प्रच्छन्न आर्थिक पहलुओं का पता चलता है, जिनसे वर्तमान सामाजिक समस्याओं को हल करने में सहायता मिलती है। इसके साथ ही युग विशेष की आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक समस्या तथा उसके निदान के उपायों की जानकारी के साथ आज के प्रगतिशील समाज में बाधक तत्वों से निपटने में भी मदद मिलती हैं।

यद्यपि पाश्चात्य अर्थशास्त्र पर विश्वास रखने वाले कतिपय अन्धानुयायी अर्थशास्त्री आधुनिक युग को अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए प्राचीन आर्थिक विचारों की दृष्टि से उपयोगी नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार प्राचीन आर्थिक विचारों का अध्ययन अनावश्यक एवं अप्रासंगिक है। किन्तु हम इस विचार से सहमत नहीं हैं।

वस्तुतः मानव सभ्यता के ऐतिहासिक सन्दर्भ में आर्थिक विचारों का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनकी सहायता से न केवल हमें अपने पूर्वजों के रहन-सहन के स्तर का ज्ञान होता है। बल्कि उनके द्वारा किये गये कार्यों-व्यवहारों तथा उद्देश्यों, आदर्शों का भी ज्ञान प्राप्त करने में हमें सहायता मिलती है। इन विचारों का अध्ययन हमें तत्कालीन सभ्यता के विकास की दिशा को भी समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करता है। प्राचीन साहित्य, दर्शन एवं अर्थशास्त्र के जानकार अतीत की उपेक्षा के पक्ष में नहीं हैं।

यदि आज का अर्थशास्त्री अथवा आर्थिक विचारक नवीन एवं उपयुक्त विचारों की स्थापना करना चाहता है, तब उसका कार्य आर्थिक विचारों के इतिहास का अध्ययन किये बिना सुचारु रूप से नहीं चल सकता। इसी प्रकार यदि अर्थशास्त्र का शोधार्थी अथवा विद्यार्थी वर्तमान युग की आर्थिक प्रवृत्तियों, योजनाओं, सिद्धांतों

और विचारों का अध्ययन करना चाहता है, तो उसका यह कार्य आर्थिक विचारों के इतिहास के सम्यक अनुशीलन के बिना संभव न हो सकेगा।

वर्तमान अतीत की भित्ति पर ही खड़ा है। आज आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन को नियन्त्रित एवं विकसित करने के लिए जो भी सिद्धांत स्वीकृत हैं उन सबका आधार पारम्परिक विचार ही है।

यहाँ एक बात और भी ध्यान रखनी चाहिये कि पाश्चात्य अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक विचारों का इतिहास प्राचीन नहीं है। योरप में औद्योगिक क्रांति के उपरांत ही अर्थशास्त्र का जन्म और विकास हुआ। उन अर्थशास्त्रियों ने कतिपय यूनानी दार्शनिकों के विचारों का सहारा लेकर ही अपने विचारों को, सिद्धांतों को, निरूपित किया और हमारे देश के अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने, विचारकों ने उन्हीं का अधानुकरण करके, उनके द्वारा प्रणीत सिद्धांतों-विचारों को भारतीय परिवेश में आरोपित कर दिया। उनकी इस प्रकार स्वीकृत-प्रतिपादित विचार प्रणाली कितनी निर्दोष हो सकती है—यह विषय भी चिन्तनीय है।

प्राचीन अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों और आर्थिक विचार की परम्परा में अनेक ऐसे विचार मिलते हैं, जो आधुनिक युग में भी परिवर्तित और संशोधित रूप में मौजूद हैं। ये विचार हमें बताते हैं कि कोई भी ऐसा युग नहीं रहा है, जिसमें तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुरूप आर्थिक चिन्तन न हुआ हो। विचारों की जानकारी के बिना सामाजिक एवं आर्थिक विकास के वास्तविक स्वरूप का पता कदापि नहीं चल सकता।

इनके अध्ययन से ही अन्य सामाजिक विज्ञानों, नीतिशास्त्र, न्यायशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र आदि का सही ज्ञान प्राप्त होता है। इनके अनुशीलन से पाठक का दृष्टिकोण भी परिष्कृत होता है और वह विचार कर अथवा सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन, समय एवं परिस्थितियों की माँग के आधार पर करने में समर्थ होता है। सामाजिक सत्यों के सम्यक् ज्ञान के लिए आर्थिक सत्यों का ज्ञान अनिवार्य है।

दूसरे शब्दों में आज के आर्थिक विचारों में प्राचीन विचारों का अत्यन्त विकसित रूप ही हमें देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए सामाजिक कल्याण की भावना, द्रव्य पण्य, विनिमय, ब्याज, लगान, सम्पत्ति, धन आदि से सम्बन्धित विचार आधुनिक युग की देन नहीं है। इनका उद्भव अत्यन्त प्राचीन है। इतिहास के साथ-साथ ये विचार परिष्कृत होते हुए इस युग तक पहुँचे और इनका वर्तमान स्वरूप देखने को मिला।

अर्थशास्त्र—प्राचीन अर्थशास्त्र की व्याख्या धन सम्बन्धी विभिन्न सिद्धांतों के

रूप में की गई है। अर्थशास्त्र तथा 'वार्ताशास्त्र' का अनेक दृष्टियों से अध्ययन किया गया है।

इसका किस शास्त्र से कैसा सम्बन्ध रहा है। उसकी भी पूर्ण जानकारी हमें प्रचलित विचारों के अध्ययन से मिलती है। धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र का इन दोनों शास्त्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। नीतिपरक सिद्धांतों की अपेक्षा धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों को अर्थशास्त्र के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आज के 'अर्थ-शास्त्र' (एकोनामिक्स) शब्द का जो स्वरूप स्पष्ट होता है उसे स्पष्ट करने के लिए प्राचीन यूनानियों के पास संभवतः अर्थशास्त्र जैसा कोई शब्द न था, यही बात 'राजनीतिशास्त्र' (पालिटिक्स) के बारे में भी है। संभवतः शास्त्र उनके (अर्थशास्त्र के) अधिक निकट था। इस समय गृहशास्त्र अथवा गृहविज्ञान से हमारे यहाँ जो अर्थ लगाया जाता है, यही अर्थ यूनानियों द्वारा उस समय 'अर्थशास्त्र' के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। परन्तु प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक विचारों का अध्ययन तत्कालीन विद्याओं के आधार पर वर्गीकृत कर किया जाता रहा है। 'विद्या' तथा उसके विभेदों का भी सम्यक् अध्ययन भी इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है।

'विद्या' तथा उसका वर्गीकरण

'विद्या' शब्द की व्युत्पत्ति विद् धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ ज्ञान है और प्रत्येक ज्ञान की यह शाखा 'विज्ञान' के नाम से जानी जाती है। प्राचीन आचार्यों ने समग्रशास्त्रों के अध्ययन की सुविधा के लिए विद्याओं को चार भागों में विभक्त कर दिया था। त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी तथा दण्डनीति। इन चारों विद्याओं का स्वरूप वेदों की उत्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ है। जिसे प्रारम्भ में पृथक् नहीं किया गया था। बाद के आचार्यों ने 'शास्त्रों' की अलग-अलग उपयोगिता को ध्यान में रखकर इन्हें चार भागों में बाँट दिया। इन विद्याओं के विभाजन में काफी मतमतान्तर हैं। 'मैक्समूलर' ने इन विद्याओं का वर्गीकरण सूत्रकाल से स्वीकार किया है। किन्तु ऐसी बात नहीं इसके पूर्व से इन विद्याओं का पृथक् अस्तित्व विद्यमान था।

गौतम के एक सूत्र का उल्लेख करते हुए 'मस्करी भाष्य' में 'अन्वीक्षिकी' को न्याय तथा आत्म विद्या के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सूत्र में ज्ञान की दो अन्य शाखाओं-दण्डनीति तथा वार्ता का भी पता चलता है। अन्य कई स्थानों पर आन्वीक्षिकी को 'दर्शन' के रूप में भी स्वीकार किया गया है।

आचार्य कौटिल्य 'दर्शन' के अन्तर्गत तीन शास्त्रों का उल्लेख करते है— सांख्य, योग्य तथा लोकायत। कौटिल्य के विचार कपिल, बृहस्पति और पतंजलि के विचारों से मेल खाते हैं। कुछ आचार्य अन्वीक्षिकी को न्याय और वेदान्त का उप-रूप मानते हैं। उनके अनुसार त्रयी शब्द वेदों का द्योतक है। इसी से ज्ञान की अनेक

शाखाओं का जन्म हुआ जो बाद में वेद, उपवेद, इतिहास, पुराण आदि के नामों से जाने गये।

वार्ता—प्राचीन विचारकों ने 'वार्ता' को सामाजिक जीवन का एक विशेष अंग मानकर उसका अनुशीलन किया है। उन्होंने 'वार्ता' के ही अन्तर्गत कृषि, वाणिज्यतथा पशुपालन के अध्ययन को रखा है।

'वार्ता' शब्द संस्कृत के 'वृति' शब्द से संबद्ध है, जिसका सामान्य अर्थ व्यवसाय है। इसका प्रयोग सीमित तथा विस्तृत दोनों अर्थों में किया जा सकता है। कृषि के अलावा वनों से प्राप्त सामग्री, खनिज पदार्थ आदि का भी उल्लेख इसी शास्त्र के अन्तर्गत किया गया है। अर्थ उत्पादन विनिमय तथा वितरण आदि आर्थिक क्रियाओं के बारे में भी 'वार्ताशास्त्र' से ही जानकारी मिलती है। 'वार्ता के नियम सामाजिक जीवन के नियमों पर आधारित है। इसीलिये इसे जीवन का महत्व-पूर्ण अंग माना गया है।

वार्ताशास्त्र की चर्चा वैदिक काल से लेकर सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में की गयी है। महाभारत तथा रामायण दोनों ही ग्रन्थों में कहा गया है कि वार्ता के सिद्धान्तों पर आश्रित रहने से ही यह संसार सुख पाता है। आचार्य कौटिल्य ने इसे उपकार करने वाली विद्या बताया है। शुक्रनीति एवं कामन्दकीय नीतिसार में भी वार्ता के महत्व की विस्तार से चर्चा की गयी है। शासकों का इस शास्त्र के प्रशिक्षण अनिवार्य समझा जाता था। क्योंकि समाज की उचित व्यवस्था करने वाले राजा को यदि इसका ज्ञान न रहा तो समाज को समुचित व्यवस्था कर पाना उसके लिये कठिन होगा।

कौटिल्य के अनुसार वार्ताशास्त्र के अन्तर्गत, कृषि, पशुपालन, व्यापार, अन्न, पशु, सोना, वन सम्पदा, स्वतंत्र श्रमिक सभी आते हैं। राजा के कोष तथा सैन्य शक्ति के संचालन की चर्चा शास्त्र के अन्तर्गत की गयी है। कालान्तर में व्याज, ऋण आदि क्रियाओं को भी इसी के साथ सम्बद्ध किया गया है। 'शुक्रनीति' में एक स्थान पर कहा गया है कि उधार लेना कृषि, वाणिज्य, पशुपालन से यह सब वार्ता शास्त्र के अंग हैं।

सामान्यतः वार्ता के चार विभाग माने जाते हैं। कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और इनके अन्तर्गत उधार का लेन देन। इनमें से आगे चलकर 'कर्मान्त' अर्थात् शिल्पकारी को भी वार्ता के साथ जोड़ दिया गया। इसका सर्वप्रथम उल्लेख देवी पुराण में मिलता है, यथा 'ओ देवी, पशुपालन कृषि तथा शिल्पकारी में लगे हुए लोग वार्ता के उपासक हैं।'

आधुनिक युग में वार्ता अर्थशास्त्र के रूप में परिवर्तित हो गयी है और उसके अन्तर्गत उत्पादन, उपभोग, राजस्व आदि के बारे में अध्ययन किया जाता है।

वार्ता का महत्व

समाज की आर्थिक व्यवस्था में वार्ता का दो प्रकार से महत्व है—(१) वार्ता के द्वारा ही मानव समूह के कार्यों व्यवसायों का विभाजन निर्धारित है।। (२) वर्ण के अनुकूल समाज के प्रत्येक व्यक्ति को 'वार्ता' के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है। शुक्रनीति के अनुसार वार्ता का उपासक व्यक्ति कभी अपने व्यवसाय में असफल नहीं होता। अर्थात् कर्म करने वाले व्यक्ति को कभी असफलता नहीं प्राप्त होती। कामन्दक के कथनानुसार जब वार्ता का विनाश हो जाता है, तो संसार मरी हुयी स्वासें भरने लगता है। बाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड में राम लक्ष्मण से पूछते हैं, "तुम्हारे आश्रित जो लोग कृषि तथा गोरक्षण पर निर्भर करते हैं, वे वार्ता के अनुसार जीवन यापन कर कुशलतापूर्वक रह तो रहे हैं ?"

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने 'वार्ता' के अन्तर्गत राजा के कर्त्तव्यों को भी निरूपित किया है। उनके अनुसार राजा को साहसी, विद्वान्, कुशल, कृपालु, सम्पन्न परिवार का, सत्यवादी, पवित्र तथा किसी कार्य के प्रति शीघ्र निर्णय लेने वाला होना चाहिए। उसे वार्ताशास्त्र एवं वेद का सही-सही ज्ञान होना आवश्यक है।

महाभारत में राष्ट्र की आर्थिक स्थिरता को कायम रखने के लिये वार्ताशास्त्र का महत्व बताया गया है। "संसार की जड़ वार्ता है। वार्ता के द्वारा ही यह संसार पलता है और वार्ता का समस्त कार्य राजा पर निर्भर करता है। अर्थात् जिस प्रकार राजा शासन करता है, उसी प्रकार वार्ताशास्त्र की प्रगति एवं ह्रास की सीमायें भी परिलक्षित होती हैं।"

'वार्ता' ज्ञानोपार्जन का प्रथम अंग था और राजा राज्य के किसी अनुभवी, विद्वान व्यक्ति के द्वारा इसका ज्ञान प्राप्त करता था।

वार्ताशास्त्र के अध्ययन में प्रयोगात्मक पद्धति को प्राधान्य दिया जाता रहा है। जबकि वर्तमान युग में इससे सम्बन्धित प्रयोगात्मक क्रियायें वैज्ञानिक विचारों की उत्पत्ति के रूप में अपनाई गई।

ज्ञान की एक अन्य शाखा 'दण्डनीति' का भी अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से स्वतन्त्र रूप से किया जाता रहा है। किन्तु कालान्तर में 'वार्ता' से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। इस प्रकार 'वार्ता' का सामाजिक जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसका उल्लेख संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न ग्रंथों में मिलता है।

वार्ता तथा चार पुरुषार्थ

'वार्ता' नाम से अभिहित प्राचीन अर्थशास्त्र का सम्बन्ध ज्ञान की प्रत्येक शाखा से था। ऐसी स्थिति में ज्ञान प्राप्ति के साधनों तथा उसके उद्देश्यों से उसका सम्बद्ध होना स्वाभाविक है। प्राचीन काल में लोग ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख लक्ष्य 'मोक्ष'

मानते रहे हैं और मोक्ष का सम्बन्ध पुरुषार्थों के साथ जुड़ा था। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे जाते थे। इन्हीं पुरुषार्थों के अन्तर्गत मानव समाज की सारी मर्यादायें निहित थीं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में वार्ताशास्त्र चार पुरुषार्थों से भी सम्बद्ध रहा है।

प्राचीन विचारकों ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग मोक्ष के दोनों साधनों को समान रूप से प्रमुखता प्रदान की है। सारे समाज के लोग इन्हीं पुरुषार्थों को पथ-प्रदर्शक मान कर अपने व्यावहारिक जीवन में इनका प्रयोग करते थे।

अर्थ

प्राचीन काल में 'अर्थ' का तात्पर्य केवल धन से ही नहीं अपितु सब प्रकार की 'सत्ता' से माना गया है और 'सत्ता' का सम्बन्ध उन सांसारिक वस्तुओं से है जिनसे समाज के ऐहिक जीवन में सुख प्राप्त किया जाता है।

कुछ स्थानों पर 'अर्थ' का प्रयोग धन के रूप में भी किया गया है। महाभारत में अर्जुन अर्थ का महत्व बताते हुए वह कहते हैं कि यह "कर्म-भूमि हैं। यहाँ जीविका के साधन भूत कर्मों की प्रशंसा होती है, कृषि, व्यापार, गोपालन नाना प्रकार की शिल्पकलायें अर्थ की प्राप्ति के साधन हैं। अर्थ ही समस्त धर्मों की मर्यादा है। अर्थ के बिना धर्म और काम की भी सिद्ध नहीं होती। धनी मनुष्य धन के द्वारा अर्जित धन की रक्षा तथा कामनाओं की प्राप्ति भी कर सकता है। सब प्रकार के मोह से रहित, संकोचशील, शान्त एवं गेरुवा वस्त्रधारी, दाढ़ी मूंछ वाले विद्वान पुरुष भी धन की अभिलाषा करते पाये जाते है।" यहाँ अर्थ का तात्पर्य केवल धन से प्राप्त वैभव से ही है। तथापि अर्थ शब्द के इन दोनों तात्पर्यों में अधिक दूरी नहीं है।

समाज में 'अर्थ' को कितना महत्व प्राप्त था इसकी सूचना हमें महाभारत के निम्नलिखित सन्दर्भ में स्पष्ट मिलती है। वहाँ नकुल और सहदेव कहते हैं कि—'हे राजन, मनुष्य को उठते चलते-फिरते समय भी छोटे-बड़े हर प्रकार के उपायों से दृढ़तापूर्वक धन कमाने का उद्योग करना चाहिए। धन दुर्लभ और अत्यन्त प्रिय वस्तु है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य संसार में अपनी सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण कर सकता है। अर्थ युक्त धर्म अमृत के समान फलदायक है। इसलिये हम धर्म और अर्थ दोनों को आदर देते हैं। निर्धन मनुष्य की कामना पूर्ण नहीं हो सकती और धर्महीन मनुष्य की कामना पूर्ण नहीं हो सकती और धर्महीन मनुष्य को धन भी कैसे मिल सकता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह प्रथम धर्म का आचरण करे। फिर धर्म के अनुसार अर्थ का संग्रह करे। इनके बाद उसे काम का सेवन करना चाहिए।'

उपर्युक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थ जीवन का एक महत्वपूर्ण पुरुषार्थ है। इसके बिना संसार का व्यवहार भी नहीं चल सकता।

अतः अर्थ प्राप्ति का प्रयत्न अवश्यमेव करना चाहिए। किन्तु यह प्रयत्न धर्मपूर्वक अर्थात् नैतिकता के साथ, समाज के विविध नियमों के अनुसार ही करना चाहिए अर्थात् अर्थ का समाज में जो उचित स्थान है उसे प्राप्त होना चाहिए, न अधिक और न कम। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा अग्रिम पृष्ठों में की जायेगी।

धन

धन की भी प्रशस्ति वाङ्मय में स्थान-स्थान पर की गयी है "धन के न होने पर व्यक्ति धर्म का पालन नहीं कर सकता, धन के न होने पर बन्धु बांधव भी व्यक्ति को छोड़ देते हैं। धन से विहीन पुरुष को पुत्र, गुरु तथा बन्धु-बांधव भी शोभा नहीं देते।

नारद पुराण में कहा गया है, 'बहुत से पुत्रों के होने पर ऐश्वर्य-विहीन व्यक्ति का जन्म व्यर्थ है, सौम्यता, विद्वता तथा सत्कुल में जन्म आदि गुण उस व्यक्ति को शोभा नहीं देते, जो दरिद्रता के समुद्र में निमग्न है। ऐश्वर्यविहीन व्यक्ति को प्रिय पुत्र पत्नी, बांधव, भ्राता शिष्य आदि सब छोड़ देते हैं।'

दरिद्र पुरुष इस संसार में मुर्दे के समान निन्दित होता है, इसके विपरीत यदि व्यक्ति सम्पति से युक्त हो तो वह कितना भी निष्ठुर हो वह चाहे मूर्ख हो अथवा पण्डित हो, वही पूज्य होता है, इसमें कोई संशय नहीं है। भारतीय शास्त्रों में धन की प्रशंसा ही की गई हो ऐसी बात नहीं है, उसके स्थान पर निन्दा भी की गई है। इसके मुख्य कारण ये हैं कि धन के रहने से व्यक्ति का संतोष नष्ट हो जाता है उसमें लोभ तथा घृणा की भावना उत्पन्न हो जाती है। धन रहने से राजा को चोर तथा बन्धु-बांधवों का भय रहता है। संक्षेप में धन प्राणी का घातक और पापों का साधक है। धन मनुष्य को संसार में लिप्त करता है और उसे आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर बढ़ने से रोकता है।

यद्यपि इस प्रकार धन की निन्दा तथा प्रशंसा दोनों की गई है, फिर भी ये परस्पर-विरोधी बातें नहीं है, बल्कि भारतीय जीवन दर्शन पर आधारित जीवन के दो पहलू मात्र हैं। इस संसार में जीवन-निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता है। संसार में धन के बिना किसी प्रकार जीवन नहीं चल सकता। अतः व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से धन की प्रशंसा उचित ही की गई है। मनुष्य के सामने सांसारिकता से अलिप्त रहने का जो महान् लक्ष्य रखा गया है, उसको ध्यान में रखकर धन की निन्दा भी उचित ही है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि—

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भौतिक ऐश्वर्य, संग्रहवृत्ति, कामवासना, धन की इच्छा तथा मोह की निन्दा अवश्य की गई है। परन्तु यह निन्दा सापेक्ष है क्योंकि उनका आदर्श यह रहा है कि मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मानकर सभी प्रकार की

सांसारिक कामना करें। इस प्रकार मुक्त होने की अनिवार्य आवश्यकता बताते हुए भी अर्थ और काम को चार पुरुषार्थों में स्थान दिया गया है।

धन तथा द्रव्य

शुक्र ने धन और द्रव्य के बीच अन्तर करते हुए बताया है कि जो वस्तुएँ विक्रय के लिये प्रयुक्त होती हैं वे द्रव्य हैं तथा अन्य सभी वस्तुएँ जो मानव जीवन के उपभोग की है अर्थात् जिनकी साक्षात् उपयोगिता है, जिनको मोल लिया और बेचा जा सकता है तथा जिन्हें प्राप्त करने की मनुष्य इच्छा करता है, वह सब धन है।

पुरुषार्थों का मूल्यांकन

विद्वानों ने पुरुषार्थों का आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टियों से अलग-अलग मूल्यांकन किया है। प्रत्येक पुरुषार्थ का विधाओं के साथ गहरा सम्बन्ध था और वे वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तों पर निर्भर थे। यद्यपि भारतीय विचारकों ने धर्म एवं अर्थ की समन्वयात्मक दृष्टि को समाज के सामने रखने का प्रयत्न किया, किन्तु यह विवाद बराबर बना रहा कि अर्थशास्त्र को प्रधान कहा जाय अथवा धर्मशास्त्र को ? इस विवाद में अर्थ को प्रधानता देने वालों की संख्या अधिक थी।

अर्थशास्त्र का व्यापक प्रभाव

प्राचीन आर्थिक विचार धर्ममूलक थे। आचार्य शुक्र ने अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हुए कहा है, 'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धर्मनीतियों पर आधारित राजा के कार्यों तथा प्रशासन का विवरण प्रस्तुत करता है, 'श्रुति स्मृत्य विरोधने राज वृत्तादिशासनम् सुयुक्त्यगर्थाजनं यत्र ह्यर्थशास्त्र तदुच्यते'। इसी प्रकार विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में अर्थशास्त्र के प्रभाव का विवेचन किया गया है। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र, मत्स्यपुराण, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदीय सूक्त आदि ग्रन्थों में अर्थशास्त्र के महत्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अर्थ-धर्म

अर्थ तथा धर्म का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। क्योंकि प्राचीन धार्मिक भावनाओं की तुष्टि का माध्यम ही अर्थ अथवा धन था। वैदिक काल में अधिकतम संतुष्टि तथा सामाजिक कल्याण के लिए धन की याचना की गई है। इसका उल्लेख हमें वेद के मन्त्रों में मिलता है।

धन का सम्बन्ध धार्मिक क्रियाओं के साथ इस प्रकार जुड़ गया था कि धर्म एवं धन एक-दूसरे के पूरक बन गये थे। उपनिषद काल में प्रबल आध्यात्मिक भावना के कारण धन-विरोधी विचार भी विकसित होने लगे थे किन्तु महाभारत काल में

सामाजिक रचना को देखते हुए धन का महत्व काफी अधिक बढ़ गया। उस युग में कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि के माध्यम से धनोपार्जन किया जाता था। स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने 'अर्थशास्त्र तु बलवर्द्धमशास्त्रमिति स्थितिः', कहकर धर्म की पूर्ति के लिए अर्थशास्त्र की प्रधानता बताई है।

धीरे-धीरे सामाजिक रचना के अनुकूल ही 'धन' के वास्तविक स्वरूप में परिवर्तन होता गया और चिन्तकों ने इसके क्षेत्र को इतना अधिक विस्तृत कर दिया कि उसका प्राचीन अभिप्राय बदल सा गया। 'द्रव्य वित्त स्वापतेय रिक्थ मृकथं धन वसु हिरण्य द्रविण द्युम्न अर्थ विभव' आदि धन के अनेक पर्याय भारतीय विचारकों द्वारा प्रयोग किए गये हैं।

हरिवंश पुराण में धन शब्द का प्रयोग 'धनानि' बहुवचन के रूप में किया गया है। वृद्धि के रूप में प्रयोग किए गये धन का तात्पर्य वस्तु, पूंजी से है और धन-धनी शब्द का प्रयोग खजाने के रूप में किया गया है।

भारतीय अर्थशास्त्र की विशेषता

भारतीय अर्थशास्त्र की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उसका सम्बन्ध विभिन्न ज्ञान की शाखाओं से जुड़ा रहा है। इससे ज्ञान की एकता का प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। तर्क के रूप में आन्वीक्षिकी तथा प्रयोगात्मक रूप में 'वार्ता' का प्रयोग मनुष्य के दैनिक कार्यों में प्रयुक्त होता रहा है। उस समय भी ज्ञान प्राप्ति के लिए पृथक-पृथक परम्पराएँ थीं। उनमें दार्शनिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, नीतिविषयक ज्ञान का समावेश था। इस सम्बन्ध में उशनस्, वृहस्पति, भारद्वाज पराशर, विशालाक्ष आदि की परम्पराओं का उल्लेख हमें प्राप्त होता है।

पाश्चात्य अर्थशास्त्री तथा भारतीय विचार

प्राचीन आचार्यों के आर्थिक विचार तत्कालीन धार्मिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विचारों के विचित्र मिश्रण थे इन्हीं विचारों के क्रम में पाश्चात्य अर्थ-शास्त्रियों ने उन्हें एक नया रूप देने का प्रयास किया। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) के समय से विचारों का नया स्वरूप सामने आया। अरस्तू को कुछ लेखकों ने प्रथम विश्लेषणात्मक अर्थशास्त्री बतलाया है। अपने 'पालिटिक्स' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में अरस्तू ने अर्थशास्त्र की परिभाषा तथा इसके विषय-क्षेत्र के सम्वन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

अरस्तू ने अर्थशास्त्र को 'गृह प्रबन्ध' का विज्ञान बताया था, उनके अनुसार-पूर्ति विभाग का सम्बन्ध विनिमय तथा धन प्राप्ति से था। अरस्तू की तुलना में कम प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक जीवों ने भी अपनी 'इकोनामिक्स' नामक पुस्तक में अर्थशास्त्र

को वह विज्ञान बताया था, जो गृह प्रबन्धन की समस्याओं का अध्ययन एवं मूल्यांकन करता है।

मध्यकाल में आर्थिक विचारों का स्वरूप कुछ और ही था। ईसाई धर्म के प्रचार के कारण अर्थशास्त्र पर धर्मशास्त्र की अधिक छाप पड़ी। अतः इसे विशेष प्रधानता नहीं दी गई। फलतः आर्थिक विचारों के विकास का आकलन नहीं किया जा सका। मध्यकालीन चर्च पादरियों की विचारधारा धन प्राप्ति के प्रतिकूल थी। तत्कालीन विचारकों ने जीवन के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल दिया, आर्थिक पक्ष पर नहीं। ऐसी स्थिति में चिन्तकों, विचारकों तथा लेखकों ने अर्थशास्त्र के अध्ययन की ओर से उदासीनता दिखलाई।

१८वीं शताब्दी के प्रथम ६ शताब्दियों तक वणिकवादी विचारधारा का साम्राज्य बना रहा। उनका यह विश्वास था कि शक्तिशाली राज्य की स्थापना के लिए अधिक धन का होना अत्यावश्यक है। संसार में शक्तिशाली राज्य बनने के लिए राज्य को समृद्धशाली होना चाहिए। इस प्रकार की विचारधारा के प्रभाव के आधीन अर्थशास्त्र राज्य के लिये धन प्राप्ति का अध्ययन बन गया।

एक प्रसिद्ध वणिकवाद जान हेनरिख ग्राटलीवान जस्ती (१७१७-७१) ने कहा है : "राज्य का महान प्रबन्धन भी उन्हीं मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है जिन पर अन्य प्रबन्धन (गृह प्रबन्धन) आधारित है। दोनों संस्थापनों का उद्देश्य प्राप्त पदार्थों का उपयोग करने के हेतु साधनों को प्राप्त करना है। यदि इन प्रबन्धनों में कोई अन्तर है, तो वह केवल यह है कि राज्य का गृह प्रबन्धन निजी व्यक्ति की प्रबंध की तुलना में अधिक महान् है।"

एक अन्य वणिकवादी लेखक सर जेम्स स्टुवार्ट (१७-१२-८०) ने अपनी पुस्तक (एन इन्क्वायरी इन टु दि प्रिंसिपिल्स आफ पालिटिक्स इकोनामी) (१७६७ ई०) में अर्थशास्त्र विषयक सामग्री की व्याख्या करते हुए लिखा है, "सामान्यतया अर्थशास्त्र परिवार की सभी आवश्यकताओं की किफायत के साथ पूर्ति करने की कला है......जो महत्व अर्थशास्त्र का परिवार के लिये है, वही महत्त्व राजनीतिक अर्थ-शास्त्र का राज्य के लिये है......।"

एडमस्मिथ तथा उनके अनुयायिओं के हाथों में आकर अर्थशास्त्र धन का विज्ञान बन गया है। स्मिथ के अनुसार 'अर्थशास्त्र राष्ट्रों के धन की प्रकृति तथा इसके कारणों का अनुसन्धान है।'

सुप्रसिद्ध फ्रान्सीसी शिष्य जे बी० से (१७६७-१८३२ ई०) के विचारानुसार अर्थशास्त्र उन विषयों का अध्ययन है, जिनके अनुसार धन प्राप्त किया जाता है। १८०३ ई० में प्रकाशित अपनी 'ए ट्रिटाइज आन पोलीटिकल इकोनामी' नामक

पुस्तक में जे० बी० से-ने लिखा था, "राजनीतिक अर्थशास्त्र धन की प्रकृति की व्याख्या करता है तथा इसके नष्ट होने की घटना की विवेचना करता है।"

जान शमसे मक्लुश (१७८९-१८६४ ई०) के विचारानुसार राजनीतिक अर्थशास्त्र उन नियमों का विज्ञान है, जो ऐसी वस्तुओं के उत्पादन, संचय, वितरण तथा उपभोग का नियम करते हैं, जो मनुष्यों के लिये आवश्यक तथा उपयोगी होती हैं तथा जिनका विनिमय मूल्य होता है।

नासो विलियम सीनियर (१७९०-१८६४ ई०) ने अपनी 'एन आउट लाइन आफ दी सायन्स आफ पोलिटिकल इकानामी' नामक पुस्तक में अर्थशास्त्र की परिभाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा था : "राजनीतिक अर्थशास्त्री के अध्ययन का विषय...सुख नहीं है, बल्कि धन है। उसके आधार वाक्य उन कुछ थोड़े से सामान्य तर्क वाक्यों पर, जो स्वयं निरीक्षणों अथवा चेतना का परिणाम होते हैं तथा जिनको सिद्ध करने अथवा जिनका औपचारिक वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, आधारित होते हैं...उसके आगमनात्मक अनुमान भी लगभग उतने ही सामान्य तथा अचूक होते हैं।" सीनियर ने अर्थशास्त्र के विषय क्षेत्र को बहुत सीमित करके इसे आमूर्त तथा निगमन विज्ञान बना दिया था। १८४४ ई० में प्रकाशित अपनी, 'एसेज़ आन अनसेटल्ड क्वेश्चन आन पोलिटकल इकानामी' नामक पुस्तक में जान स्टुअर्ट मिल ने अर्थशास्त्र की परिभाषा की व्याख्या करते हुए लिखा था कि "यह वह विज्ञान है, जो उन सामाजिक घटनाओं को परिचालित करने वाले नियमों का अध्ययन करता है, जो मनुष्य जाति के धन का उत्पादन करने के सम्बन्ध में विद्यमान होती है तथा किसी अन्य लक्ष्य से प्रभावित नहीं होती।"

अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का यह दृढ़ विश्वास था कि समाज में वे सभी आर्थिक क्रियायें, जो व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना से प्रेरित होती हैं, समाज के लिये भी हितकारी होती हैं।

एडमस्मिथ के अनुसार धन सेवाओं और वस्तुओं का योग था। इस संबंध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए स्मिथ ने लिखा था "प्रत्येक व्यक्ति आवश्यकताओं, सुविधाओं तथा मनोरंजन की वस्तुओं के उपभोग की मात्रा के अनुसार धनी अथवा दरिद्र होता है। अधिक वस्तुओं का उपभोग करने वाला व्यक्ति धनी तथा कम वस्तुओं का उपभोग करने वाला व्यक्ति दरिद्र होता है।"

कारलाइल ने अर्थशास्त्र की कड़ी आलोचना करते हुए उसे 'कुबेर की विद्या' का नाम दिया था। रस्किन का कहना था, "मानवजाति के अधिकांश व्यक्तियों के मस्तिष्क में समय-समय पर, जो बहुत से भ्रम रहे हैं, उनमें से सम्भवतः सबसे अधिक अनोखा तथा सबसे कम विश्वसनीय राजनीतिक अर्थशास्त्र विज्ञान ही है।"

उपर्युक्त अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त प्रो० मार्शल अर्थशास्त्र को मानव जीवन की दशाओं को सुधारने का साधन मानते हैं। उनके अनुसार "राजनीतिक अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय में मानव जाति का अध्ययन है। यह व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओं के उस भाग का परीक्षण करता है, जिसका विशेष सम्बन्ध जीवन में कल्याण अथवा सुख से सम्बद्ध भौतिक पदार्थों की प्राप्ति तथा उपभोग से है।"

इन सभी अर्थशास्त्रियों की परिभाषाएँ अपने-अपने विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिफल है। यदि इन परिभाषाओं के मूल रूप को देखा जाय तो पता चलेगा कि यह उसी धन से सम्बद्ध है जिसका भारतीय विचारकों ने अनेक रूपों में चर्चा की है। समय और परिस्थितियों के अनुसार विचारों में कुछ परिवर्तन होता अवश्य दिखाई पड़ता है। प्रागैतिहासिक काल के प्राप्त चिह्नों के आधार पर भी तत्कालीन आर्थिक विचारों का पता चलता है। वैदिक काल में तो विचारकों ने धन एवं अर्थशास्त्र के विभिन्न विचारों की नींव ही डाल दी थी। उस समय के आर्थिक विचारक धन में वृद्धि करने, कृषि को फलवती तथा अधिक उपजाऊ करने के लिये इन्द्र तथा वरुण की उपासना करने का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार से ये विचार उत्तरोत्तर परिपक्व होते गये।

भारतीय आचार्यों-आचार्य कामन्दक, कौटिल्य, शुक्र, मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने अर्थशास्त्र की विस्तृत अर्थ रखने वाली परिभाषायें दी हैं जिनकी तुलना में पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों का अस्तित्व ही शून्य हो जाता है।

अध्याय १

प्रागैतिहासिक काल

अध्याय १

प्रागैतिहासिक काल

इतिहासकारों ने प्रागैतिहासिक मानव सभ्यता के विकास का अनुशीलन और अध्ययन करने के लिये उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर प्रस्तर, कांस्य तथा लौह आदि अनेक स्तरों एवं अवस्थाओं में उसे विभक्त किया है। प्रागैतिहासिक मानव ने अपने जीविकोपार्जन के साधन अन्न, जल, वस्त्र तथा आश्रय स्थान आदि के लिये प्रकृति से संघर्ष किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने जितने साधनों का उपयोग किया, जितने व्यक्ति संघटित हुए, उन व्यक्तियों की जो योग्यता, कार्य-क्षमता आदि थी, वे सब मिलकर उस युग की उत्पादन-शक्तियाँ कहलायीं। उत्पादन की वे शक्तियाँ समाज की आवश्यकता और क्रियाशीलता के अनुसार सदा ही बदलती रहती हैं।

प्रागैतिहासिक काल को तीन भागों में विभक्त किया गया है—पूर्वपाषाण काल, उत्तर पाषाण काल तथा ताम्र काल। इन प्रत्येक कालों के मानवों के आर्थिक विचारों में भी थोड़ी-थोड़ी भिन्नतायें रही हैं।

प्रथम काल में केवल यही कहा जा सकता है कि लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कृषि, कला एवं उद्योग आदि का कोई ज्ञान न था।[१]

द्वितीय (उत्तर पाषाण) काल में लोगों की कार्यप्रणाली केवल अपने तक ही सीमित नहीं रही, अपितु आवश्यकताओं की पूर्ति का सामूहिक प्रयास होने लगा था।

---

1. "He does not know how to pasture cattle, he does not know agriculture or manufactures...He knows no private property in land and little division of labour. He was ignorant of any metal and even of pottery."

—S. K. Das, Economic History of Ancient India, P. 1.

पत्थर के औजारों तथा कृषि ज्ञान के अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तनों के निर्माण से सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने लगी थी। क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु के निर्माण की भावना तभी रखता है, जब कि वह वस्तु समाज के लिये उपयोगी हो। इस काल में पशुधन का विशेष रूप से महत्व था। समाज की उन्नति के लिये अनेक प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन का आधार पशुधन ही था।

तृतीय (ताम्र) काल प्रागैतिहासिक काल का वह समय था, जब लोगों को विभिन्न धातुओं का ज्ञान हो चुका था और वे पत्थरों तक ही सीमित न रहकर आर्थिक उन्नति के लिये विभिन्न प्रकार की धातुओं का भी प्रयोग करते थे। इसके साथ ही-साथ व्यापारिक क्रियाओं का भी आरम्भ हो गया था। इस युग में धातुओं अथवा बहुमूल्य पत्थरों अथवा मोतियों का अन्वेषण कर उनका उपयोग आर्थिक दृष्टिकोण से किया जाता था। विशेषतः मन्दिरों तथा मकबरों के निर्माण में इनका प्रयोग मिलता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक विकास का प्रथम चरण पूरी तरह से विकास की ओर अग्रसर था।

सबसे पहले मनुष्य जब संघटनों की ओर प्रवृत्त होकर अपने सामाजिक जीवन का निर्माण करने में अग्रसर हो रहा था, उसका परिचय इतिहासकारों ने वन्य मानव के रूप में प्राप्त किया। कंद-मूल फल ही उसके आहार थे। उसने पत्थरों के औजार तैयार किये। रगड़ से वह आग भी पैदा कर चुका था, धनुष बाण का भी आविष्कार हो चुका था। मानव जंगलों से गाँवों में बसने लग गया था और टोकरियाँ तथा अस्त्र-शस्त्र बनाना भी उसने सीख लिया था।

मानव की दूसरी अवस्था बर्बर युग के नाम से कही गई। इस युग में मिट्टी के बर्तन आदि बनाने की कला अधिक विकसित हो चुकी थी। पशुपालन तथा पौधों को उगाना इस युग की प्रमुख विशेषताओं में से हैं। मकान बनाने के लिये ईंटों और पत्थरों का प्रयोग भी इस युग में होने लगा था। भोजन के लिये माँस तथा दूध उपलब्ध था। आलेखन कला का जन्म भी इसी युग में हुआ।

---

1. "Ancient miners in search of metals or precious stones, or in other cases, pearl-fishers had in every case established camps to exploit these varied sources of wealth and the megalithic monuments represent their tombs and temples."
—Prof. Elliot Smith, Manchester Memoirs, Vol. 6, Part I. 1915; P. 29 of Reprint.

सभ्यता के तीसरे युग में पहुँच कर मनुष्य सारी वन्य तथा बर्बर प्रवृत्तियों को छोड़कर श्रम के विभाजन तथा उत्पादन की दिशा में अधिक उन्नति करने लगा था। इस युग में क्रमशः विनिमय एवं उत्पादन की नई शक्तियों ने वर्ग भेद, शोषण, क्षमता, दासता-विरोध और निजी सम्पत्ति को जन्म दिया, जिससे सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का रूप निखरने लगा।

अग्नि की उत्पत्ति—आदियुगीन मानव के सामने प्राथमिक समस्यायें भोजन, निवास, आग और आत्म-रक्षा की थीं। आदि युग में जब मनुष्य नितान्त जंगली अवस्था में था, उसको कई कारणों से जैसे भोजन, रोग तथा शत्रुओं के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकना पड़ा। प्रकृति के विरोध में आत्म-रक्षा के लिये उसने निरन्तर संघर्ष किया। धीरे-धीरे उसने आग का पता लगाया, जिसका श्रेय महर्षि अंगिरस को दिया जाता है।[१] आग का पता लग जाने से तत्कालीन जन-जीवन में महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। उसको प्राकृतिक शक्ति के रूप में देखा जाने लगा। एक ओर तो उसका उपयोग पशुओं तथा मछलियों के मांस को भुनने में किया जा रहा था और दूसरी ओर उसको शत्रुबाधा को दूर करने तथा भूत-प्रेतादि को भगाने वाली महान् शक्ति के रूप में भी पूजा जाने लगा।[२] धीरे-धीरे मनुष्य ने समझा कि ये पशु दूध देते हैं, इनका मांस खाकर जीवित रहा जा सकता है, इनकी हड्डियों तथा उनके सींगों से औज़ार भी बनाये जा सकते हैं।

अग्नि की सहायता से मनुष्य की उन्नति का एक दूसरा रूप सामने आया। जब उसको यह ज्ञात हुआ कि अग्नि के द्वारा कच्चे लोहे को पिघला कर बड़े-बड़े असंभव कार्य भी संभव हो सकते हैं, तो समाज का ढाँचा ही बदल गया। किन्तु मनुष्य की यह सूझ बहुत बाद की है। वन्य युग से बर्बर युग में पहुँच कर अर्थात् आदि युग के आविष्कारों का विकास कर उसने अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर ली। उसने अपने यायावरीय जीवन को समाप्त कर बस्तियाँ बसायीं, उसने अनियमित भोजन की व्यवस्था को नियमित बनाया। वस्त्रों के द्वारा उसने अपनी नग्नता को

---

१. त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वने वने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः

ऋग्वेद—म० ५ । सू ११ म० ६

२. विपाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषोरक्षसो अमीवाः।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ॥

ऋग्वेद, ३-१५-१

ढाँका। इस प्रकार की विकासावस्था में पहुँचकर उसने उत्पादन की नयी प्रणाली सामाजिक संगठन के नये तरीकों और कला के नवीन स्वरूपों को जन्म दिया।

आरम्भिक उद्योग—प्रागैतिहासिक काल के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय काल की अवस्थाओं में भी उद्योग विद्यमान थे।[1] औजारों की बनावट से पता चलता है कि कुशल तथा अकुशल श्रमिकों का भी विभाजन हो चुका था। बाद के इतिहास में यही उद्योग काफी विकसित हो गये और क्रमागत औद्योगिक विकास से पता चलता है कि लोगों में औद्योगिक बढ़ावा देने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। प्रत्येक औजार की बनावट से पता चलता है कि उनका निर्माण विभिन्न उपयोगों के लिये हुआ करता था।

---

1. Unlike the presoan tools, the early Soan tools are made from varieties of fine grained quartzite as well as fine smooth greenish grey Panjal trap.

Patination and the State of wear divide these tools into three groups, which may be called A. B. C. group. A is the earliest and is heavily patinated deep brown as purple and much rolled. Group B is deeply patinated like A but unworn, and group C is less patinated and fairly fresh.

—R. C. Majumdar, The Vedic Age, P. 124.

अध्याय २

सिन्धु सभ्यता

अध्याय २

सिन्धु सभ्यता

पंजाब के पश्चिमी क्षेत्र मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नामक स्थानों में की गई खुदाई से प्राप्त अवशेष भारत की प्राचीनतम संस्कृति का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। उपर्युक्त दोनों स्थान भारतीय सभ्यता की खोज में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा भारत के प्राचीनतम युग की सभ्यता के पुरातात्विक अवशेष का प्रतिनिधित्व करते है। इन दोनों स्थानों की खुदाई में प्राप्त ध्वंसावशेष मन में एक सहज प्रतीति उत्पन्न करते हैं कि भारत के अन्य भागों में भी ऐसी ही सभ्यता विद्यमान रही होगी।

सिन्धु सभ्यता के विकसित स्वरूप को देखते हुए ऐसा लगता है कि इस सभ्यता को विकास के इस शिखर तक पहुँचने में भी हजारों वर्ष लगे होंगे। तात्कालिक धार्मिक चिह्नों के अध्ययन के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय एक धर्म निरपेक्ष संस्कृति विद्यमान थी। इसी का प्रभाव बाद में आनेवाली भारतीय सभ्यता में भी देखने को मिलता है। इसके सम्बन्ध में जान मार्शल का कहना है कि इस सभ्यता से हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति का अनुमान लगाया जा सकता है।[1]

---

1. "One thing that stands out clear and unmistakable both at Mohanjodaro and Harappa is that the civilisation hitherto revealed at these two places is not an incipient civilization, but one already age old and stereotyped on Indian soil, with many millenniums of human endeavour behind it. Thus India must henceforth be recognized, along with Persia, Mesopotamia and Egypt, as one of the most important areas where the civilizing processes were initiated and developed."

आगे वह फिर कहते हैं, "The Punjab and Sind, if not other parts of India as well were enjoying an advanced and

सिन्धु सभ्यता के लोगों का उस समय की सुमेरियन सभ्यता से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। सिन्धु घाटी की खुदाई में प्राप्त चिह्नों से इस कथन की प्रमाणिकता सिद्ध होती है। विशेषकर व्यापारिक दृष्टि से इनका सम्बन्ध अत्यधिक महत्वपूर्ण था। यह व्यापार केवल कच्चे पदार्थों तथा विलासिता की वस्तुओं तक सीमित नहीं था। अरब सागर से खाद्यान्न की पूर्ति हेतु मछलियों का आयात बराबर होता था।[1] उस समय भी कपास का प्रयोग सूती वस्त्र के निर्माण हेतु किया जाता था। जान मार्शल ने सिन्धु सभ्यता की तुलना मिस्र तथा मेसोपोटामिया की सभ्यता से की है। उनके अनुसार मोहनजोदड़ो में जिस प्रकार के स्नानागारों और विशाल कमरों के प्रमाण मिलते हैं वैसे मिस्र अथवा मेसोपोटामिया में नहीं मिलते। इन देशों में बहुत सा धन और विचार व्यय करके देवताओं के लिए मन्दिर तथा राजाओं के लिए महल और मकबरे बनवाए गए थे। परन्तु सामान्य-जन को कच्चे मकानों में ही रहना पड़ता था। मगर सिन्धु घाटी में, इसके विपरीत, सुन्दर से सुन्दर मकानों और इमारतों का निर्माण जन साधारण के लिये हुआ था।[2]

---

singularly uniform civilisation of their own, closely akin, but in some respects even superior, to that of contemporary Mesopotamia and Egypt."

—Quoted by Jawahar Lal Nehru 'The Discovery of India', page 58.

1. "These people of the Indus Valley had many contacts with the Sumarian civilization of that period, and there is even some evidence of an Indian colony, probably of merchants at Akkad. Manufactures from the Indus cities reached even the markets on the Tigris and Euphrates. Conversely, a few Sumerian devices in art, Mesopotamia toilet sets and cylinder seal were copied on the Indus. There trade was not confined to raw materials and luxury articles; fish, regularly imported from the Arabian sea coasts, augmented the food supplies of Mohenjodaro."

—Gordon Childe, What happened in History, p. 112 (Pelican Books, 1943).

2. "Thus to mention only a few salient points, the use of cotton textiles was exclusively restricted at this period to

जान मार्शल एक अन्य स्थान पर सिन्धु सभ्यता की कला की विशिष्टता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि इस सभ्यता में भेड़ों, कुत्तों, बैलों तथा सिक्कों की जैसी विशिष्ट कलात्मक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं, वैसी अन्यत्र दुर्लभ हैं।[1]

India and was not extended to the western world until 2,000 or 3,000 years later. Again there is nothing that we know of prehistoric Egypt or Mesopotamia or anywhere else in western Asia to compare with the well built baths and commodious houses of the citizens of Mohenjodaro. In these countries much money and thought were lavished on the building of magnificent temples for the gods and on the palaces and tombs of Kings, but the rest of the people seemingly had to content themselves with insignificant dwelling of mud. In the Indus valley the picture is reversed and the finest structures are those erected for the convenience of the citizen."

—Quoted by Jawahar Lal Nehru, 'The Discovery of India', p. 58-59.

1. "Equally peculiar to the Indus valley and stamped with an individual character of their own, are its art and its religion. Nothing that we know of in other countries at this period bears any resemblance, in point of style, to the faience models of rams, dogs and other animals, or to the intaglic engravings on the seals, the best of which, notably the humped and shorthorn bulls are distinguished by a breadth of treatment and a feeling for a line and plastic form that have rarely been surpassed in glyptic art; nor would it be possible, until the classic age of Greece, to match the exquisitely supple-modelling of the two human statuettes from Harappa......In the religion of the Indus people there is much, of course that might be paralleled in other countries."

—Quoted by Jawahar Lal Nehru, 'The Discovery of India', p. 59.

इसके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस सिन्धु सभ्यता का व्यापारिक सम्बन्ध फारस, मेसोपोटामिया तथा मिस्र की सभ्यता से था और यह सभ्यता उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ थी। इसे नागर-सभ्यता कहा जा सकता है, क्योंकि नागरिक व्यापारियों की इस सभ्यता के विस्तार में अवश्य ही एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है और वे अन्य वर्गों की अपेक्षा धनी थे। उनके नगरों की गलियाँ, सड़कें तथा दुकानें आधुनिक भारतीय बाजारों की आरम्भिक रूपरेखा प्रस्तुत करती है। प्रो० गोर्डन चाइल्ड का मत है कि इस समय के किसान अत्यधिक उत्पादन करते थे, और उसके क्रय-विक्रय का सम्बन्ध बाजारों से था। इतना अवश्य है कि तत्कालीन विनिमय तथा मुद्रा के स्वरूप के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय प्रभावशाली नगरपालिका की व्यवस्था थी जो नगर नियोजन, सड़कों तथा गलियों आदि के नियमों का पालन करा सकती थी।[1]

सिन्धु सभ्यता के लोग तथा आर्य

पूर्व के संक्षिप्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता का भारतीय इतिहास के क्रम में अपना एक विशिष्ट स्थान है। इसे यदि आर्यों की सभ्यता का प्रेरणा स्रोत कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि बाहर से आने वाले आर्यों ने विलीन हुई सिन्धु सभ्यता को एक नये सिरे से जन्म दिया। उनकी संस्कृति के परस्पर मेल के साथ-साथ उनके विचारों में भी सामंजस्य हुआ। प्रायः

---

1. "It would seem to follow that the craftsmen of Indus cities were, to a large extent, producing 'for the market'. What, if any, form of currency and standard of value had been accepted by society to facilitate the exchange of commodities is, however, uncertain......Childe adds that 'well-planned streets and a magnificent system of drains, regularly cleared out, reflect the vigilance of some regular municipal government. Its authority was strong enough to secure the observance of town-planning bye-laws and the maintenance of approved lines for streets and lanes over several reconstructions rendered necessary by floods.

—Gordon Childe, 'What happened in History', p. 113-114.

भारतीय इतिहासकार सिन्धु सभ्यता की खोज के पूर्व वैदिक सभ्यता को ही सबसे प्राचीन सभ्यता मानते थे किन्तु इस सभ्यता की खोज के बाद भारतीय इतिहास का एक नया पृष्ठ खुला।[१]

रहन-सहन का स्तर—सामाजिक रहन-सहन का स्तर तत्कालीन आर्थिक प्रगति पर निर्भर करता है। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा आदि स्थानों में की गई खुदाई से प्राप्त नगरों के ध्वंसावशेषों से पता चलता है कि मकानों का निर्माण इस दृष्टिकोण से किया जाता था ताकि धन को अच्छी तरह से सुरक्षित रखा जा सके। मूल्यवान आभूषणों तथा खान-पान पहनावा की वस्तुओं से पता चलता है कि यद्यपि लोगों का जीवन बहुत सादा था, किन्तु सम्पत्ति की कमी नहीं थी। सिन्धु सभ्यता के समय भू-स्वामित्व का भी स्वरूप स्थापित हो चुका था और लोगों को उत्पादन के बदले उसका कुछ भाग भू-स्वामियों को देना पड़ता था।[२]

कृषि—सिन्धु सभ्यता में कृषि ही एक प्रमुख उद्योग रहा है। लोग गेहूँ, चना और जौ जैसी खाद्य वस्तुओं का उत्पादन करते थे। यद्यपि समाज एवं विचार दोनों में प्रौढ़ता नहीं आई थी, किन्तु लोग उत्पादन वृद्धि के लिये सतत् प्रयत्नशील रहते थे। फसलों को उगाने में पानी एवं अनुकूल वातावरण तथा वायुमण्डल की आवश्यकता होती है, इसका भी उन्हें भली-भाँति ज्ञान था।[3] अनेक व्यक्तियों,

---

1. "Before the discovery of the Indus valley civilization, the Vedas were supposed to be the earliest records, we possess of Indian culture. There was much dispute about the chronology of the Vedic period, European Scholars usually giving later dates and Indian scholars much earlier ones."
—Jawahar Lal Nehru, The Discovery of India, p. 65.

2. "Was this lack of ornamentation in houses due to simplicity of castes ? or, did the owners deliberately avoid outward marks of possessing wealth to escape the burden of extra taxes ?
—R. S. Tripathi, History of Ancient India, p. 17.

3. "Man also is influenced by the climate and configuration of his habitat, his food supply, which depends on the climate and social influence on him directly and regulates

परिवारों का समूह एक स्थान पर रह कर खेती करते रहे। इससे स्पष्ट होता है कि उनमें सामूहिक तौर पर रहने व कृषि का विचार विकसित हो चुका था। मोहन-जोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में पाई गई अत्यन्त विकसित सभ्यता इस बात का प्रमाण है कि यदि लोगों में आर्थिक विचार विकसित न होते तो कृषि उत्पादन और नगर जीवन पर आधारित सिन्धु सभ्यता का विकास ही कैसे सम्भव होता।[१]

पशुपालन—उस समय के लोगों का कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी प्रमुख धंधा था। इसकी वृद्धि के लिये वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। खुदाई करने पर बैल, भेड़, सुअर, भैंसा, ऊँट, हाथी, कुत्ता, घोड़ा, बन्दर तथा अन्य जन्तु चीता, भालू आदि की हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। इससे आसानी से अनुमान लगा लिया जाता है कि इन सभी पशुओं का सम्बन्ध तत्कालीन लोगों के आर्थिक जीवन से रहा है। कुछ पशु लोगों के लिये अधिक उपयोगी रहे हैं, तो कुछ को शौकीन लोग पालते थे। गाय, बैल, भैंस आदि से उन्हें घी, दूध, मक्खन की प्राप्ति होती थी। अतएव लोगों के लिये उनका पालना अधिक श्रेयस्कर था। घोड़ा, हाथी आदि जानवरों का प्रयोग व्यापारिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण रहा है। इससे स्पष्ट है कि समाज के लोगों ने पशुधन के उत्पादन तथा उसके उपभोग आदि से सम्बन्वित विचारों को प्रधानता दी थी, क्योंकि जीवन की अधिकांश आर्थिक क्रियाओं का संचालन उपर्युक्त धन पर ही निर्भर करता था।[२]

पत्थर व धातु सम्बन्धी ज्ञान—कृषि के उत्पादन हेतु तत्कालीन लोग

---

his efforts more than climate influences his capacity for labour."

—N. C. Bandopadhyaya, Economic life and Progress in Ancient India, p. 6.

1. "Only a country capable of producing food on a large scale and the presence of the river sufficiently large to facilitate transport, irrigation and trade, can give rise to cities of this size."

—R. C. Majumdar, Vedic Age, p. 174.

2. "Animals were both domesticated and wild. Actual skeletal remains of the Indian humped bull, the buffalo, the sheep, the elephant, the pig and camel have been recovered." —R. C. Majumdar, Vedic Age, p. 174.

अनेक प्रकार के औजारों का प्रयोग करते थे।[1] लोहे आदि की धातुओं का प्रयोग वे औजार बना कर कृषि कार्य में करते थे। दूसरी ओर सोना, चाँदी, ताँबा तथा सीसा आदि का उपयोग आभूषण बनाने अथवा व्यापार करने में किया करते थे। आभूषणों के निर्माण की कला अत्यन्त विकसित थी। उनके आर्थिक एवं सामाजिक विचार इतने विकसित और प्रौढ़ थे कि तत्कालीन समाज को सभ्य समाज कहा जा सकता है।

वे अधिकांश वस्तुओं का निर्माण व्यापारिक दृष्टिकोण से करते थे। समाज में विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने वाले विद्यमान थे। इसी कारण उनका नाम कर्म के आधार पर रखा गया। बढ़ई, सोनार, चर्मकार, शिल्पकार आदि विभिन्न श्रेणी के लोग अपनी आर्थिक क्रियाओं को सम्पादित करते थे। लोहे की बनी वस्तुओं के अभाव से ज्ञात होता है कि इस धातु का आविष्कार उस समय नहीं हुआ था। इस सामाजिक निर्माण व्यवस्था से ज्ञात होता है कि परस्पर वस्तुओं का विनिमय हुआ करता था। अभावग्रस्त लोग वस्तुओं को क्रय करते थे और इस प्रकार अपनी आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करते थे।

श्रम विभाजन—इस युग में ही लोगों ने श्रम को विभाजित कर कार्य को आसानी से करने की विद्या समझ ली थी। यही कारण था कि सभी लोगों को योद्धा, व्यापारी, कलाकार, श्रमिक आदि चार भागों में विभक्त कर दिया गया था। इस प्रकार के श्रम-विभाजन द्वारा प्रत्येक को कुशलता, अकुशलता तथा उत्पादन क्षमता अथवा अक्षमता का भी पता लग जाता था। यही वर्गीकरण आगे वैदिक काल में चल कर चार वर्णों के नाम से प्रसिद्ध हो गया।[2]

---

1. "Copper and bronze seem to have superseded stone as material for household implements and utensils, mostly, however they were earthenware."

—R. S. Tripathi, History of Ancient Indus. p. 19.

2. "The remains unearthed at Mohenjodaro demonstrate the existence of different sections of people who many be grouped into four main classes. The learned classes, warriors, traders and artisans and finally manual labours, corresponding roughly to the four Varnas of the vedic period." —R. C. Majumdar, The Vedic Age, p. 179.

उत्पादन एवं उपभोग का महत्व—प्राचीन काल में उत्पादन तथा उपभोग दोनों का उतना ही महत्व था जितना कि आज है। मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। यही कारण है कि जैसे जैसे मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ती गईं और लोगों की विचारों में दृढ़ता आती गई, वैसे वैसे लोग वस्तुओं का उत्पादन करते गये। जैसे जैसे लोग सभ्य होते गये वैसे वैसे शरीर ढँकने के लिये वस्त्र, भोजन के लिये अन्न आदि की पूर्ति के लिये प्रयत्न करना पड़ा। उस काल में लोग अपनी इच्छाओं को इतना अधिक सीमित रखते थे कि किसी वस्तु की माँग एवं पूर्ति में कोई विशेष अन्तर न होता था।[1] तत्कालीन लोग विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में अधिक प्रयत्नशील थे। उन्हें इस बात का पूरा ज्ञान था कि बिना उत्पादन के सामाजिक विकास सम्भव नहीं है।

वितरण तथा विनिमय—लोगों को प्रारम्भ में सम्भवतः धन के वितरण का कोई ज्ञान ही नहीं था। केवल अपनी उदर-पूर्ति के लिए लोग धनधान्य उत्पादन करते थे किन्तु उत्पादन में वृद्धि के साथ साथ धन का वितरण करने की आवश्यकता पड़ी। विभिन्न उद्योग-धंधों के खुलने के कारण परस्पर विनिमय की प्रक्रियायें भी प्रारम्भ हुईं। उस समय अन्न का उत्पादन, पशुपालन, बर्तन बनाना आदि ही प्रमुख आय के साधन थे। जिन लोगों का व्यवसाय अधिक बढ़ गया था वे सामाजिक पूर्ति के लिये अन्न तथा वस्तुओं आदि का आदान-प्रदान एक दूसरे से करते थे। इस प्रकार धन के वितरण, आदान-प्रदान और व्यवसाय का ज्ञान लोगों को हो गया। धीरे-धीरे दूसरे देशों के साथ भी व्यापार वाणिज्य का सम्बन्ध स्थापित हो गया।[2]

---

1. "Production was usually subordinated to consumption paid more heed to the real and fundamental needs of man rather than his changing...fancies. Wants were kept with-indefinite bounds and the ceaseless multiplication of wants was not considered be—all and the end—all of a civilisation."

   —M. A. Buch, Economic Life in Ancient Indian System Survey, p. 7.

2. Trade consists in exchanging or selling of agricultural and mineral raw materials and of industrial products or manufactured goods. Commerce is the interchange of merchandise on a large scale between nations, countries, or individuals especially at long distance.

   —Mahamahopadhyaya Dr. Prasanna Kumar, Glories of India—On Indian Culture and Civilization, p. 91

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—तत्कालीन व्यापारिक दृष्टि से वे अन्य देशों से भी अपना सम्पर्क रखते थे। अपने देश की बड़ी वस्तुओं को विदेशों में निर्यात करना तथा विदेशी वस्तुओं को आयात करने की भी प्रणाली विद्यमान थी।[1] दूसरे देशों से व्यापार करने का साधन समुद्री मार्ग भी था। जल मार्ग के द्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान को वस्तुएँ ले जाई जाती थीं। विभिन्न प्रकार की धातुओं तथा बहु-मूल्य पत्थरों की बनी हुई वस्तुओं का नियमित व्यापार किया जाता था। समुद्री मार्ग के साथ-साथ स्थल मार्गों का भी विवरण प्राप्त होता है।[2]

माप प्रणाली—विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को मापने के लिये निर्धारित बाँटों का निर्माण लोगों द्वारा किया जा चुका था।[3] वे निश्चय ही किसी वस्तु के क्रय-विक्रय के उन बाटों का प्रयोग अवश्य करते थे। आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु नाना प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था और जरूरतमन्द लोगों के हाथ बेच दिया जाता था। एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के लिसे आवागमन के साधन भी विद्यमान थे। लोग बैलगाड़ियों का भी प्रयोग करते थे।[4]

---

1. "The people of Mohenjodaro maintained close contact with the outside world for the import of various metals, precious stones and other. The Indus Valley had connections with southern and eastern articles India, Kashmir, Mysore and Nilgiri hills, as also with countries immediately to the West and Central Asia.
—R. C. Majumdar, The Vedic Age, p. 179.

2. "Though Stein's researches clearly show that the population of Baluchistan was far greater than it is now and that various land routes through Baluchistan were extensively used in ancient times for trade purpose. It appears probable that the Indus valley people also used sea routes despite lack of corroborative evidence."
—Ibid., p. 197.

3. "Weights have been found in large numbers and range from large specimens which had to be lifted with a rope to very small ones used by jewellers."
—R. C. Majumdar, The Vedic Age, p. 177.

4. "Bullock carts were the chief means of conveyance. In addition to models of carts found at Mohenjodaro similar

माँग तथा पूर्ति का नियम—प्राचीन काल में भी प्रत्येक वस्तु की माँग एवं पूर्ति का सिद्धान्त समाज को प्रभावित करता था। आजकल की भाँति उस समय भी माँग और पूर्ति एक-दूसरे पर निर्भर करती रही है।[1] यद्यपि उत्पादन सम्बन्धी नियमों का इतना अधिक ज्ञान लोगों को न था, कि समाज की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके, फिर भी अधिकतम कल्याण की भावना से विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन कर समाज की पूर्ति की जाती थी।

सिक्के तथा उनके उपयोग—सिन्धु घाटी की सभ्यता में प्राप्त सिक्कों से इस बात का पता चलता है कि उस समय सिक्कों का प्रचलन था और विनिमय तथा व्यापार के लिये उनका प्रयोग किया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि लोग वाणिज्य व्यवसाय में विनिमय के माध्यम के रूप में सिक्कों का प्रयोग करते रहे हैं।[2]

विभिन्न उद्योग तथा व्यापार—मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से यह भी पता चलता है कि लोगों के घरों में और बाजार में सूती उद्योग की व्यवस्था थी और लोग सूत कातकर अपने वस्त्रों का भी निर्माण करते थे। इतना ही नहीं इसका उपयोग वे व्यापार के रूप में कर अपनी आर्थिक क्रियाओं को सफल

---

to the form carts in common use at present in Sind and the Punjab, a copper specimen has been found at Harrappa which looks like an Ekka of the present day with a canopy for protection from the Sun and rain."

—Ibid., p. 177.

1. "The Law of demand and supply was operative then as now, yet its unchecked operation was not allowed to prevail."

—M. A. Buch, Economic Life in Ancient India, A Systematic Survey, p. 7.

2. "We may also note here that there are not one or two but many prehistoric symbols to be found as the Punch marked coins." (C. C. J. B. O. R. S. 1920, p. 400)

Prof. Eliot says that these punch coins have been discovered along the ashes of the men who constructed the primitive camps known as Pandukulis of the South and earthed from the ruins of buried cities in excavating the head waters of the Ganga Canal, (INO. CSI. 45).

बनाते थे। अधिकांश लोग परावलम्बी न रहकर स्वयं के द्वारा निर्माण की गई वस्तुओं का ही प्रयोग करते थे। धनी वर्ग के लोग सूती तथा ऊनी उद्योगों को व्यवस्थापित करते और निम्न श्रेणी के लोग मिट्टी के बर्तन आदि का निर्माण कर अपना जीविकोपार्जन चलाते थे। इससे स्पष्ट है कि लोगों को उत्पादन लागत तथा श्रम, मजदूरी आदि का ज्ञान था और वे इन सबका बँटवारा कर अधिकतम लाभ की कामना रखते थे। विभिन्न कलात्मक वस्तुएँ इस बात का प्रतीक हैं कि तत्कालीन लोग औद्योगिक उन्नति का भरपूर प्रयास करते रहे हैं। उनका रहन सहन का स्तर आज की अपेक्षा संतुलित एवं श्रेष्ठ रहा। कपास की कताई-बुनाई भी तत्कालीन व्यापार का अंग था।[1]

प्राचीन भारत में व्यापार के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी होता था। सिन्धु घाटी की सभ्यता में प्राप्त कतिपय विदेशी एवं देशी मुद्रायें इस बात को स्पष्ट करती हैं कि समाज में मुद्रा का प्रचलन था और दूसरे देशों से भी व्यापार हुआ करता था। उत्पादन केवल प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही नहीं किया जाता था बल्कि उसे विनिमय का माध्यम भी बनाया जाता था। इस प्रकार प्राचीन भारत में व्यापार की सामान्य दृष्टि प्राप्त होती है।

---

1. "From thc discovery of many spindle whores in the houses in the Indus Valley it is evident that spinning of cotton and wool was very common."

—R. C. Majumdar, The Vedic Age, p. 181.

अध्याय ३

वैदिकयुगीन आर्थिक विचार

अध्याय ३

वैदिकयुगीन आर्थिक विचार

सामान्य परिचय

भारतीय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक जीवन का प्राचीनतम एवं सबसे अधिक महत्वशाली और प्रामाणिक स्रोत ऋग्वेद संहिता है, जो हमें उसकी शाकल शाखा में मिलती है। आरम्भ में यह मौखिक परम्परा में प्रचलित थी जबकि इसे लिपिबद्ध करना इसकी पवित्रता को नष्ट कर देना माना जाता था। परन्तु कालान्तर में इसे लिपिबद्ध कर दिया गया। यह संहिता आज भी अपने मौलिक शुद्ध रूप में विराजमान है। इसके अन्दर ही इसकी मौलिकता का साक्ष्य मिल जाता है। इसके मौलिक पाठ की जाँच में यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं के और सामवेद एवं अथर्ववेद के मन्त्र कसौटी का काम देते हैं, क्योंकि प्रायः ये सभी मन्त्र ऋग्वेद ही की देन हैं।

संक्षेप में वेद भारतीय साहित्य का वह प्रथम उन्मेष है, जिसमें समस्त ज्ञान का भाण्डागार एवं समस्त विद्याओं का मूलभूत बीज निहित है। ज्ञानार्थक विद् धातु से निष्पन्न वेद शब्द अपने में समाविष्ट विषय का परिचय एवं परिभाषा स्वयं अपने में सँजोये हुये है। कोई भी इस प्रकार का ज्ञेय नहीं है, जिसका मूल बीज वेद में उपलब्ध नहीं होता।

वेदों को सामान्यतया दो भागों में विभक्त किया गया है—मंत्र तथा ब्राह्मण। यज्ञ प्रधान भारतीय विचार-परम्परा में यह विभाजन बहुत ही उपयुक्त एवं वैज्ञानिक है। ब्राह्मण भाग में वेद मन्त्रों के प्रत्येक शब्द की उपादेयता एवं उसके विभिन्न व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की व्याख्या विवेचनापूर्ण ढंग से की गई है। ये दोनों भाग एक-दूसरे के पूरक है। इसीलिए तो वेद की परिभाषा करते हुए कहा गया है, 'मन्त्र ब्राह्मणात्मकं वेदः' मन्त्रों एवं ब्राह्मणों के समन्वित शब्द समुदाय को वेद कहते हैं।

वेदों का विभाजन

यज्ञीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्रथमतः वेद को चार भागों में

विभाजित किया गया है, जिन्हें क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के नाम से अभिहित किया जाता है।

भारतीय जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में आवश्यक जीवन यापन की विधि एवं आध्यात्मिक व्यवहार की दृष्टि से प्रत्येक वेद को चार भागों में विभक्त किया गया है जिन्हें क्रमशः (१) संहिता, (२) ब्राह्मण, (३) आरण्यक, (४) उपनिषद के नाम से व्यवहृत किया जाता है।

भारतीय समाज रचना की आधार शिला आश्रम व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी गुरुकुलों में निवास कर विधिपूर्वक संहिताओं का अध्ययन करता था। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के अनन्तर यज्ञों का सम्पादन करने के लिए विधि विधान के ज्ञानार्थ ब्राह्मण भाग की आवश्यकता होती थी। वानप्रस्थाश्रम में गृह त्याग कर पति-पत्नी आश्रमों में वृक्ष मूल का आश्रय लेकर ईश्वर चिन्तन में संलग्न रहते थे। इस ईश्वर चिन्तन के प्रतिष्ठापक भाग को आरण्यक कहते हैं। संन्यास आश्रम में एकाग्रचित्त होकर ब्रह्म के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपादेय वेदों के अन्तिम भाग को उपनिषद् कहते हैं। इसीलिए उपनिषदों पर आधारित दर्शन को वेदान्त दर्शन कहा जाता है। इस प्रकार जीवन की उपादेयता को ध्यान में रखकर चारों वेदों को चार भागों में विभक्त कर दिया गया है।

वेदों की संहिताएँ

(१) ऋग्वेद का संकलन दो रीति से किया गया है—(१) अष्टक अध्याय वर्ग, (२) मण्डल अनुवाक् सूक्त।

(२) यज्ञ विषयक अनुष्ठान में संग्रह भूत यजुर्वेद की दो संहितायें हैं, जिसे (१) कृष्ण यजुर्वेद संहिता अथवा तैत्तरीय संहिता कहते हैं। (२) शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय संहिता के नाम से अभिहित होती है। कृष्ण यजु की चार शाखाएँ हैं जिन्हें क्रमशः (१) तैत्तरीय, (२) मैत्रायणी, (३) काठक, (४) कठकापिष्ठल, इन नामों से अभिहित किया जाता है।

(३) गेय मन्त्रों का संकलनभूत सामवेद संहिता दो भागों में विभाजित है। (१) पूर्वार्चिक, (२) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक को छन्दसिका भी कहा जाता है। इसमें देव स्तुतियों के अनुरूप, (१) आग्नेय पर्व, (२) ऐन्द्र, (३) पावमान, (४) आरण्यक, ये चार पर्व हैं। उत्तरार्चिक में दशरात्र, संवत्सर, ऐकाह, आहिसत्र प्रायश्चित, इन अनुष्ठानों का निर्देश है।

(४) अथर्ववेद संहिता अथर्व ऋषि के द्वारा दृष्ट होने से उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अधिक मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। यज्ञों से इसका सम्बन्ध कम है।

वेदों के ब्राह्मण भाग

सामान्यतया वेदों को संहिता तथा ब्राह्मण इन दो भागों में विभक्त किया गया है। वेद की परिभाषा बताते हुए प्राचीन ऋषियों ने कहा है कि 'मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः' मन्त्रों के समुदाय को ही संहिता कहते हैं और उसकी व्याख्या को ब्राह्मण।

'ब्राह्मण' शब्द की व्याख्या वैसे अनेक प्रकार से की गई है, किन्तु सामान्यतः ब्राह्मण शब्द का अर्थ वे ग्रन्थ हैं जिसका सम्बन्ध ब्रह्म से है। 'बृह्, वर्धन' इस धातु से बने हुए 'ब्रह्म' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य का अर्थ है जो बढ़ाया जाय या बढ़े। यज्ञ से प्रयुक्त वितान शब्द इस अर्थ का समानार्थक ही है। नानार्थक होने के कारण 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ यज्ञ ही है। इस प्रकार ब्राह्मण शब्द का अर्थ हुआ यज्ञ सम्बन्धी विवेचन। दूसरे शब्दों में ब्राह्मण ग्रन्थों से वेद के उस भाग से तात्पर्य है, जिसमें यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों का अर्थ, उनके प्रयोग की विधियां तथा उनकी उत्पत्ति विषयक यज्ञीय वस्तुएँ निहित हों।

ब्राह्मण ग्रन्थों में, (१) ऐतरेय ब्राह्मण, (२) कौषीतक या सांख्यायन ब्राह्मण, (३) ताड्य या पंचविंश ब्राह्मण, (४) तैत्तरीय ब्राह्मण, (५) शतपथ ब्राह्मण, (६) गोपथ ब्राह्मण आदि प्रमुख हैं।

वेदों की उपलब्ध शाखाएँ

ऐसा विश्वास किया जाता है कि महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ कार्य में आवश्यक विधियों की पूर्णता के लिए आवश्यकतानुसार एक ही वेद को ऋक्, यजु, साम, अथर्व—इन चार भागों एवं विविध शाखाओं में विभक्त कर दिया है। इन वेदों की उपलब्ध शाखाएँ निम्न हैं—

(१) ऋग्वेद—इसकी २१ शाखाओं से वर्तमान काल में एक ही शाखा उपलब्ध है, जिसे 'आश्वलायन शाखा' कहते हैं।

(२) यजुर्वेद—इसमें १०१ शाखाओं में से केवल ६ शाखाएँ उपलब्ध हैं, जिसमें ४ कृष्ण यजुर्वेद की और २ शुक्ल यजुर्वेद की है। इन दोनों संहिताओं को मिलाकर चरण व्यूह के अनुसार ८६ तथा महाभाष्यकार पतन्जलि के 'एकशतमध्वर्यु शाखाः' के अनुसार १०१ शाखाएँ रही हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ—(१) वाजसनेयी या माध्यन्दिन शाखा, (२) कण्व शाखा।

कृष्ण यजुर्वेद की ४ शाखाएँ—(१) कठ शाखा, (२) कठकापिष्ठल शाखा, (३) मैत्रायणी शाखा, (४) तैत्तरीय शाखा।

(३) सामवेद—इस वेद की सहस्त्र शाखाओं में से अब तीन ही शाखाएँ मिलती हैं—(१) कौथुमी, (२) रणायनीय, (३) जैमिनीय।

(४) अथर्ववेद—इस वेद की ९ शाखाओं में से केवल पिप्पलाद तथा शौनक ये दो ही शाखाएँ उपलब्ध हैं।

आरण्यक

वेदों की संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्—इस परस्पर सम्बद्ध शृंखला में प्रत्येक एक-दूसरे के पूरक अंग हैं। वर्तमान समय में केवल ८ ही आरण्यक उपलब्ध होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) ऐतरेयारण्यक, (२) सांख्यायन आरण्यक, (३) तैत्तरीयारण्यक, (४) वृहदारण्यक, (५) माध्यन्दिन वृहदारण्यक, (६) काण्व वृहदारण्यक, (७) जैमनीयोपनिषदारण्यक, (८) छान्दोग्यारण्यक:।

उपनिषद्

उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग हैं। इसमें ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार करने के लिए विविध साधन एवं ब्रह्म के स्वरूप का विषद विवेचन है। उपनिषद् शब्द उप-नि-सद् धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है, सांसारिक क्लेशों के विनाशपूर्वक ब्रह्मत्व की प्राप्ति कर आवागमन के बन्धनों से विनिर्मुक्त होना। उपनिषदों की संख्या में विद्वानों का पर्याप्त मतभेद है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उनकी संख्या १०८ है। शंकर आचार्य रामानुज, माध्व आदि ने १० उपनिषदों पर ही अपना भाष्य लिखे हैं। अतः प्रमुख उपनिषद् केवल १० ही है यह कहा जा सकता है। ये निम्नलिखित हैं—

(१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्ड, (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, (८) ऐतरेय, (९) छान्दोग्य और (१०) वृहदारण्यक।

अग्रिम पृष्ठों में उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर ही वैदिक कालीन समाज में अर्थशास्त्रीय चिन्तन का विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

वैदिक सभ्यता

वैदिकयुगीन भारतीय समाज में धन के अर्जन, विभाजन, वितरण और विनिमय की क्या व्यवस्था थी तथा इन शक्तियों, माध्यमों और साधनों का क्या स्वरूप था, इसका विवरण हमें भारत के प्राचीन साहित्य से प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। श्री श्रीपाद अमृत डांगे के अनुसार तो "पूरा वेद साहित्य सिर्फ एक माँग उपस्थित करता है और उस माँग को पूरा करने के लिए धन या अन्न, उस समाज के उत्पादन साधनों और आर्थिक उत्पादन की क्रियाशीलता का द्योतक है, जिसका

सीधा सम्बन्ध प्रजा से जुड़ा है। इन दो प्रश्नों पर वेद-संहिताओं में प्रचुर मात्रा में सामग्री मिलती है।"[1]

यज्ञ की सृष्टि

वैदिक काल के प्रारम्भ में ही अग्नि का आविष्कार हो जाने के बाद यज्ञ की सृष्टि हुई। उस काल में यज्ञ प्रधान कर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, वैदिक काल के अन्त में (उपनिषद काल में) उसका स्थान ब्रह्म ने लिया, और ब्रह्म तथा विश्व को अभिन्न माना गया। वस्तुतः इनके द्वारा भविष्य के लिये आदिम साम्य संघ के आधार का निर्माण हुआ। यज्ञ और ब्रह्म के सम्बन्ध में डांगे का कथन है—"आर्यों के साम्य संघ का नाम ही ब्रह्म है और यज्ञ उस समाज की उत्पादन प्रणाली है। आदिम साम्य संघ और उत्पादन की सामूहिक प्रणाली का यही रूप था। उत्पादन की इस प्रणाली तथा विराट ब्रह्म के स्वरूप अथवा साम्य संघ का ज्ञान वेद है। हिन्दू परम्परा में इतिहास को इसी तरह से क्रमबद्ध किया है और आर्य इतिहास के सबसे प्राचीन युग-आदिम साम्यवाद के युग को समझने के लिये यही एक कुंजी है।"[2]

सत्र यज्ञ में आदिम साम्य संघ के अनेक तत्व समाविष्ट थे। यज्ञ सामूहिक आयोजन के रूप में सम्पन्न होते थे और उसका फल विभाजन भी सामूहिक रूप में हुआ करता था। जब तक प्राचीन आर्य संघों में व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग भेद और शासन सत्ता का जन्म नहीं हुआ था, उनकी सामूहिक उत्पादन प्रणाली का नाम यज्ञ था। इसका समस्त ज्ञान वेदों में सुरक्षित है।

"इस यज्ञ ने आर्यों के साम्यसंघ को समुन्नत, धनवान् और वैभवशाली बना कर उसे नष्ट होने से बचा लिया।.........जब मानव समाज प्रगति के पथ पर और आगे बढ़ा उसने धातुओं को पिघलाना सीखकर हँसिया तथा खुरपी आदि औजार बनाना सीख लिया था, तब भी आर्यों के धार्मिक विधि कर्म अपने पूर्वजों की भाँति देवताओं को प्रसन्न करने के लिये और उन्हीं की भाँति धन प्राप्त करने के लिये, उन पूर्वजों के कार्यों का अनुसरण करते थे। वे उन्हीं के छन्दों को गाते थे।............ प्राचीन काल में यज्ञ एक सामाजिक यथार्थ था। बाद में यह मिथ्या वस्तु हो गयी थी। समाज के उतराधिकारियों में अतीत काल की विचारधारा और उसके व्यवहार के कुछ अवशेष बचे थे। वे उस यज्ञ को विधि रूप में और मन्त्रों के छन्दों को इस

---

१. श्री श्रीपाद अमृत डांगे—भारत—आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक का इतिहास, पृ० ७३।

२. वही, पृ० ७८-७९।

आशामय विश्वास से अपनाए रहे मानो उसके अनुकरण द्वारा धन और आनन्द की उपलब्धि हो सकती है।'[1]

श्रम विभाजन

भोजन बनाना, पशुओं को पालना और बस्ती की निकटतम भूमि में अन्न उपजाना उसका प्रमुख कार्य था। किन्तु ये सब इतने अस्पष्ट प्रमाण हैं कि इनके द्वारा समग्र रूप से क्रम विभाजन की वास्तविक रूपरेखा नहीं समझी जा सकती। वस्तुतः आर्यों का प्राचीन यज्ञ का अनुयायी समाज एक गण-संघटन था। उस संघटन के सभी सदस्य कुटुम्ब एवं रक्त से सम्बन्धित थे। इस प्रकार के प्राथमिक पाँच जन थे—यदु, तुर्वश, दुत्यु, अनु, पुरु।

समान वितरण

जैसे जैसे जनसंख्या बढ़ती गई, वैसे वैसे उत्पादन की आदिम पद्धतियाँ बदलने लगीं। जन टूटने लगे और जहाँ जिसको सुविधा मिली वहीं लोग बसने लगे। जिन स्थानों पर कोई न था वहाँ पर बस्तियाँ बसाई जाने लगीं। और जहाँ पहिले ही से लोग बस चुके थे, वहाँ अधिकार जमाने के लिये युद्ध होने लगे। अधिकार तथा लिप्सा की भावना ने लूटमार और युद्धों की वृद्धि कर दी थी। युद्ध में जब शत्रुओं को बन्दी बनाया जाता था, तो उनमें से कुछ को वीरता, सुन्दरता एवं कलाविद् होने के नाते गण में शामिल कर लिया जाता था। ये पूरी तरह गण के सम्बन्धी तथा सदस्य मान लिये जाते थे। लेकिन उन्हें साम्य संघ की छोटी आर्थिक व्यवस्था में सदैव खपाया नहीं जा सकता था। उन्हें परिश्रम द्वारा अधिक फल की प्राप्ति न होने की संभावना से कभी कभी मार भी दिया जाता था। प्रायः उनको साम्य संघ का शत्रु समझा जाता था और पुरुष मेध की योजना कर उन्हें अग्नि में बलिदान कर दिया जाता था। बाद में उन्हें मारने के स्थान पर अग्नि में घी की आहुति देकर उन्हें छोड़ दिया जाता था या दास बनाकर रख लिया जाता था।[2]

इस प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि ज्यों-ज्यों सामाजिक विकास का क्रम बढ़ता गया, श्रम का मूल्य और महत्व भी बढ़ने लगा। ऐसी दशा में युद्ध बन्दियों को आर्य लोग अग्नि में झोंक देने या मार देने के बजाय उन्हें अपना दास बनाने लगे थे।

---

१. श्री श्रीपाद अमृत डांगे—भारत—आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक का इतिहास, पृ० ८१-८२।

२. श्री वाचस्पति गैरोला—कौटिल्य अर्थशास्त्र की भूमिका, प्रकाशक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।

"व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्ग समाज के उदय होने के साथ-साथ आर्यों के समाज ने शीघ्र ही देखा कि आचार शास्त्र का एक नियम, जो सामूहिकतावादी व्यवस्था में सबके हितों को साधता हुआ भुखमरी से सबकी रक्षा करने और साम्य संघ के हर सदस्य के बीच एक समान वितरण करने की शर्त थी—किस प्रकार अपने विरोधी रूप में प्रकट हुआ। किस तरह वही नियम, उत्पीडन, एकाधिपत्य, थोड़े से शोषकों के वर्ग के पास सम्पत्ति के संचय कराने मे सहायक हुआ और बहुसंख्यक श्रमिकों, दुर्बलों, रोगियों, वृद्धों, दरिद्रों तथा असंख्य गरीब गृहस्थों, नये कलियुग की संस्कृति में दासों और चाकरों के लिये भुखमरी का कारण बन गया।"[1]

वर्ण विभाजन

आर्य जातियों के प्रथम विकासावस्था में उत्पादन कार्य और श्रम की अनेकता के कारण श्रम का विभाजन शुरू हुआ। इसमें साम्य संघ के सदस्यों के बीच भेद पड़ने लगा और फलतः वे अलग-अलग कार्यों को अपना कर वर्गों में विभक्त होने लगे, लेकिन विकास की इस पहली स्थिति में व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना न होने के कारण, उन वर्णों में पारस्परिक विरोध या द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ था। विकास की दूसरी अवस्था में आर्यों के विभिन्न गणों के बीच सम्पर्क और संघर्ष होना आरम्भ हुआ और तभी से अतिरिक्त उत्पादन का विनिमय प्रारम्भ हुआ। इन वर्णों ने अपने को अनेक विरोधी वर्गों में बाँटना प्रारम्भ कर दिया था जिसके फलस्वरूप आदिम साम्य संघ सदा के लिये छिन्न-भिन्न होने लग गया और इनके बीच गृह-युद्ध या वर्ग युद्ध आरम्भ हो गया।

ऐसी स्थिति में उन्नतिशील साम्य संघ को बाध्य होकर युद्ध संचालन और सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों को विशेष रूप से निर्वाचित व्यक्तियों एवं अधिकारियों के हाथ में सौप देना पड़ा। जिन्होंने युद्ध का सचालन और सुरक्षा के अधिकारों को अपने हाथ में ले लिया वे क्षत्री हो गये, और जिन्होंने ऋतुओं का विचार बाढ़ तथा नदियों आदि की गति को जानने का कार्य सम्भाला वे ब्राह्मण कहलाये। बाकी जो लोग बच गये थे, उन्हें 'विश' या सामान्य लोग कहा जाने लगा।

सबसे अधिक संख्या उन लोगों की थी जो पशुपालन, कृषि, दस्तकारी आदि के कार्य करते थे। धीरे-धीरे जब श्रम की सामूहिक स्थिति टूटने लगी तो विनिमय के साधन धन, सम्पति का सर्वाधिकार क्षेत्र—(प्रजापतियों) तथा ब्राह्मण (गणपतियों) के हाथों में संचित होने लगा। इस प्रकार समाज दो प्रमुख भागों में बँट गया। एक ओर तो धन सम्पत्ति वाले क्षत्रिय तथा ब्राह्मण थे और दूसरी ओर परिश्रम करने

---

१. श्री श्रीपाद अमृत डांगे—भारत—आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक का इतिहास, पृष्ठ १४१।

वाले 'विश' तथा अन्य लोग हो गये थे। सारा समाज अमीरी और गरीबी के वर्गों में बँट गया। ऐसे समाज में दास या शूद्रों के लिए कोई स्थान न था। ये दास या शूद्र मूलतः अनार्य थे, जिन्हें युद्ध में बन्दी बनाया जाता था तथा दूसरों के हाथ बेचा जा सकता था। उनका न कोई परिवार था और न कोई देवता।

सर्वहारा वर्ग

यज्ञ फल के उत्पादन का उपयोग पहले सब लोग समान रूप से करते थे। किन्तु बाद में अकेले ब्राह्मण ही उनके स्वामी बन गए। क्षत्रिय सरदारों का भी यही हाल था। केवल 'विश' ही ऐसे थे, जो शूद्रों के साथ मिलकर परिश्रम करने के बाद भी दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते थे। यद्यपि यह निर्धनता वैदिक काल में भी समान रूप से विद्यमान थी। तत्कालीन समाज के निर्धन वर्ग की आर्थिक दशा का एक चित्रण वेद में इस प्रकार मिलता है—

"हमारे पास अनेक काम, अनेक इच्छायें और अनेक संकल्प हैं। बढ़ई की कामना आरे की आवाज सुनने की है, वैद्य में रोगी की कराह सुनने की अभिलाषा है, ब्राह्मण को यजमान की अभिलाषा है। अपनी लकड़ी, पंखा, निहाई और भट्ठी को लेकर लुहार किसी धनी की राह देख रहा है। मैं एक गायक हूँ, मेरा बाप वैद्य है। मेरी माँ अन्न कूटती है। जिस तरह से चरवाहे गायों और अन्न के पीछे दौड़ते हैं, हम लोग उसी तरह धन के पीछे दौड़ रहे हैं।"[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि सारा समाज उपयुक्त जीविका पाने के लिये विकल था। धन-सम्पत्ति का सारा अधिकार कुछ ही व्यक्तियों ने हड़प लिया था। और शेष सारे शिल्पज्ञ, कलाकार और कारीगर आजीविका के लिये परेशान थे। जन-समाज की इस सामूहिक माँग ने तत्कालीन समाज में एक नयी क्रान्ति को जन्म दिया। इस क्रान्ति का पहला प्रभाव तो प्राचीन समय में संघ की एकता पर पड़ा। उसमें आत्म-विरोध बढ़ता जा रहा था और शनैः शनैः उसके टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे। प्राचीन यज्ञगण गोत्र के विरोध में उत्पादन के नये सम्बन्ध बना रहे थे। दास-प्रथा के आधार पर निर्णीत व्यक्तिगत सम्पत्ति भी व्यवस्था के आगे ध्वस्त होने लग गई थी। आर्यगण अब गृह-युद्ध से बुरी तरह घिर गये थे।

आर्यों के आरम्भिक जीवन से स्पष्ट हो जाता है कि जब से मानव का प्रादुर्भाव हुआ, उसे प्राकृतिक जगत् का प्रश्रय मिला, उसके चेतन मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार के विचारों का जन्म होने लगा। पहले तो मनुष्य अपनी स्वयं की ही दैनिक क्रियाओं पर विचार करता रहा, परन्तु धीरे-धीरे उनकी आवश्यकताओं में वृद्धि हुई और उसने सामूहिक जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर एक समाज की रचना

१. ऋग्वेद ८।११२।१-३।

कर डाली। अब उसका सम्बन्ध केवल व्यक्तिगत तथा पारिवारिक क्रियाओं से न रह कर सामाजिक क्रियाओं से हो गया। समय की परिवर्तनशील गति के कारण समाज का स्वरूप एक राज्य एवं राष्ट्र के रूप में परिणित हो गया। मनुष्य के विचारों में भी क्रमशः परिवर्तन होता गया और सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक विचारों का विकास होता गया।

वैदिक समाज

वैदिक युग के पहले ही भारतीय मनुष्य ने अपने सामूहिक जीवन को व्यवस्थित कर एक सामाजिक ढाँचा तैयार कर लिया था। वैदिक काल में सभ्यता एवं समाज का और अधिक विकास हो गया। तत्कालीन समाज के विभिन्न पहलुओं का अनुशीलन करने पर पता चलता है कि वैदिक समाज पूर्णतया सुव्यवस्थित तथा सुगठित था। उस समय के लोग ग्रामों में रहते थे और वे अच्छी तरह खेती करना जान गये थे। वे खूब अन्न उपजाते थे और पशुपालन की विधाओं में भी अच्छी तरह से दक्ष थे। उनका पारिवारिक जीवन सुसंगठित था। जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और सुदृढ़ बना कर मेल जोल से रहा करते थे। कृषि ही उनके जीवन-यापन का मुख्य आधार था, क्षेत्रपति को कृषि का देवता माना जाता था। उससे प्रार्थना की जाती थी कि वह कृषि को उर्वर बनाये, उसे अन्न से भर दे।[१] उस समय भारी हलों से खेती होती थी। हल खींचने के लिये छः, आठ, बारह और कभी-कभी चौबीस बैलों की आवश्यकता पड़ती थी। हल को लांगल कहा जाता था। उस युग में धान, जौ, तिलहन, उरद, सांवां, कंगनी, मसूर, कुलचा, गेहूँ आदि खाद्य-पदार्थों का उल्लेख मिलता है।

वेदों में उर्वर तथा ऊसर दो प्रकार की भूमि की चर्चा है। उसमें खेतों की नाप और वर्गीकरण का भी उल्लेख मिलता है। यह भी वर्णन मिलता है कि किन किन बीजों को किस किस समय बोना चाहिये। कुओं से सिंचाई करने की बात बार-बार दुहराई गई है। सिंचाई व्यवस्था की दृष्टि से कुओं तथा नदियों का वर्णन मिलता है, किन्तु लोग अधिकांश वर्षा पर निर्भर रहा करते थे।

धीरे-धीरे आबादी बढ़ती गई और गाँव बसते गये। क्रमशः ग्राम समाज का

---

१. इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरां समाम्।
शुनः नः फला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाश अभियन्तु वाहैः।
शुनः पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुना सीरा शुनमस्मासु धत्तम्।
ऋग्वेद—म० ४। सू० ५७ मः ७, ८।

विकास होता गया। उस समय भी समष्टिवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा थी, व्यक्ति समाज की इकाई मात्र था। पशुपालन उस युग के सार्वजनिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग था। विशेषकर गायों को पालने तथा उन्हें देवता के स्वरूप में निरूपित कर पूजा करने का उल्लेख सर्वत्र प्राप्त होता है। कई ग्रामों की इकाई को मिला कर राज्य की स्थापना की गई थी और राजा पूरे राज्य का प्रतिनिधि और प्रभू होता था। ग्रामवासियों की रक्षा का भी अधिकार उसी को था और अधिकारियों की नियुक्ति कर ग्रामीणों की समस्याओं को हर क्षण समझने की चेष्टा करता था। उस समय राज्य तथा ग्राम में कितना घनिष्ट सम्बन्ध था, इसका उल्लेख हमें मिलता है। अथर्ववेद में एक समृद्धशाली समाज की कल्पना की गई है।[1]

दास प्रथा

भारत में उस समय दास प्रथा, उस अर्थ में थी या नहीं, जिस अर्थ में योरप के देशों में थी, परन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि उस समय भारत में दास प्रथा विद्यमान थी।

ऋक् संहिता के एक मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है कि समाज में शूद्र का स्थान सबसे नीचा था।[2] यद्यपि प्राचीन समय में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिसमें शूद्र की चर्चा ही नहीं है, केवल तीन वर्गों की चर्चा है। जबकि पृथु, ययाति आदि कुछ अति प्राचीन राजाओं के सम्बन्ध में जो विवरण मिलते हैं, उनमें शूद्रों के साथ दासों की भी चर्चा है। किन्तु इस प्रसंग में स्मरणीय है कि 'दास' एवं 'दस्यु' शब्दों का

---

१. इमे गृहा मयोभुवः उर्जस्वत्तः पयस्वतः।
पूर्णाबामस्य तिष्ठन्त स्ते नो जानन्तु जानतः॥
सुनृतावत्तः सुभगा इरावत्तो हसामुदाः।
अक्षुध्या अतृष्यासो गृहामास्मदविभित्तन्॥
येषा मध्येति प्रवसन् येषु सोमेनसौ वहुः।
गुहान् पठ्हयाम यान् तै नो जानन्त्वायतः॥
उपहू्ता भूरिधनाः सखाय स्वादुसन्मुदः।
अरिष्टाः हर्वपुरूषा गृहा नः सत्तु सर्वदा॥
अथर्ववेद—३-२६।

२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरुस्तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
ऋग्वेद १०-९०-१२
यजुर्वेद ३१-११

प्रयोग शूद्रों के लिए नहीं हुआ है। 'दास और दस्यु' शब्दों से उन आदिम जातियों का बोध होता है, जो आर्यों के आगमन से पहले सिन्ध और पंजाब में रहती थी। बाद में बिगड़ कर दास का अर्थ गुलाम और दस्यु का अर्थ चोर हो गया। आधुनिक काल में अब दास का अर्थ आजीवन सेवक हो गया। परन्तु इस आजीवन सेवक से उस गुलाम का कोई सम्बन्ध नहीं था, जो कि योरप में भयंकर प्रताड़ना, क्रय-विक्रय एवं अपमान का जीवन व्यतीत करने के लिये मजबूर था।

ऋग्वेद में आर्यों और अनार्यों के संघर्षों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कहा कहा गया है कि पृथ्वी दासों का कब्रिस्तान बन गई, इन्द्र ने नगरों को तहस-नहस कर डाला और कृष्ण वर्ण के दासों की सेना का विध्वंस कर दिया।[1] दासों के विरुद्ध अभियान में आर्यों को अनेक कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा। ऋग्वेद में इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है "हे इन्द्र हम चारों ओर से दस्यु जातियों से घिरे हुए हैं। ये दस्यु यज्ञ नहीं करते, ये किसी बात में विश्वास नहीं करते, इनकी रीतियाँ हमारी रीतियों से बिल्कुल भिन्न हैं। ये मनुष्य नहीं है, ओ रिपु दमन, आप इनका वध करें।"

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार शूद्र दूसरे का भृत्य होता है, उसे स्वेच्छापूर्वक निकाला जा सकता है। पंचविश ब्राह्मण में कहा गया है कि चाहे वह सम्पत्तिशाली हो, वह भृत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, उसे तो अपने स्वामी का पाद प्रच्छालन करना ही पड़ेगा।

श्रम तथा उत्पादन का दास प्रथा से सम्बन्ध

तत्कालीन सामन्तवादी व्यवस्था में श्रम और उत्पादन की एक व्यवस्थित स्थिति थी। आदिम काल से ही देश में कृषि एवं कुटीर उद्योगों में स्वाभाविक सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध का मुख्य आधार चर्खा और करघा था, जमीन की संयुक्त मिलकियत तो थी ही बलि भाग (कर) भी लोग स्वेच्छापूर्वक देते थे। उन्हीं दिनों कृषि के साथ पशुपालन तथा अन्य उद्योग धंधों आदि का विकास प्रारम्भ हुआ। किन्तु इतना निश्चय है कि लोग उद्योग धंधों में स्वेच्छा से लगे। यहाँ के सामन्तों अथवा राजाओं ने इस कार्य में गुलामों को नहीं लगाया।

भारत में दास प्रथा के उद्भव तक लोग कर के रूप में अपना श्रम देते थे। इसके बाद उत्पादित द्रव्य के रूप में कर देने की प्रक्रिया शुरू हुई। वैदिक युग में वस्तुओं के माध्यम से कर देने की प्रथा का भी उल्लेख मिलता है और यह परम्परा

---

१. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं
वर्णमधरं गृहाकः।

ऋग्वेद—२-१२-४

आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। सभी इतिहासकार इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि 'श्रम कर' के स्थान पर 'वस्तु कर' के एक बार लागू हो जाने से और इस आर्थिक व्यवस्था के जड़ पकड़ लेने के बाद समाज का क्रमागत विकास होता ही गया। हमारे देश में सामन्तवादी व्यवस्था के न रहने पर भी शताब्दियों तक 'वस्तु कर' की प्रथा चलती रही है। 'वस्तु कर' एक विशिष्ट प्रकार का कर था, यह एक विशिष्ट प्रकार के उत्पादन तथा उत्पादन की प्रक्रिया का द्योतक था। जिसमें कृषि और घरेलू उद्योग धंधों का योग अनिवार्य था। इस व्यवस्था में कृषक प्राय: आत्म-निर्भर होता था और वह बाजार के उतार-चढ़ाव से तथा उत्पादित किये गये माल के यातायात से मुक्त था। साधारणतया यह स्वाभाविक अर्थव्यवस्था थी, जिसके अन्तर्गत समाज का विकास स्थिर हो गया था।

संघ एवं वर्णाश्रम व्यवस्था

वैदिक साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में साम्य संघों के आन्तरिक विधानों का कोई जिक्र नहीं है। सभी संघ एक साथ मिलकर रहते और एक साथ भोजन करते थे। इतना अवश्य था कि आदिम संघ अपनी पुरातन विशेषताओं को छोड़कर व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग संकीर्णता, स्वामित्व, दासत्व और धनी-निर्धन के रूप में बदल गया था, अभिजातकुल अब राजकुलों में परिवर्तित हो गये थे। श्री श्रीपाद् अमृत डांगे के अनुसार—"जब 'जन' ने व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ण और दासता को विकसित कर लिया तो राजा हो गया और वह निर्वाचित 'नेतृत्व' जो शासन करने के लिये चुना जाता था, राजन्य हो गया।"[१]

वर्ण

जैसी कि पहले (पृ० ३०-३१ में) चर्चा की जा चुकी है वैदिक काल के पूर्व से ही जन सम्प्रदाय को तीन प्रमुख वर्णों में विभक्त कर दिया गया था क्षत्र (योद्धा), ब्राह्मण (पुरोहित) है और विश (वैश्य)। क्षत्रिय समाज के नेता, शासक राजा एवं सरदार रहे। ब्राह्मण अपनी बौद्धिक शक्ति के कारण राजा के सचिव, न्यायाधीश तथा धार्मिक नेता व अनुशासक के पदों पर प्रतिष्ठित थे। और 'विश' वर्ग के लोग कृपक, व्यापारी के रूप में व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग-धन्धों के द्वारा सम्पत्ति का उपार्जन करते रहे। समूह का यह त्रिविध वर्ग भेद, जब तक श्रम-विभाजन की दृष्टि से अपने कर्त्तव्यों में ईमानदार बना रहा, तब तक तो उसने अच्छी उन्नति की, किन्तु जब वह अधिकार लिप्सु तथा शोषक बन कर शेष समाज की उपेक्षा करने लगा तो स्वभावत: उसके पतन की भूमिका तैयार होने लगी थी।

---

१. श्री श्रीपाद अमृत डांगे, भारत—आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक का इतिहास, पृष्ठ १८१।

इन तीन वर्णों में विभाजित आर्य जाति मूलतः यदु पुरु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, इन पाँच जातियों या वंशों की समष्टि रूप थी।[१] ऋग्वेद में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार ये पाँचों जातियाँ आरम्भ में बड़ी उद्योगी थी और वे नदियों के उर्वर तटों पर कृषि एवं चरागाह के द्वारा जीविकोपार्जन किया करती थी। इन्हीं के द्वारा हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक की व्यापक सभ्यता का निर्माण हुआ। कालान्तर में शिल्प आदि के सीखने की सुविधा के कारण स्वाभाविक रूप से स्वतः सम्पन्न हुए श्रम के वंशगत विभाजन के कारण समाज में अनेक जातियाँ पनपने लगी थीं, किन्तु घोर आपत्ति एवं कठिन संकट में भी मूलभूत एकता की भावना समाज से कभी लुप्त नहीं हुई।[२]

वैदिक काल की बहुत कुछ आर्थिक क्रियायें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों पर आधारित थी। यद्यपि वैदिक आर्यों ने मोक्ष को प्रधानता दी है, फिर भी उन्होंने सांसारिक जीवन की कभी उपेक्षा नहीं की। यह अत्यन्त स्वाभाविक भी है, क्योंकि संसार में प्रत्येक प्राणी को भोजन और निवास स्थान की आवश्यकता होती है। मनुष्यों को इन दो चीजों के अतिरिक्त वस्त्र तथा गृहस्थी सम्बन्धी कुछ सामग्री जैसे बर्तन आदि की भी अनिवार्य रूप से आवश्यकता मानी गई है, और ये सारी चीजें अर्थ प्रधान हैं।

वर्णाश्रम के उद्देश्य

वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति को सामूहिक हित चिन्तन की ओर ले जाता है, जबकि आश्रम व्यवस्था उसको व्यक्तिगत उन्नयन की ओर ले जाती है, जिससे वह अपने आपको समाज के अभ्युदय हेतु उपयोगी सिद्ध कर सके। प्राचीन काल में वर्णाश्रम धर्म का अपनाया जाना इस बात का द्योतक है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करना कितना आवश्यक रहा है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति समष्टि से कितना आबद्ध था। वैवाहिक सम्बन्धों की स्थापना का स्वरूप राष्ट्रीय समृद्धि एवं विकास की ओर ले जाने का परिचायक है। साथ ही यह भी निश्चित होता है कि समाज में जनसंख्या की वृद्धि करने की लिप्सा के साथ ही साथ नैतिक मूल्यों की प्रधानता के कारण नियन्त्रण की भावना भी विद्यमान थी।

---

१. (क) य आनायत्परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्
इनुः स नो युवा सखा।

ऋग्वेद—मं० ६-सू० ४५, मं०-१

(ख) मैक्समूलर : इण्डिया ह्वाट कैन इट टीच अस, पृष्ठ ८५, ८६, १८८६।

२. आर० सी० मजूमदार, कार्पोरेट लाइफ इन ऐन्शियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ ३६४।

अर्थ का महत्व

ऋग्वेद के मंत्रों से पता चलता है कि उस समय के लोगों में अर्थ व धन की एक ओर जहाँ कामना की जाती थी वहीं दूसरी ओर उसे इतना अधिक महत्व नहीं दिया जाता था, जितना कि आज के युग में दिया जाता है। इतना अवश्य था कि लोग धन की वृद्धि उतनी चाहते थे, जिससे उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो सके।[1] "किसी दूसरे व्यक्ति के धन का अपहरण करना 'पाप' है।" यह कह कर वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि लोगों की आर्थिक लिप्सा मर्यादित होनी चाहिए। इस प्रकार उस काल में परिश्रम द्वारा अर्जित धन से ही संतोष करना लोगों का कर्त्तव्य समझा जाता था। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि उस समय भी मनुष्य के समक्ष अधिकतम संतुष्टि एवं कम संतुष्टि की समस्या विद्यमान थी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उस काल में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध था।

इतना होते हुए भी लोगों में जिस किसी प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि के प्रयत्न का अभाव न था। समाज में जहाँ अधिकतम संतुष्टि की भावना विद्यमान थी, वहीं दूसरे के धन के अपहरण कर लेने व हड़प लेने की भी भावना का उल्लेख हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है। आर्थिक विकास में प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा की भावना अवश्य रही है। प्रतिस्पर्धा एवं प्रतियोगिता का आर्थिक जगत् में एक विशेष स्थान है। ये दो ऐसे तत्व हैं जो आर्थिक विकास को अग्रसर करने में सहायक होते हैं। ऋग्वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है, "एक गुणा धन रखने वाला अपने से दुगने धन रखने वाले के मार्ग पर आक्रमण करता है, और चौगुने धन वाला अपने से तिगुने धन वाले के पीछे दौड़ता है और चौगुने धन वाला अपने से दुगने धन वाले की महत्ता प्राप्त करने की कोशिश करता है। अर्थात् प्रत्येक अपने से अधिक धन वाले मनुष्य को देखकर उसकी समानता प्राप्त करने की अभिलाषा करता है।"[2] इस प्रतिस्पर्धा एवं प्रतियोगिता का कहीं अन्त नहीं होता और इसके

---

१. ईशावास्यमिदं सर्व यत्किन्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि निर्जीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथे तोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यजुर्वेद ४०, १, २।

२. एकापादभूयो द्विपादो विचक्रमे द्विपात्त्रि पादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिसरे संपश्य पंक्ती रूप तिष्ठमाना॥

—ऋग्वेद १०. ११७. ८

द्वारा सभी समुदायों या समाज के व्यक्तियों में पारस्परिक शत्रुता के भाव जागृत होने लगते हैं।

आर्थिक दृष्टि से समाज में सभ्यता की भावना लाने के लिए चिन्तक हर प्रकार से प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। अधिक से अधिक परिश्रम करके उत्पादन में वृद्धि करने की भावना तत्कालीन समाज में विद्यमान थी।[1] इस काल में व्यापार का अत्यधिक प्रचलन था, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के व्यापारों को प्रोत्साहन दिया जाता था। व्यापार करने वालों का एक वर्ग ही समाज में अलग था, जिन्हें 'पणि' के नाम से पुकारा जाता था। 'पणि' अथवा वैश्य ही व्यापारिक क्रियाओं से सम्बन्ध रखते थे। 'पणि' शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से वैश्य के लिए किया जाता था। इसका कार्य समाज की आर्थिक व्यवस्था को ठीक रखना तथा शिल्प और वितरण के कार्यों को आवश्यकतानुसार पूर्ति करना था। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में पाणियों को अनेक रूप में चित्रित किया गया है। सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि 'पणि' को भी दस्यु रूप में निरूपित किया गया है।[2]

भूमि स्वामित्व

जनसंख्या की दृष्टि से भूमि की अधिकता के कारण वैदिक काल में भूस्वामित्व का प्रश्न नहीं उठा था। किन्तु आगे चल कर वह विवाद का विषय बन गया है, वैदिक समाज में भूमि का स्वामित्व पूरे समाज के हाथ में था, इस कथन की पुष्टि ऋग्वेद में वर्णित एक मंत्र से होती है।[3] इस मंत्र में अपल ने भूमि की समानता अपने पिता के सिर से दी है, परन्तु इस व्यक्तिगत स्वामित्व का अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास अलग एक भूमि खण्ड होता था। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक परिवार के पास खेती के लिए अलग जमीन होती थी। सारा

---

१. समानी प्रपासह वोऽन्यभाग समाने योवतो सहवोयुनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निंसपर्यतारानाभिमिवाभितः॥

—अथर्ववेद—३. ३०. ६

२. न्यक्तुन ग्रथिन्ते मृध्रुवाच पणीरं श्रद्धमं अमृधांअपज्ञान प्र प्रतान्द स्यंरग्निविर्वाय पूर्वश्च कारापरा अयज्यून॥

ऋग्वेद की भूमिका (पं० श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा संपादित)
तृतीय संस्करण, पृ० ३०

३. इमानि त्रीणि विष्टया तानीन्द्र विरोह्य
शिरस्त तस्योर्वैरामादिर्य म उपोदरे॥

—ऋग्वेद—८-९९-५।

खेत और सारी जमीन राजा की ही है। यह विचारधारा भी वैदिक युग में प्रतिष्ठित नहीं हुई थी।

अन्न का महत्व

वैदिक युग में अन्न का अत्यधिक महत्व था। इसे लोग देव तुल्य समझ कर इसकी पूजा करते थे। तैत्तरीय ब्राह्मण में अन्न की स्तुति करते हुए कहा गया है कि "इस धरती पर जितने भी प्राणी हैं, उनका जन्म अन्न से हुआ है, वे अन्न के सहारे ही जीवित रहते हैं और वे अन्त में अन्न में ही समाहित हो जायँगे। समस्त भौतिक वस्तुओं में अन्न ही सबसे महान् है, इसलिए इसे सर्वोषध कहा गया है। इस अन्न की पूजा स्वयं ब्रह्म की पूजा है। जो इस प्रकार अन्न की पूजा करता है वह सर्व प्रकार का अन्न प्राप्त करता है। इस धरती के समस्त प्राणियों का जन्म अन्न से ही हुआ है। उनका विकास एवं सम्वर्द्धन अन्न से ही होता है।"[1]

धन-सम्पत्ति तथा अर्थ का सम्बन्ध

वैदिक लोगों का धन-सम्पत्ति एवं अर्थ से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। उनका सम्बन्ध केवल व्यक्तिगत एवं व्यष्टिवादी अर्थशास्त्र तक सीमित न था। तत्कालीन लोग अर्थ व धन का चिन्तन समष्टि के लिए किया करते थे। वृष्टि के अवरोधक असुर को मारने वाले इन्द्र को देव मानकर उससे वे उत्पादन में वृद्धि करने हेतु समयानुकूल जल वृष्टि कर फसल को सींचने के लिए प्रार्थना करते थे।

ऋग्वेद के मण्डल एक के आठवें सूक्त से स्पष्ट होता है कि वैदिक युगीन चिन्तक समष्टिवादी थे। उनका आर्थिक चिन्तन केवल व्यक्तियों तक सीमित नहीं था। "हे इन्द्र हमारे उपभोग के लिए उपयुक्त विजय दिलाने वाला तथा रक्षा करने में समर्थ धन प्रदान करो। उस धन के बल से बली हुए हम मुक्के के प्रहार द्वारा तथा तुम्हारे द्वारा रक्षित अश्वों के सहयोग से अपने देश से शत्रुओं को भगा दें।"[2]

---

१. अन्ना द्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीश्रिताः।
अथो अन्नेनैव जीवन्ति अथैनदपियन्त्यन्ततः॥
अन्न हि भूतानां ज्येष्ठम् तस्मात्सर्वौषधमुच्यते।
सर्वत्रैतेऽन्न माप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते॥
अन्नाद् भूतानि जायन्त जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते।
अपतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते॥

तैत्तरीय ब्राह्मण भृगुवल्ली २।

२. एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहमुवर्षिष्ठ भूतयेभर

ऋग्वेद म० १, सूक्त ८।१।

नियेन मुष्टि हत्यया नि वृत्रारूणधामहै
त्वोतासो न्यर्वता।

ऋग्वेद म० १, सूक्त ८।२।

इस ऋचा से ऐसा स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में प्रत्येक व्यक्ति ऐश्वर्य वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता था। उस समय के लोग समाज में अधिकाधिक सम्पन्नता लाने के लिए इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि की प्रार्थनाएँ करते थे। इससे पता चलता है कि आर्थिक विचारों का इतना उत्कर्ष था कि उन्हें कभी उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

उस समय के लोग ऐश्वर्य बढ़ाने हेतु कितने प्रयत्नशील थे। इसका विवरण हमें वेद के अनेक मंत्रों में मिलता है, "विभिन्न उत्तम ऐश्वर्य को हमारी ओर प्रेरित करो, क्योंकि तुम भी पर्याप्त धन के स्वामी हो, मित्रता, धनप्राप्ति और सामर्थ्य के लिए हम इन्द्र से ही याचना करते हैं, वही इन्द्र हमें धनवान और बलवान बनाता हुआ रक्षा करता है।"[1]

प्रायः ऋग्वेद के विभिन्न मंडलों में, विष्णु, इन्द्र तथा वरुण के मंत्रों द्वारा की गई याचना से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन सामाजिक स्थिति समृद्धि की दृष्टि से कुछ विशेष अच्छी नहीं थी, यही कारण है कि लोग धन की चिन्ता में हर समय व्याकुल रहते थे। उनकी माँग पूर्ति से अधिक थी, अथवा यह कहा जा सकता था कि उन्हें अधिकतम संतुष्टि नहीं प्राप्त थी और समाज में गरीबी थी।[2] अतः लोगों की सदा यही कामना बनी रहती रही कि उनकी (इन्द्र और वरुण) रक्षा से वे धन को प्राप्त कर उसका उपभोग करें। वह धन प्रचुर मात्रा में संचित हो। वे इन्द्र और वरुण का विभिन्न प्रकार के धनों के लिए आवाहन करते थे और उनसे प्रार्थना करते थे कि "हमें भली प्रकार जय लाभ कराओ।"[3]

---

१. संचोदयचित्रमत्रां ग्राथ इन्द्र वरेण्यम् असदिते विभु प्रभु।

—ऋग्वेद १।८।५

२. तमित सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये
स शक् उतनः शकदिन्द्रो वसुदयमानः॥

—ऋग्वेद १, म० ६, सूक्त १०

तयोरिदवसां वयं सनेम निच धीमहि स्यादुत्त प्रेरेचनम्॥

—ऋग्वेद १, सूक्त १७।६

३. इन्द्रा वरुणवामहं हुवे चित्राय राधसे
अस्मार्नसु जिग्युषस्कृतम्॥

—ऋग्वेद १।१७।७

धन का वितरण

ऋग्वेद में धन के वितरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि सामाजिक विषमता को दूर करने के लिये धनी वर्ग के लोगों को चाहिए कि वे गरीबों में धन को बाँट दे, यदि वे ऐसा नहीं करते, तो उनसे धन को छीन कर बाँट देना चाहिए। इन्द्र की कल्पना एक धनी के रूप में की गई है अतएव इन्द्र को सम्बोधित करते हुए एक मंत्र में कहा गया है कि "जो इन्द्र हविदाता को मनुष्यों के उपभोग्य पदार्थों को भेजते हैं, वह हमको भी दें। हे इन्द्र तुम्हारे पास अन्नत धन है, उसे बाँट डालो, मैं भी तुम्हारे धन में भाग प्राप्त करूँ।"[1] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि धन के समान वितरण की व्यवस्था हेतु उस समय भी प्रयत्न किये जाते थे। एक अन्य स्थान पर लालची, अकर्मी तथा दुष्टों के धन को छीन कर बाँटने की भी कल्पना की गई है।[2]

उद्योग

वैदिक समाज में नाना प्रकार के उद्योगों का भी पता चलता है, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि उद्योग सम्बन्धी विचारों की भी उस समय कमी नहीं थी। विभिन्न प्रकार की औद्योगिक वस्तुओं का परिचय हमें वैदिक मंत्रों के द्वारा मिलता है। ऋग्वेद के मंडल के सूक्त २० में पशुधन में गाय के महत्व पर प्रकाश डाला गया है—'उन्होंने अश्वनीकुमारों के लिये सुख देने वाले रथ की रचना की और दूध-रूपी अमृत देने वाली धेनु को बनाया।"[3] उस काल में वस्तुओं का क्रय-विक्रय एवं विनिमय पारस्परिक वस्तुओं के द्वारा व प्रचलित सिक्कों के द्वारा किया जाता था अर्थात् विनिमय वस्तु एवं सिक्कों दोनों के द्वारा होता था।

वैदिक युग वैसे तो पुरोहितवाद का युग कहा जाता है। इसी कारण हमें पुरोहित तथा यजमान के बीच प्रचलित आर्थिक विचारों का मूल रूप वैदिक मंत्रों में मिलता है। दूसरी ओर अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध भी दृष्टिगत

---

१. यो आर्यो मर्त भोजनं परादराति दाशुषे।
इन्द्रो असमभ्यं शिक्षतु विभजा भूरिते वसु
भक्षीय तव राध सः

—ऋग्वेद म० १, सूक्त ८१।६

२. भूरि कर्मणे वृषभाय वृष्णे सत्य शुष्माय सुनवाम सोमम्।
य आदृत्या परिपन्थीव शूरोऽयज्वनो विभजन्नेतिवेदः।

—ऋग्वेद मं० १, सूक्त १०३।६

३. तक्षन्नासत्याभ्यां परिजमानं सुखंरथम्
तक्षधेनु सर्वदुघाम्।

—ऋग्वेद १, सूक्त २०, मंत्र ३

होते हैं। बिना धर्म के अर्थ की प्राप्ति संभव नहीं तथा बिना अर्थ के धर्म की क्रियायें असम्भव थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के २०वें सूक्त में वस्तु विनिमय तथा सामाजिकता का संकेत निम्नलिखित शब्दों में प्राप्त होता है। "हे वरणीय अग्ने: जैसे पिता पुत्र को, भाई-भाई को तथा मित्र-मित्र को वस्तुयें देते हैं, वैसे ही तुम हमको दाता बनो।"[1]

राजा

वैदिककाल में राजा का अपना एक अलग अस्तित्व था। राष्ट्र के सम्वर्द्धन हेतु कितनी आय प्राप्त होती है और कितना व्यय किया जाना चाहिए इसका हिसाब-किताब राजा किया करता था। वेदकालीन राजा व राज्यपद उन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था जो आर्यों के शत्रुओं के साथ युद्ध में निरत रहने से उत्पन्न हुई थी। ऋग्वेद में जनता की उस दुर्दशा का वर्णन है, जो राजा के अभाव में जनता की होती थी।[2] यही कारण है कि वहाँ अपनी और अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए इन्द्र की स्तुति की गयी है, क्योंकि वह निरन्तर अपने स्तोताओं की रक्षा करता है।

इस युग में राजा और राज्य की पूर्ण कल्पना विद्यमान थी। इन्द्र को राजा शब्द से सम्बोधित कर उसी के राज्य के अन्तर्गत समस्त प्रजा की कल्पना भी लौकिक सत्ता से घनिष्ठ रूप में सम्वद्ध होने लगी है। इसी प्रसंग में इन्द्र से कामना की गयी है कि वह उस स्थिति में भी हमारी रक्षा करें, जब हम उसे कुछ भेंट देने में समर्थ न हो, इसीलिए इन्द्र से वहाँ प्रार्थना की गयी है कि "हे इन्द्र, तुम हमारे साथ विनिमय करने वाले न बनो"। वह इन्द्र धन के रक्षक के रूप में भी अनेकशः वर्णित है यथा सेना वाले इन्द्र ने स्तोताओं के पक्ष में तूणीर कस लिये। प्रजाओं के स्वामी वे इन्द्र गवादि धन को जीतने में समर्थ हैं।[3]

---

१. विभक्तासि चित्रभानवो सिन्धोरूर्मा उपाकआ
सद्यो दाशुषे क्षरसि ॥

—ऋग्वेद १, सूक्त २७, मंत्र ६।

२. वह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निंद्रं वृणानः पितरम् जहामि
अग्निः सोमो वरुणस्ते च्यवते पर्यावदाष्टं तदवाम्यायन्।
निर्माया उत्ये असुरा अभ्रवत्व च मा वरुण कामयासे
ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन्मम राष्ट्र स्याधिपत्यमेहि ॥

—ऋग्वेद (म० १० । सू० १२४)

३. नि सर्वसेन इषुधीरंसक्त समर्योगा अजतिस्यवष्टि
चोष्कूयमाण इन्द्रभूरिवामं मापणिर्भूरस्यदधि प्रवृद्ध।

—ऋग्वेद १, सूक्त ३३-मंत्र ३।

ऋग्वेद में राजा को रक्षक ही नहीं पोषक भी कहा गया है, पूषन देवता की कल्पना इसी दृष्टि से वहाँ हुई है। इस प्रसंग में यह प्रार्थना ध्यान देने के योग्य है कि जहाँ कृषि के उपयुक्त सुन्दर भूमि हो, हमको वहाँ ले चलो। मार्ग में कोई नया संकट न आवे। हमारी रक्षा के लिये बलिष्ठ होओ। हे पूषन, हमको इच्छित धनादि दो। हमको तेजस्वी बनाओ। हमारी उदर पूर्ति करो। हमारे लिये बल प्राप्त करो।''[१]

वैदिक कल्पना के अनुसार जहाँ राजा कर प्रक्रिया द्वारा प्रजा से धन का संग्रह (आदान) करता है, वहीं वह अत्यन्त उदारतापूर्वक समय पर वितरण भी करता है, इस दृष्टि से वह प्रसंग द्रष्टव्य है, जहाँ इन्द्र के पास एकत्र धनराशि को विभिन्न वर्गों में बाँटने की चेष्टा का भी वर्णन किया गया है। सन्दर्भ इस बात का प्रभाव है कि वैदिककालीन ऋषियों का निरन्तर प्रयास था कि सम्पत्ति का एकाधिकारिक स्वरूप न बन जाय, समाज में समान रूप से धन का वितरण हो और लोग अपनी आर्थिक समस्या का निदान कर सकें—

''जो इन्द्र हविदाता को मनुष्यों के उपभोग्य पदार्थों को भेजते हैं, वह हमको भी दें। हे इन्द्र तुम्हारे पास अनन्त धन है, इसे बाँट डालो। मैं भी तुम्हारे धन में प्राप्त करूँ।[२] हम बहुकर्मा श्रेष्ठ, पुरुषार्थी, बल वाले इन्द्र के लिये सोम निष्पन्न करें। क्योंकि वे लालची, अकर्मी, दुष्टों के धन को छीन कर कर्मशील उपासकों में बाँटते हैं।''[३]

उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय तथा राजस्व आदि से सम्बन्धित अनेक विचार स्वतन्त्र रूप से वैदिक युग में पाये जाते हैं। यद्यपि बैंकिंग जैसी प्रथा के प्रचलन का स्पष्ट संकेत हमें नहीं मिलता। साथ ही वितरण विनिमय आदि के सिद्धान्तों के उल्लेखों में आधुनिक आर्थिक विचारों की तरह वैज्ञानिकता भी नहीं पायी जाती तथापि उनका अस्तित्व था और उनमें पर्याप्त सार्थकता भी थी।

---

३. अभिस्यवसंनय न नवज्वारो अध्वने। पूषन्निह क्रतुं विदः
शग्धि पूर्धि प्रयंसि च शिशीहि प्रास्युदरम्। पूषन्निह क्रतुं विदः।

—ऋग्वेद १, सूक्त ४२ मंत्र ८, ६

१. यो आर्यो मर्त भोजनं पराददाति दाशुषे।
इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु विभजा भूरितेवसु भक्षीय तवराधस॥

—ऋग्वेद १। ८१। ६

२. भूरि कर्मणे वृषभाय वृष्णे सत्य शुष्माय सुववामसोमम्
य आदृत्या परिपंथीव शूरोऽयज्वनो विभजन्नेति वेदः

—ऋग्वेद म० १, सू० १०३ मं० ६।

भूमि तथा कृषि का स्वरूप

वैदिक काल में भूमि से तात्पर्य केवल उस क्षेत्र से था, जो कृषि तथा चरागाह के प्रयोग में आती थी। उस समय के लोगों को इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि कौन सी भूमि ऊसर है और कौन सी कृषि के योग्य है। इस प्रकार भूमि को कई वर्गों में विभक्त कर दिया गया था। सामान्यतः लोग उपजाऊ भूमि को अधिक महत्व देते थे। लोग इस बात का भी ध्यान रखते थे कि भूमि की उर्वरा शक्ति किस प्रकार बढ़ायी जा सकती है। उसे उपजाऊ बनाने के लिये खाद आदि का भी प्रयोग किया जाता था। फलतः प्रागैतिहासिक काल की अपेक्षा इस काल में भूमि का एक स्वरूप निर्धारित हो गया था। इसके साथ ही किस व्यक्ति के पास कितनी जमीन होनी चाहिए, इसका भी उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। इसके अतिरिक्त हमें इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि भूमि का पूरा हिसाब-किताब रखा जाता था।[१]

कृषि

वैदिककाल में कृषि कर्म का बहुत अधिक महत्व था। उसे उन्नत करने के लिए लोगों द्वारा अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जाते थे। अतएव ऋग्वेद में कृषि सम्बन्धी विचारों की भरमार है। ऐतिहासिक काल से तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि कृषि कर्म का पहले की अपेक्षा अधिक विकास हो चुका था।[२] उदाहरणस्वरूप 'कर्षण' शब्द का प्रयोग भारतीय आर्य तथा ईरानी आर्य दोनों कृषि के सम्बन्ध में ही करते थे। अतः इन दोनों के पृथक् होने के बाद भी आर्थिक व्यवस्था में कृषि का

---

१. मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणींकृणुध्वम्।
इष्कृणुध्वं मायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं पुणयता सखायः ॥२॥ (खा)

—ऋग्वेद—१०।१०१।२

सीरा युञ्जन्ति युगा कवयो वितन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नयौ
निराहा वान्कृणेतन सं वरत्रा दधातना।
सिच्चामहा अवतमुद्रिणं वयं मुपेकमनुपक्षितम्
इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं मुपेचनम्।
उद्रिणं सिचे अक्षितम्

—ऋग्वेद म० १०। सू० १०१। ४, ५, ६

२. युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनो वपतेहबीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥

ऋग्वेद—म० १०। सू० १०१।३

महत्वपूर्ण स्थान बना रहा। गेहूँ, जौ, चना आदि की खेती किस मौसम में और कैसी जलवायु में की जानी चाहिए, इसका लोगों को भली-भाँति ज्ञान था। सिचाई के साधनों—कुएँ, तालाब, नदी द्वारा समयानुकूल पानी देकर अधिक से अधिक उत्पादन करने की प्रक्रिया से वे भली-भाँति परिचित थे।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाता है कि कृषि को उन्नत बनाने के लिए आर्य कृषक प्रकृति प्रदत्त सारे साधनों का सम्यक् उपयोग करते थे, उन्हें मिट्टी के प्रकारों का, ऋतुओं के प्रभावों का और स्वयं मानवीय श्रम के उपयोग का पूरा ज्ञान था। यह सारा ज्ञान उन्हें अपने अनुभव से प्राप्त हुआ था।

वर्तमान समय में लोग दो बैलों की तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों के द्वारा खेती करते हैं, परन्तु उस समय लोग ६, ८ या ११, १२ बैलों का प्रयोग हल खींचने के लिए करते थे।[१] उत्पादन की मात्रा में कोई कमी न हो इसके लिए खाद तथा सिचाई का समुचित प्रयोग किया करते थे। खाद के लिए उस समय 'करिष' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि उन्हें रासायनिक प्रक्रियाओं का भी ज्ञान था। धान की खेती करने के बाद उसकी दँवाई करने तथा उसका छिलका निकालने का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।

पशुपालन

पशुधन उस समय का प्रमुख धन था। धार्मिक एवं आर्थिक दोनों प्रकार की क्रियाओं में पशुओं का प्रयोग किया जाता था। पशुओं की सहायता से किस प्रकार आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ की जाय, इस बात को ध्यान में रखकर वे पशुपालन करते थे।[२] पशुओं के उदर पूर्ति हेतु बड़े-बड़े चरागाह होते थे। बैलों का प्रयोग कृषि के लिये तथा अन्य जानवरों का उपयोग विभिन्न व्यवसायों के लिए किया जाता था।

---

१. अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाष्ठमीद्धाकिमु त्वयः करन्ति।
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मां निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥

ऋग्वेद—म० १० । सू० ४८।४

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्तामनुषाय दस्रा।
अभिदस्युं बकुरेणा धमन्तोरुज्योतिश्चक्रथुरार्याय ॥२१॥

ऋग्वेद—म० १ सूक्त ११७।२१

2. "One of the important means of living for the Rigvedic Aryans was cattle breeding. Their wealth and prosperity depended upon the possession of a large number of cows."
—R. S. Tripathi, History of Ancient India, p. 33.

पशुपालन न केवल सीमित आर्थिक दृष्टिकोण से किया जाता था अपितु विनिमय एवं वितरण व्यापार आदि की क्रियाओं में भी पशुओं का उपयोग किया जाता था।[१] इसीलिए वैदिक संहिता में गो-पालन तथा उसके महत्व का विवेचन अनेकशः किया गया है।

उपभोग

तत्कालीन सामाजिक रहन-सहन के स्तर से पता चलता है कि लोग विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन के अतिरिक्त उसका उपभोग भी करते थे। सोने-चाँदी के आभूषणों तथा खाने-पीने की वस्तुओं का उपयोग वे भली-भाँति कर लेते थे।

वैदिक काल में मुख्य रूप से उपभोग को कई विभागों में विभक्त कर दिया गया था—

(१) खाने-पीने तथा रहन-सहन के धन का उपभोग करना, (२) दान देना, (३) यज्ञ करना, (४) उद्योग-धन्धों में व्यय करना।

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि दानशील व्यक्ति प्रातःकाल होते ही धन दान करता है, विद्वान् उसे ग्रहण करते हैं। वह उस धन से सत्ता, आयु और बल से युक्त होकर सुरक्षित होता है।[२]

ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर उपभोग की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उनकी (इन्द्र और वरुण) रक्षा से हम धन को प्राप्त कर उसका उपभोग करें। वह धन प्रचुर परिणाम में संचित हो। हे इन्द्र और वरुण, विभिन्न प्रकार के धनों के लिए हम तुम्हारा आवाहन करते हैं। हमें भली प्रकार जय लाभ कराओ।[3]

स्वर्ण कोश

ऋग्वेद में विनिमय तथा अर्थ संग्रह की विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। एक स्थान पर कहा गया है कि—'हे इन्द्र ! तुम्हारे स्तोताओं को प्रस्तोक ने दश

१. सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥

ऋग्वेद—म० १ सूक्त १०।७

२. प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान्प्रतिगृह्या न धत्ते।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः॥१॥

ऋग्वेद म० १, सूक्त।१२५।१

३. इन्द्रवरुणवामहं हुवे चित्रात राधसे।
अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृतम्॥ ७॥

ऋग्वेद म० १ सूक्त ८७।

स्वर्ण कोश और दश अश्व दिये थे। अतिथिग्व ने शम्बर के जिस धन को जीता था, वही धन हमने दिवोदास से प्राप्त किया है। दिवोदास से मैं दश स्वर्ण कोश, दश अश्व, वस्त्र और सभी अन्न सहित दस पिण्ड प्राप्त किये हैं, पायु के लिए मेरे भ्राता अश्वत्थ ने अश्वों सहित दस रथ तथा अथवीओं को एक सौ गौवें दी। इस विवरण से स्पष्ट होता है कि उस समय समाज में किस प्रकार आर्थिक आदान प्रदान हुआ करता था।[१]

विनिमय

विनिमय का प्रश्न यद्यपि बड़ा ही विवादास्पद है किन्तु, फिर भी यह निश्चय है कि चाहे वस्तुविनिमय रहा हो, चाहे सिक्कों के माध्यम से विनिमय होता रहा हो, विनिमय अवश्य होता था।[२] इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वस्तुओं का मूल्य पशुओं के माध्यम से निश्चित किया जाता था।[3] इसके साथ साथ ऋग्वेद में 'निष्क' का भी उल्लेख मिलता है। इसका प्रयोग धात्विक मुद्रा के रूप में किया जाता था।[४] ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि "सेना वाले इन्द्र ने स्तोताओं के पक्ष में तूणीर कस लिये। प्रजाओं के स्वामी वे इन्द्र गवादि धन को जीतने में समर्थ हैं। वे इन्द्र तुम हमारे साथ विनिमय करने वाले न बनो।[५] यह विनिमय शब्द तत्कालीन विनिमय प्रणाली को भी स्पष्ट करता है।

---

१. प्रस्तोक इन्नु राधसस्त इन्द्र दश कोशयीर्दश वाजिनोऽदात्।
दिवोदासादतिथिग्वस्प राधः शाम्बर वसु प्रत्यग्रभीष्म ॥
दशाश्वान्दश कोशान्दश वस्त्राधिभोजना।
दशो हिरण्य पिण्डान्दिवोदासादसानिपम् ॥
दश रथान्प्रष्टि मतः शतंगाअथर्वभ्यः।
अश्वथः पायवेऽदात् ॥ —ऋग्वेद—मं० ६। सू० ४७
मं० २२, २३, २४।

2. "In the Vedic Age all exchange was by barter"
—Rhys Davids in J. R. E. S. 1910.

3. Cattle followed one of the standards of valuation.
(Vedic Index, P. 234).

4. 'Coins were made both of gold and silver. But whether copper coins were in existence in not quite clear.
—Rigvedia, India, By A. C. Das, p. 87.

५. नि सर्वसेन इपुधोरंसक्त समयोग अजतियस्यवष्टि।
चूष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्म दधिप्रवृद्ध
— ऋग्वेद मं० १ सूक्त ३३।३

श्रम तथा उसका महत्व

'श्रम' का महत्व प्रागैतिहासिक काल से ही विद्यमान था, किन्तु वैदिक काल में इसका और अधिक महत्व बढ़ गया था। वर्ण एवं वर्ण व्यवस्था के आधार पर श्रम का विभाजन कर दिया गया था। आर्थिक क्रियाओं का संचालन करने हेतु विचारकों ने समाज को उनकी क्रियाओं के आधार पर कई भागों में विभक्त कर दिया था, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा दास अलग-अलग कार्य करते थे। फलतः किसी भी वर्ण का व्यक्ति क्यों न हो सभी की क्रियाओं का अन्तिम परिणाम आर्थिक था।[१]

समाज का विभाजन, श्रम विभाजन के आधार पर किया गया था। वर्तमान अर्थशास्त्री एडम स्मिथ के श्रम विभाजन का सिद्धान्त इसी पर आधारित है। अतएव भारतीय विचारकों को ही इस बात का गौरव प्राप्त है कि उन्होंने श्रम विभाजन को जन्म दिया। ऋग्वेद के ७वें मंडल के ६५ सूक्त में क्षत्रिय तथा शूद्र के कर्मों का भाव व्यक्त किया गया है।[२]

श्रमिक

वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय दो भागों में श्रमिकों को विभक्त कर दिया गया था। एक तो वे श्रमिक जो विभिन्न प्रकार के उद्योगों में कार्य करते थे और दूसरे वे जिन्हें 'दास' के नाम से पुकारा जाता था।

---

1. Thus from the very beginning the Indo-Aryan Society was founded on the principle of the division of lobour which is reflected in the caste system. Numerous sub-castes are merely groups of workers each carrying on a singleprocess of an Industry as the caste profession in addition to raw material, works with inherited skill and implements, and a big market of consumers in the country itself, the Industry required for its development on large scale the capital outlay and a scientific organisation only.

—Sri Prasanna Kumar, Glories of india, P. 69.

२. प्रति वां सूर उदिते सूक्तैर्मित्र हुवे वरुणं पूतदक्षम्।
ययोरसूर्यमक्षितं ज्येष्ठं विश्वस्य यामन्नाचिताजिगत्नु।
ताहि देवानामसुरा तावर्या तानः क्षितीः करतमूर्जयतीः।
अश्याम मित्रा वरुणा वयं वां द्यावा च यत्र पीपयन्नहाच।

—ऋग्वेद म० ७, सू ६५. १-२

उस समय सूती उद्योग, कताई-बुनाई, सोने-चाँदी की अनेक वस्तुओं का निर्माण होता, जिनमें श्रमिक कार्य करते थे।[1] ऋग्वेद में कानों में सोने के आभूषण तथा गले में मणि बन्धन का उल्लेख मिलता है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रमिक वर्ग इतना कुशल था, कि सोने-चाँदी के आभूषणों का निर्माण करने में पूर्णतः सक्षम था।

कुटीर उद्योग

वैदिक काल में लोगों ने अपनी आर्थिक दशा को सुदृढ़ बनाने के लिये कुटीर उद्योगों को महत्वपूर्ण स्थान दिया था। वे विभिन्न प्रकार के जानवरों को मार कर उनकी खाल से चर्मोद्योगों की स्थापना करते थे। लोहा सोना जैसी वस्तुओं का आविष्कार इस युग में हो चुका था। उससे विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण कर वे उद्योग को बढ़ावा देते थे। इससे पता चलता है कि उस समय किस उद्योग की किस प्रकार से उन्नति की जा सकती है, इसका लोगों को पूरा-पूरा ज्ञान था। इन उद्योगों से श्रमिकों की कुशलता एवं अकुशलता का भी पता चलता था। गृह उद्योगों को किस प्रकार संचालित किया जाय, उसकी व्यवस्था कैसे की जाय, इन सब के बारे में भी लोगों को पूरी जानकारी थी। ऋग्वेद के विभिन्न मंडलों में रथों की रचना की परिकल्पना की गई है—जो उद्योग-धन्धों के परिणामस्वरूप ही तैयार किये जाते थे।[3]

व्यापार

उस समय व्यापारिक दृष्टि से भी भारत का काफी महत्व था।[4] ऋग्वेद

---

1. M. A. Buch—Economic Life in Ancient India—A Systematic Survey. P. 116.

२. हिरण्य कर्ण मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्येवरिवस्यन्तु देवाः।
अर्यो गिरः सद्यः आ जन्मुषीरोस्राश्चा कन्तूमयेष्वस्मे।
—ऋग्वेद म० १, अ० १८, सू० १२।२।१४

३. ऋग्वेद—१।४८।१०, १।५४।६, १।१२२।७

4. 'Aryans were also traders who pitched their tents with their cattle, horses and dogs near civilized Aryan settlements, and bartered articles of trade for grains, gold cattle or other articles of indigenous Product.'
—A. C. Das—Rigvedic India. p. 126, (Second Ed.)

ऋग्वेद में भी एक स्थान पर कहा गया है :—

श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमोतश्रुतं सदने विश्वतःसीम।
श्रोतु नः श्रोतुराति सुश्रोतुः सुक्षेत्राः सिन्धुरद्भिः॥

में व्यापारी के लिये वणिक् या पणि शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुओं के विनिमय की प्रथा थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर दस गायों को देकर इन्द्र की एक प्रतिमा लेने की बात एक मंत्र में कही गई है। वहीं पर बाजार के भाव ताव एवं सौदा पक्का करने के उत्तरदायित्व का भी उल्लेख मिलता है। "थोड़े दाम पर भारी मूल्य की वस्तु बेच देता है, पर फिर लेने वाले के पास जाकर यह कहता है कि मैंने नहीं बेचा, और उस वस्तु का अधिक मूल्य चाहता है, परन्तु उसने कम दाम पर अधिक वस्तु दे दी है, इसलिये वह मूल्य नहीं बढ़ा सकता। 'भूयसा कनीयो न अरिरेचीत्'—मूल्य कम हो या अधिक, बिक्री के समय जो तय हो उसी को ही दक्ष विक्रेता और दीन क्रेता दोनों को मानना चाहिए।"[1] इसी प्रसंग में मुद्रा का भी उल्लेख मंत्रों में मिलता है, एक स्थल पर १०० निष्क और अश्व देने का वर्णन प्राप्त है।[2]

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

वैदिक काल में अपने ही देश की बनी वस्तुओं का व्यापार देश के विभिन्न स्थानों में तो किया ही जाता था किन्तु उसके साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी महत्व प्रदान किया गया था। उस समय एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को सामग्री ले जाने का मात्र एक साधन समुद्र था। उसके द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता था।

स्तुषे सा वां वरुण मित्र रातिर्गवां शता पृक्षयामेषु पज्रे।
श्रुतुरथे प्रियरथे दवधानाः सघः पुष्टिं निरुन्धानासो अग्मन्॥
—ऋग्वेद, म० १ सूक्त १२२।६—७

१. भूयसा वस्नमचरत्कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्।
स भूयसा कनीयो नारि रेचिद्दीना दक्षा विदुहन्तिप्रवाणम्।
क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जंघनदथैनं मे पुनर्ददतु।
—ऋग्वेद म० ४, सूक्त २४। ९-१०

२. शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान्छत मश्वान्प्रयतान्सघ आदम्।
शत कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिव्रवि श्रवोऽजरमाततान।
उप मो श्यावाः स्वनयेन दत्ता वधूमन्तो दश रथासोअस्थुः।
षष्टिः सहस्त्रमनु गव्यमागात्सनत्कक्षीवां अभिपित्वे अह्नाम्।
चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्त्रस्याग्रे श्रेणिनयन्ति।
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवत उदमृक्षन्त पज्राः।
—ऋग्वेद म० १, सूक्त १२६। २-५।

उस युग में भारतीय आर्यों ने इस क्षेत्र में जो उन्नति की, वह उनके सीमित साधनों को देखते हुए पर्याप्त थी। व्यापारिक दृष्टि से प्राचीन भारतीय लोगों ने दूसरे राष्ट्रों से काफी अच्छा सम्बन्ध बना लिया था।

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि, "हे उग्र कर्माअश्विद्धय ! रथ में धन को धारण कर तुमने सुदास नामक राजा को अन्न पहुँचाया।"[१] इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीय व्यापार की भावना विद्यमान थी। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर लाभ प्राप्ति की भावना व्यक्त की गई है।[२]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय में 'मूलर' ने 'ओरिजिन ऑफ दि ब्राह्मिन् अल्फावेट', पृष्ठ ८४ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि उस समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशेष महत्व था। बैबीलोनिया, असीरिया आदि देशों के साथ भारत का पारस्परिक सम्बन्ध था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये देश अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये प्रयत्नशील थे। व्यापार के लिये समुद्री मार्ग के उपयोग का काफी प्रचलन था। बड़े-बड़े जहाजों के द्वारा व्यापार होता था।[3] इस सम्बन्ध में डॉ० रोयल का मत है कि उस समय फोयनीशियन व्यापारी भारत में व्यापार करने के लिये लाल सागर के मार्ग से होकर आया करते थे।[४] ऋग्वेद में

---

१. सुदासे दस्त्रा वसु बिभ्रता रथे पृक्षां बहतमश्विनो।
रयिं समुद्रादुत वा दिवस्पर्यस्मे धत्तं पुरस्पृहम्।

—ऋग्वेद म० १, सू० ४७। ६।

२. अश्वावतीर्गोमतर्विश्व सुविदो भूरिच्यवन्त वस्तवे।
उदीरय प्रति मा सूनृता उषश्च्चोद राधो मघोनाम्।

—ऋग्वेद म० १, सू० ४८। ३।

3. Dr. Day remarks—"The beginning of the sea-voyages are lost in the obscurity of the past. We know that they were highly developed by 1800 B. C., when Sidon were leading city and that they did not cease to extend when the primacy of phoemician cities passed to lyre" (quoted by S. K. Das—inThe Economic History of Ancient India, p. 28-29.

4. "Long before the Persians had made themselves masters of Babylon (531 B. C.) the Phoenicians had established themselves for pearly fishery and the Indian trade on the

भी समुद्र में नाव से सामग्री ले जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार काफी प्रचलित तथा समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता था।

आय के साधन

वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट हो गया कि उस समय सामाजिक जीवन काफी सुसंगठित था। सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से राजा की कल्पना की जा चुकी थी अतएव वही सारे समाज व राष्ट्र का मालिक होता था। वस्तुतः लोगों को तो कृषि उद्योग, व्यापार आदि साधनों से आय प्राप्त होती थी, किन्तु राजा राष्ट्रीय आय के लिये प्रजा से बलि, भाग तथा शुल्क के रूप में कर लिया करता था। इसके अतिरिक्त सोना तथा अन्य धातुओं को प्राप्त करने का ज्ञान लोगों को वैदिक युग के पूर्व ही हो चुका था। उन्होंने अपनी आय के साधन के रूप में इन धातुओं को अपना लिया था जिनका प्रयोग वैदिक समाज में भी होता रहा। उस समय राष्ट्र की आय किन-किन साधनों से होती थी, इसकी जानकारी के पूर्व आवश्यक है कि तत्कालीन राज्यों तथा उनके शासकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर ली जाय। क्योंकि आय का सीधा सम्बन्ध राजा अथवा शासक से था।

वैदिक काल को विचारों के अभ्युदय का प्रथम चरण कहा जा सकता है, क्योंकि तत्कालीन साहित्य में आधुनिक राजस्व के सिद्धान्तों का प्राथमिक स्वरूप देखने को मिलता है। इस समय तक काफी संख्या में राज्यों तथा साम्राज्यों का अभ्युदय हो चुका था, जिसके अन्तर्गत वित्तीय व्यवस्था करना आवश्यक था। किन्तु उस समय केवल उन्हीं विचारों तथा सिद्धान्तो की रचना की गई जिनसे उन राज्यों तथा साम्राज्यों की रक्षा सम्भव हो सके। सम्राटों अथवा राजाओं के उदय का उल्लेख हमें ऋग्वेद में अवश्य मिलता है परन्तु उनके बाहुल्य से यह भी स्पष्ट होता है कि इस युग के पूर्व भी साम्राज्यों तथा सम्राटों की परिकल्पना की जा चुकी थी। इन साम्राज्यों की वृद्धि के लिये आवश्यक था कि वित्तीय व्यवस्था के लिये

---

isles of lyles and Aradus, the Modern Bahrein island in the Persian Gulf.

Dr. Royal—Essay on the Antiquity of Hindu Medicine, p. 122.

१. वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेदनावः समुद्रियैः।

—ऋग्वेद म० १, सू० २५।

समुचित विचारों का संग्रह कर उन्हें कार्यान्वित किया जाय। इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिये राज्य को वित्त की आवश्यकता थी। अतः राज्य द्वारा कुछ नियम निर्धारित कर दिये गये, जिनके आधार पर प्रजा अपने उत्पादन का कुछ भाग राजकीय कार्यों के लिये प्रदान कर सके। राज्यों को किन-किन साधनों के द्वारा वित्त की प्राप्ति होती थी इसका विस्तृत उल्लेख वेदों में मिलता है।

युद्ध में विजित धन

उस समय वित्त प्राप्ति के साधनों में से एक साधन विजय के द्वारा प्राप्त धन भी था, जो युद्ध तथा आपत्तिकालीन स्थिति के समय प्राप्त किया जा सकता था।[१] इसका उल्लेख हमें मैत्रायणी संहिता में देखने को मिलता है। वहाँ पर इसकी कल्पना 'आज्य' के रूप में की गई है। प्रो० डेल ब्रक ने इस विचार से अपनी सहमति प्रकट की है।[२] उनके अनुसार 'आज्य' विजय में प्राप्त धन का ही एक भाग था, जिसे राजा युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् लिया करता था। (संग्रामजित्य) शब्द से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। इस प्रकार की क्रिया एक सैद्धान्तिक रूप में प्रतिपादित की गई थी और इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन लोगों के द्वारा किया जाता रहा है। प्रो० मेक्डानेल तथा कीथ ने उक्त आज्य तथा 'नीराज्य' दोनों को विजय में प्राप्त धन का ही अंग बताये हैं।

बलि

वैदिक ग्रन्थों में 'बलि' शब्द का प्रयोग मिलता है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की बलि देवताओं तथा देवतुल्य राजाओं के लिये की जाती थी। इसी को तत्कालीन कर प्रणाली भी कहा जा सकता है। वर्तमान समाज में 'कर' का स्वरूप बदल चुका है, किन्तु उस समय राजा को कर के रूप में प्रदान की जाने योग्य वस्तु के लिये 'बलि' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था।[3]

---

1. Booty in battle was one of the sources of wealth to the State and consisted chiefly of flocks and herds.

—R. C. Majumdar, History and Culture of Indian People, Page 396.

२. (क) मैत्रायणी संहिता I. 10, 16: IV, 3.1

(ख) Delbruck Festgruss on Bohtlingk. p. 25 Cited in Vedic Index, p. 86.

३. तं नो अग्ने मघवद्यः पुरुक्षं रयिं निवाजं श्रुतयं युवस्व।
वैश्वानर महि नः शर्म यच्छ रुद्रेभिरग्ने वसुभिः सजोषाः।

—ऋग्वेद म० ७ अ० १ सूक्त ५।९।

उस समय यज्ञ की परम्परा का विशेष प्रचलन था। इसकी भी कल्पना कर के रूप में ही थी जिसे राजा तथा प्रजा के हित में सम्पन्न किया जाता था। यज्ञ की क्रिया से प्राप्त होने वाले पुण्य का भागी राजा तथा प्रजा दोनों को बताया गया है। अतएव आर्थिक दृष्टि से यज्ञ राजस्व का एक महत्वपूर्ण अंग था।

प्राचीन 'बलि' को कर के रूप में स्वीकार करने में विभिन्न विचारकों के अलग-अलग मत हैं। प्रो० जिमर के अनुसार, यह मूलतः ऐच्छिक थी। जिमर के इस कथन को आगे चलकर गल्डेनर तथा ग्रैसमन ने भी स्वीकार किया है। तत्कालीन परम्परा के कारण ही 'बलि' शब्द का प्रयोग आज भी भेंट के रूप में किया जाता है। निष्कर्षतः राष्ट्र की उन्नति, मानव कल्याण में वृद्धि की दृष्टि से देवताओं की अर्चना तथा उनके निमित्त दी गई 'बलि' का अपना महत्वपूर्ण स्थान था।[1]

अनेक मत-मतान्तरों के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय लोगों ने स्वयं अपने पराक्रम से राज्य व्यवस्था को समुचित स्वरूप प्रदान करने के लिये इस 'कर' स्वरूप 'बलि' को भेंट के रूप में जन्म दिया था। इसकी कल्पना 'मनु' के शासक होने के समय से ही की जा चुकी थी। ब्रह्मा द्वारा मनु को राजा बनाये जाने के बाद ही प्रजा ने उत्पादन का १/६ भाग राजा को देने का निश्चय कर लिया था।

'शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर 'बलि' शब्द की व्याख्या तथा उसके अर्थ को समझने का प्रयास किया गया है। जहाँ अध्वर्य, संध्या के समय बलि प्रदान करते समय सोचता है, 'मैं इस जीवन के तत्व को ईश्वर में भेंट करता हूँ,' और तत्पश्चात् वह अपना भोजन ग्रहण करता है। इसी प्रकार अग्नि में होम (आहुति) करने वाले व्यक्ति के द्वारा बलि उसके चारों ओर बाँट दी जाती है।' प्रो० इर्गलिंग तथा टामस ने इस बलि की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रो० टामस ने 'बलि से मुक्त' होने के विचार को आधुनिक कर के विचारों से सम्बद्ध किया है। उनके अनुसार 'बलि' का प्रयोग उस समय धार्मिक क्रियाओं के रूप में

---

1. Prof. Ghoshal—'As the executive designation of the Indo-Aryan Kings receipts from his subject as well as from conquered kings......It is possible that 'Bali' was from the first of the nature of a customary contribution solely upon the free choice.'

—Quoted by B. A. Salatore in Ancient Indian Political and Institutional Thought, p. 2 443.

अनिवार्य रूप से किया जाता था।[१] प्रो० टामस के विचारों से यह भी स्पष्ट होता है कि बलि धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिये एक अनिवार्य कर था। इसका प्रयोग पहले धार्मिक भेंट के रूप में स्वीकार किया जाता रहा परन्तु कालान्तर में मनु-पाणिनि तथा कौटिल्य आदि आचार्यों ने इसे इसी रूप में स्वीकार करने के साथ-साथ इसका सम्बन्ध समाज के आर्थिक पक्ष से भी जोड़ दिया।

उपर्युक्त विचारों के अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बलि एक अनिवार्य कर का स्वरूप था, जिसे आज भी हम अपनी जीवनोपयोगी वस्तुओं में से कुछ भाग कर के रूप में राज्य को प्रदान करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि आज के युग में मुद्रा का एक निश्चित स्वरूप निर्धारित कर दिया गया है और किसी भी प्रकार की बलि निश्चित मुद्रा के रूप में प्रदान की जाती है।

भाग

वेदकालीन अर्थव्यवस्था में दूसरा आय का स्रोत 'भाग' था। यह शब्द एक संयुक्त शब्द भागधुक् से सम्बन्धित है। इसका उल्लेख तैत्तरीय संहिता में मिलता है।[२] वैदिक इण्डेक्स के लेखक इस शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ के विषय में स्वयमेव संदिग्ध है। उन्होंने वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् 'सायण' के अनुसार इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार भागधुक् एक 'कर-संग्रह' कर्ता था। अतएव 'भाग' का अर्थ भी एक प्रकार का कर है।[3] इसके अतिरिक्त काठक

1. Prof. Eggling—Bali is technical term of the portions of duly consecrated good that have to be assigned to all the creatures.'
—Quoted by B. A. Saletore in Ancient Indian Political Thought and Institution, p. 443.

२. अनुमत्यै पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति
धेनुर्दक्षिणा ये प्रत्यश्चः शम्यायाअवशीयन्ते त नै ऋतमेक कपालं
कृष्णं वासः कृष्णतूषं दक्षिणा वीहि स्वाहऽऽहुतिं जुषाण
एष ते निऋते भागो भूते ह्विस्मत्यसि मुञ्चेमम् हंसः स्वाहानमो य
इंद चकारा.............।

—तैत्तरीय संहिता, १।८।२

३. वैदिक इण्डेक्स—२ पृ० १००।

संहिता[1] तथा शतपथ ब्राह्मण[2] में भी 'भाग' शब्द का प्रयोग मिलता है।

इस प्रकार 'भाग' शब्द की गहराई एवं उसके प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक काल में बलि की तरह इसका भी प्रयोग कर प्रणाली के अन्तर्गत ही किया जाता था। किन्तु बाद के विचारकों ने इसकी कर के रूप में विस्तृत व्याख्या की और उसे उत्पादन का १।६ भाग बताया है। इन विचारकों के विचारों के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'भाग' तत्कालीन समाज में प्रचलित एक प्रकार का कर था, जिसे वैदिक समाज में काफी महत्व प्रदान किया गया था। उसी का परिवर्तित स्वरूप आज भी वस्तु कर के रूप में पाया जाता है।

शुल्क

'बलि' तथा 'भाग' की ही भाँति प्राचीन अर्थव्यवथा में 'शुल्क' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यह भी आय के साधनों में से एक था। राज्य लोगों से शुल्क के रूप में धन प्राप्त करता था। अथर्ववेद में शुल्क सम्बन्धी विचार पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं।[3]

'ऋण' के प्रति घृणा

उस युग में यद्यपि ऋण का प्रचलन जोरों पर था, लेकिन लोगों की दृष्टि में ऋण का लेन-देन घृणित समझा जाता था। वे ऋण का भुगतान न करना पाप समझते थे। ऋग्वेद तथा अथर्वेद दोनों में इसे पाप कहा गया है। ऋग्वेद की कुछ पंक्तियों में यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी को 'ऋण' न लेना पड़े चाहे वह कहीं अन्यत्र भले ही चला जाय। एक स्थान पर वैदिक मानव प्रार्थना करता है 'क्या हम कभी इस ऋण से मुक्त हो सकेंगे'।[4] एक अन्य स्थान पर यह भी बताया गया है कि ऋण का भुगतान न करने पर किस प्रकार से व्यक्ति अपने

---

१. इमा हव्या वहते कल्पयामों मा देवानां मूमुहो भागाधेयम्।
—कपिलष्ठलकठ संहिता २।१०।११।१२

२. "एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व......"
—शतपथ ब्राह्मण २।५।३।६

३. वैदिक इण्डेक्स, खण्ड दो, पृ० ३८७।

४. द्वेष्टि स्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्त्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्।
अन्येजायां परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदनेवाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातार एनमाहुर्न जानीमोनयता बद्धमेतम्॥४॥
—ऋग्वेद, म० १०। सूक्त ३४। ३-४।

नैतिक स्तर से गिर जाता है।[1] यही कारण है कि उस काल में ऋण का व्यवहार विशेष नहीं चलता था। प्रायः पासा खेलने वाले ऋणग्रस्त हो जाया करते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर आठवाँ व १६वाँ भाग ब्याज के रूप में या मूल लौटाने का उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ पर यह भी कहा गया है कि जिसके पास धन होता है, वह ऋण' से मुक्त रहता है।[2]

अधिकतम सामाजिक कल्याण

धनोत्पादन की क्रियाओं के साथ-साथ उस समय के लोग अधिकतम सामाजिक कल्याण की विचारधारा में डूबे थे। वे चाहते थे कि उनकी सामाजिक सम्पत्ति किसी प्रकार से नष्ट न हो। उस समय के शासक इस विचारधारा को पूरा सम्मान देते थे। क्षत्रियों के द्वारा सुरक्षित राज्य में किसी प्रकार की अशान्ति नहीं होने दी जाती थी। धार्मिक क्रियाओं के माध्यम से लोग अधिकाधिक सामाजिक कल्याण की भावना रखते थे। इस आशय को ध्यान में रखते हुए अनेक वैदिक मन्त्रों में शत्रुओं से रक्षा करने तथा धन को बढ़ाने की प्रार्थनायें की गई है।[3]

ऋग्वेद के १०वें मण्डल में कहा गया है कि तुम लोग साथ-साथ चलो, एक स्वर से बोलो और तुम लोगों का मन एक समान हो। ग्राम की एकता का ध्यान रखते हुए तुम लोग अपनी सम्मिलित सम्पत्ति का इस प्रकार विभाजन करो, जिस प्रकार देवता लोग पहिले से करते चले आ रहे हैं......?'[4]

---

१. यथा कलां यथा शफं यथा ऋणं सन्नयामसि।
एवा दुःष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये संनयामस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः।
—ऋग्वेद ८। ४७। १७।

२. परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्यरायः पतयः स्याम।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मापथो वि दुक्षुः।
—ऋग्वेद म० ७, सूक्त ४। ७

३. (क) शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये। नृभ्यो नारिभ्योगवे॥
अस्मे सोम श्रियमधि नि धेहि शतस्यनृणाम्। महि श्रवस्तु विनृम्णम्॥
—ऋग्वेद अ० १। सूक्त ४३। ६-७।

(ख) ....यत्कामास्ते जुहुमस्तान्नो अस्तु। वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
—ऋग्वेद १०। १२१। १०

४. संगच्छध्वं संवदध्वं मनांसि संवो जानताम्
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्
समानं मन्त्रमभि मन्त्रयेवः समानेन वो हविषाजुहोमि।

माँग और पूर्ति

वैदिक मन्त्रों में बार-बार धन की याचना इन्द्र से की गई है और इन्द्र को धन का स्वामी बताया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन्द्र की कल्पना राजा के रूप में की गई है। समाज का अधिकांश वर्ग दीन था जो सदैव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यज्ञादि कर्म कर इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं को प्रसन्न करते और उनसे धन की याचना करते थे। समाज में कृषि तथा विभिन्न उद्योगों से आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति तो होती ही थी, किन्तु धन की याचना सम्बन्धी मन्त्रों से प्रतीत होता है कि पूर्ति की अपेक्षा माँग अधिक थी। इन मन्त्रों से यह भी परिलक्षित होता है कि समाज में गरीब एवं धनी वर्ग के दो तबके थे। जिसमें धनी वर्ग के लोगों से गरीब वर्ग के लोग हमेशा धन की कामना किया करते थे।

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि 'उत्तम बुद्धि वाले इन्द्र हमको गावादि धन देते हैं, हे इन्द्र, हमको दोनों हाथों से धन प्राप्त कराने के लिये हमारी बुद्धि को तीक्ष्ण करो। सोम सिद्धि होने पर तुम धन के लिये उससे हर्ष प्राप्त करो। तुम अत्यन्त धन वाले माने गये हो। तुम हमारी कामना पर ध्यान देते हुए हमारी रक्षा करो, हे इन्द्र, यह मनुष्य आपके ग्रहण करने योग्य पदार्थों को बढ़ाते हैं। तुम दान करने वालों के धनों को जानकर हमारे लिये ले आओ।'[1]

जनसंख्या

वैदिक काल में लोग संतान की उपेक्षा नहीं करते थे, बल्कि संतान की वृद्धि के लिए कामना करते थे। एक ओर धन की याचना दूसरी ओर संतान की वृद्धि इस बात का परिचायक है कि वे जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ धनोत्पादन

समानी ववोआकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु मनो यथा वः सुसहासति ॥

—ऋग्वेद, म० १०। १८१। २-४

१. सं गृभाय पुरू शतोभयाहस्त्या वसु शिशीहिराय आभर।
मादयस्व सुते सचा शवसे शूरराधसे।
विद्मा हित्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव।
एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्पन्तिवीर्यम्।
अन्तर्हि एव्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषांतेषां ने वेद आ भर।

—मं० १। सूक्त ८१। ७-९

के लिये प्रयत्नशील थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि धन की वृद्धि के लिये वे यज्ञ आदि नाना प्रकार की क्रियायें सम्पन्न करते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि "धनदाता अग्नि हमारे लिये बढ़ने योग्य धन दें। वे हमें वीरता युक्त धन, सन्तान, अन्न आदि से पूर्ण दीर्घायु प्रदान करें।"[1] एक दूसरे स्थान पर कहा गया है कि "हम सुन्दर क्षेत्र, सुन्दर मार्ग और श्रेष्ठ धन की इच्छा से यज्ञ करते हैं।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के लोग जनसंख्या की वृद्धि के पक्ष में थे, विपक्ष में नहीं।

जुआ (द्यूत)

उस समय के समाज में एक ओर जहाँ कुछ अच्छाइयां थीं, वहीं बुराइयों की ओर लोगों का झुकाव कुछ कम न था। जुआ खेलने की प्रथा इसका जीता जागता उदाहरण है। इसी के कारण लोग एक दूसरे से ऋण लेते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि 'पांसे के घोर आकर्षण में जुआरी खिंचा रहता है। उसके पासे की चाल खराब होने पर उसकी भार्या भी उत्तम कर्म वाली नहीं रहती. जुआरी के माता-पिता और भाई भी उसे न पहिचानने का ढंग अपनाते हैं और उसे पकड़वा देते हैं। मैं अनेक बार चाहता हूँ कि अब द्युत नहीं खेलूँगा। यह विचार करके जुआरियों का साथ छोड़ देता हूँ पर चौसर पर पीले पासों को देखते ही मन ललचा उठता है और मैं विवश होकर जुआरियों के स्थान की ओर गमन करता हूँ।'[2]

---

१. द्रविणोदा द्रविणसस्तुरस्य द्रविणोदाः सनरस्य प्रयंसत्।
द्रविणोदा वीरवतीं मिषं मो प्रविणोदा रासते दीर्घमायुः।
—ऋग्वेद म० १, सूक्त ९६, ८

ऐता नो अग्ने सौभगा दिदीह्यपि क्रतुं सु चेतसं वतेम।
विश्वा स्तोतृभ्यो गृणते च सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥
—म० ७, सू० ४।१०

२. अन्ये जाया परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदनेवाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमोनयताबद्धमेतम्।
यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव ही ये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतं एमोदेषां निष्कृतं जारिणीव
—ऋग्वेद-मंत्र १०, सू० ३४। ४-५

वेद से पूर्ववर्ती युग में पुरातात्विक उपलब्धियों तथा प्राप्त चिह्नों को ही अपने आर्थिक विचारों का आधार माना गया है, किन्तु वैदिक युग में हमें मूल ग्रन्थों में अंकित विचारों के दिग्दर्शन हुए। इस युग में धर्म और अर्थ दोनों का समानान्तर विकास हुआ और व्यवहारिक जीवन में विचारों का प्रयोग किया गया। कृषि, पशुपालन, व्यापार (वाणिज्य) अर्थात् वार्ता शास्त्र के विचार व्यवहार के रूप में सामने आये। वेद ग्रन्थों में वर्णित आधार पर आर्थिक विचारों का विवरण प्राप्त होता है। वेद पूर्व तथा वैदिकयुग के बीच विचारों का एक सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ वेदपूर्व सिन्धु सभ्यता मूलतः नगर सभ्यता है और उसकी सारी आर्थिक अवधारणाएँ इसी परिप्रेक्ष्य में विकसित हुई दीखती है वहाँ दूसरी ओर वैदिक सभ्यता मूलतः ग्राम सभ्यता है और उसका विकास पूर्णतया कृषि, पशुपालन और ग्राम उद्योग से सम्बद्ध आर्थिक अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में हुआ है।

अध्याय ४

उत्तर वैदिककाल

अध्याय ४

उत्तर वैदिककाल

वैदिक काल आर्यों के विकासशील आर्थिक जीवन का प्रथम चरण था। किन्तु उत्तर वैदिक काल में लोगों के आर्थिक जीवन में काफी परिवर्तन आ गया और सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ आर्थिक विचारों में भी प्रौढ़ता आती गई। वैदिक काल की जातियों के विभाजन में परिवर्तन तथा वर्ण विभाजन के साथ-साथ व्यवसायों में भी काफी वृद्धि और उनका विकास हो गया था। पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं की भी आर्थिक स्थिति में पहले की अपेक्षा काफी सुधार था। वे कुटीर उद्योगों तथा इसी प्रकार की अन्य अर्थकारी कलाओं में भाग लेने लगी थीं।

आर्थिक विचारों के स्रोत

पूर्व वैदिक काल की सामाजिक व्यवस्था ग्राम्य सभ्यता के अन्तर्गत आती है परन्तु उत्तर वैदिक काल में यह सभ्यता नागर सभ्यता के रूप में बदल गई। इस काल के आर्थिक विचारों का पता हमें संहिताओं (साम, यजुः, अथर्व) ब्राह्मण ग्रंथों तथा आरण्यकों से चलता है। इन ग्रन्थों में आर्थिक जीवन की क्रियाओं एवं समस्याओं का गहन अध्ययन एवं अनुशीलन किया गया है।

सामाजिक परिवर्तन

पूर्व वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार जातियों का विभाजन उनके गुण एवं कर्म के अनुसार कर दिया गया था, किन्तु उत्तर वैदिक काल में जातियों के विभाजन में और भी अधिक वृद्धि हो गई थी। वाजसनेयी संहिता में एक और जाति का उल्लेख मिलता है, जिसे 'मिश्रित जाति' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में जनसंख्या की काफी वृद्धि हो चुकी थी।

इस युग में ऐसे नये राज्यों का विकास हुआ जिनका उल्लेख पूर्व वैदिक काल में नहीं प्राप्त होता। कुरु तथा पंचाल राज्य अपनी उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुके थे। उनकी राजधानी के विवरण से तत्कालीन आर्थिक जीवन का भी पता

चलता है।[1] आर्यों के राज्य विस्तार और प्रकार से इस बात का भी अनुमान लगाया जाता है कि आर्यों की जनसंख्या में वृद्धि के साथ ही कार्य-विभाजन भी जटिल होता गया और वर्णों में शाखाएँ, उपशाखाएँ निकलती आयीं।

वर्ण विभाजन

ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों का जिक्र किया गया है। संहिताओं तथा ब्राह्मण काल तक उपर्युक्त वर्णों के स्वरूप में काफी अधिक परिवर्तन आ गया और लोग अधिकाधिक धनोपार्जन का प्रयास करने लगे। यद्यपि, ब्राह्मण जाति सर्वश्रेष्ठ जाति मानी जाती थी और उसका कार्य, दान देना, दान लेना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना आदि था, किन्तु यह भी इस जाति के लोगों के आर्थिक जीवन अथवा जीविकोपार्जन का एक चक्र था। आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से यह नियम बना दिया गया था कि ब्राह्मण दूसरों द्वारा उपार्जित धन को दान के रूप में ग्रहण कर क्षत्रिय कृषकों से आय (कर) लेकर और वैश्य स्वयं खेती, व्यापार व पशुपालन कर धन अर्जित करें और उसी से अपनी जीविका चलायें। शूद्र के लिए केवल मजदूरी करने का ही नियम था।[3] वह समृद्धिशाली लोगों की मजदूरी कर अपनी जीविका चलाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में समाज को आर्थिक नियमों तथा कार्य विभाजन की श्रृंखला में पूरी तरह बाँध दिया गया था।

शिक्षा

उस समय शिक्षा के क्षेत्र में लोग काफी प्रगतिशील थे। वेद, वेदांगों का अध्ययन आर्थिक जीवन के क्षेत्र में सफलता के हेतु आवश्यक था। किन्तु पुस्तकों व लिखित आधार पर कोई शिक्षा की परिपाटी न थी; गुरु एवं शिष्य की परम्परा का निर्वाह कर ज्ञान प्राप्ति के लिये लोग प्रयत्नशील थे। इस समय लेखन कला का बहुत कम ज्ञान था। अथर्ववद में वैदिकयुगीन छात्र (ब्रह्मचारी) का उल्लेख किया गया है। वे भिक्षाटन करके स्वयं अपनी वृत्ति उपार्जित करते थे और अपने गुरुओं को

---

१. सहोवाच-विदेघो माथवः क्वाहं भवनित्यत एव ते
प्राचीन भुवनमिति होवांच सैषाप्येतर्हि कोसल विदेहानां मर्यादा तेहिमाथवाः
—शतपथ ब्राह्मण, १, ४, १, १७

२. विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखेबभार
—शतपथ ब्राह्मण, १, ४, १, १०

३. भूरति वै प्रजापतिः ब्रह्माजनयत भुवऽइति क्षत्रं
स्वरिति विशमेतद्वाऽइदगोंग सर्वं यावद् ब्रह्मक्षत्रं व्विट सर्वेणैवाधीयते।
—श० ब्रा० २, १, ४, १२

भी देते थे।[1] गुरु के लिये भिक्षा माँगना तथा स्वयं उपार्जित करना वैदिक छात्रों का प्रमुख कर्तव्य होता था। स्त्रियाँ भी शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी थीं और शिक्षा तथा आर्थिक क्षेत्र में काफी योगदान देती थीं। शिक्षा प्राप्त करने के बाद शिष्य अपने घर वापस लौटता और तब गुरू को स्वेच्छापूर्वक दक्षिणा देता। इस प्रकार परस्पर आर्थिक वृत्ति उपार्जित की जाती थी।

राजा

इस युग में राजा का महत्व और अधिक बढ़ गया था। राज्य की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को देखते हुए विभिन्न विभागों की देख रेख के लिये अलग-अलग अधिकारी नियुक्त कर दिये जाते थे। पुरोहित, राजन्य, महिषी, सेनानी, भागधुक्, जिसे कर वसूल करने वाला कहा जाता था, क्षेत्रीय आदि की देख-रेख में शासन के विभिन्न कार्य चलाये जाते थे। शासन का सर्वोच्च अधिकारी राजा ही होता था। राज्य के अनेक मामलों के सुलझाने हेतु राजा सभा व समितियों की स्थापना करता था जिनमें विभिन्न प्रकार के विवादों पर विचार विमर्श किया जाता था। अथर्ववेद में सभा एवं समितियों को प्रजापति की कन्यायें कहा गया है।[२]

स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों का समाज में एक विशिष्ट स्थान था।[3] गार्गी, वैनत्रयी, मैत्रेयी आदि सुशिक्षित महिलायें सामाजिक उत्थान में काफी हाथ बटाती थीं। स्त्रियों के पास अपनी कोई निजी सम्पत्ति नहीं थी, अधिकांशतः वे अपने पिता अथवा पति की सम्पत्ति पर निर्भर करती थी। इसी कारण कन्याओं का जन्म होना अच्छा नहीं समझा जाता था। महिलायें भी कुटीर उद्योग के विकास में काफी परिश्रम करती थीं।

---

१. ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्।
—अथर्ववेद ११।३।५।६

२. सभाच मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने
—अथर्ववेद-७, १, १२, १

ध्रुवायते समितिः कल्पतामिहि
—अथर्ववेद ८८, ३

नास्मै समितिः कल्पते
—अथर्ववेद ५, १९, १५

३. न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेशमनि जायते।
यस्मिन राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्या॥
—अथर्ववेद का० ५ अ० ४, सूक्त १७, १३

आर्थिक जीवन

आर्थिक दृष्टिकोण से भी इस युग में काफी परिवर्तन हो चुके थे। कृषि के विकास के लिये नये-नये विचारों को जन्म दिया गया और अधिकतम उत्पादन के लिये लोग प्रयत्नशील रहे। पूर्व वैदिक काल में खेती की जुताई के लिये ५-६ बैलों का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु इस युग में २४ बैलों के द्वारा भी हल खींचे जाते थे। इसका उल्लेख हमें काठक संहिता में प्राप्त होता है।[१] उत्पादन बढ़ाने के लिये मात्र एक साधन खाद का प्रयोग था। अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण में खाद के प्रयोग का उल्लेख मिलता है।[२]

कृषि

इस युग में कृषि की विधायें ऋग्वेदकालीन विधाओं से ही देखी जाती थी। किन्तु भूमि को उपजाऊ बनाकर विभिन्न प्रकार के खाद्यान्नों के उत्पन्न करने का ज्ञान काफी अधिक बढ़ चुका था। लोग खेती में नये-नये तरीके अपनाने लगे थे। अथर्ववेद में खेती करने वाले हल के निर्माण फसल की कटाई करने, खाद्यान्न को संचित रखने आदि की विधाओ का उल्लेख मिलता है। इस युग में लोग बहुत से ऐसे अनाजों का उत्पादन करने लगे थे, जिनके बारे में वे ऋग्वेद काल तक अनभिज्ञ थे, जैसे पहिले चावल का कोई ज्ञान नहीं था, किन्तु उत्तर वैदिक काल में इसका भी

---

१. काठक सहिता, १५।२।२२।३

२. (क) संजग्माना अविम्युषिरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रतीः सौम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥

—अथर्ववेद का ३ अ० ३ सू० १४, ३।

शतपथ ब्राह्मण में 'खाद' का विवरण इस प्रकार मिलता है—

२. (ख) अथाखुकरीषं सम्भरति। आखवोह वाऽअस्यै पृथिव्यै रसं विदुस्त स्मान्तेऽधोऽद्य इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठाऽअस्यै हि रसं। विदुस्ते यत्र तेऽस्यै पृथिव्यै रसं विदुस्ततऽउत्किरन्ति तदस्याऽ एवैनमेतत्पृथिव्यै रसेन समर्थयति तस्मादाखुकरीषं यं सम्भरति पुरीष्यऽइति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति समानं वै पुराष च करीष च तदेतस्यै वावरूध्यै तस्मादाखुकरीषं सम्भरति।

—शतपथ ब्रा० २, १, १, ७

उल्लेख मिलता है।[1] फसल किस समय बोई जानी चाहिए, कैसी जमीन हो, आदि आदि के विचारों में भी अनुभव के कारण गंभीरता आ गई थी।[2]

उद्योग धन्धों का विकास

उद्योग धन्धों का बहुमुखी विकास होने लगा था। पुरुष वर्ग ही नहीं स्त्रियों का भी कुटीर उद्योग धन्धों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा। सुईकारी का काम करने वाली या कसीदा काढ़ने वाली, बाँस का काम करने वाली, बेंत की टोकरी आदि बनाने वाली स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस युग में लोग श्रम को अधिक महत्व देने लगे थे और हर वर्ग सामाजिक विकास की दिशा में प्रयत्नशील था। उद्योग धन्धों के साथ-साथ धातुओं का भी विकास तथा अनेक प्रकार का उपयोग समाज में होने लगा था। लौह धातु का प्रचलन ऋग्वेद के युग में नहीं था, किन्तु यजुर्वेद में हमें उसका संकेत मिलता है, लौह को यजुर्वेद में श्याम के नाम से पुकारा जाता था। तांबा, सोना आदि धातुओं से आभूषण तैयार करने आदि की प्रक्रियाओं का भी उल्लेख मिलता है।[3] ऋग्वेद में सोना (स्वर्ण) के सिन्धु आदि नदियों से प्राप्त होने की बात कही गयी है, किन्तु इस युग में सोना रत्नगर्भा पृथ्वी के अन्दर से निकालकर और उसे गलाकर तैयार किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में यह भी उल्लेख मिलता है कि सोना जल में धोकर निकाला जाता था।[4]

---

१. स वा आरण्य मेवाश्नीयात्। या वारण्या ओषधमो
यद्वा वृक्ष्यं तदुह स्महापि बर्कुवर्ष्णो माषान्में
पचत न वा एतेषां हवि गृहणन्तीति तदुतथा
न कुर्याद्व्रीह्यिवयोर्वाऽएतदुपजं यच्छमीधान्यं
तद्व्रीहि यवावेवैतेन भूयांसो करोति तस्मादारण्य
में वा न्श्रीयात्।'

—श० ब्रा० १, १, १, १०.

२. तत एतर्हिं प्राचीनं बहवो ब्राह्मणस्तद्धाक्षेत्र
तरमिवास स्त्रावितरमिवारवदितमग्निना वेश्वानरेणेति।

—श० ब्र० १, ४, १, १५,

३. अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च में पर्वताश्च मे सिक्ताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मे ऽयश्चमे श्यामं च मेलोहश्च मे। सीसंच मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

—यजुर्वेद १८।१३

४. (क) शिला भूमि रश्मा पांसु सा भूमिः संधृताधृता।
तस्यै हिरण्य वक्षसे पृथिव्यां अकरं नमः॥

—अथर्ववेद का० १२ अ० १, १, २६

व्यापार एवं व्यवसाय

उस समय भी व्यापारिक संघ थे और उन्हें 'श्रेष्ठि' संघ के नाम से पुकारा जाता था। अथर्ववेद के मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में आभूषण व अन्य औद्योगिक वस्तुओं के क्रय-विक्रय में सौदेबाजी काफी बढ़ गई थी। व्यापारी वर्ग अपनी लागत को देखते हुए ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करते थे। व्यापार पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ चुका था और समुद्री मार्गों से एक स्थान से दूसरे स्थान को ऊँचे दामों में बेचने के लिये वस्तुयें ले जायी जाती थीं।[१] समुद्र व्यापारिक मार्ग के रूप में काफी प्रतिष्ठित हो चुका था।

श्रमिकों का विभाजन

दक्षिण भारत की उपजाऊ भूमि में अधिकतम कच्चे पदार्थों का उत्पादन

शतपथ ब्राह्मण में भी अनेक धातुओं का उल्लेख किया गया है :—

२. (ख) अथ यत्केशवस्य पुरुषस्य। न वा एष स्त्री
न पुमान्यत्केशवः पुरुषो यद्‌ह पुमास्तेनन
स्त्री यदु केशवस्तेनो न पुमान्नैतद यो न
हिरण्यं यल्लोहायसं नैते क्रिमयो
ना क्रिमयो यद्दन्दश्का अथ यल्लोहायसं
भवति लोहिता इवहि दन्दश्कास्तस्मात्केशवस्य पुरुषस्य॥

—शतपथ ब्रा० का० ५, ४, १, २

२. (ग) सिकताभ्यः शर्करामसृजत। तस्मात्सिकताः
शर्करैवान्ततो भवति शर्करायाऽअशमानं
तस्माच्छर्कराशमैवान्ततो भवत्यश्मनोऽयस्तस्मादश्मनोऽयों धमन्त्ययसा
हिरण्यं तस्मादयो बहुध्मातं हिरण्य संकाशमिवैव भवति॥

—शतपथ ब्रा० ६, १, ३, ५

१. (क) इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि सन ऐतु पुरएतानो अस्तु।
नुदन्नरातिपरिपन्थिनं मृगं स ईशानोधनदा अस्तु मह्यम्॥
ये पन्थानोबहवो देवयाना अन्तराद्यावापृथिवीसंचरन्ति।
ते मां जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥

—अथर्ववेद ३, ३, १५, १।२

(ख) शुनं नो अस्तु प्रयणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदनौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च॥

—अथर्ववेद का० ३ अ० ३ सू० १५।४

किया जाता था। अतः लोगों के आवश्यक व्यवसायों की संख्या और परिभाषा में काफी वृद्धि कर दी गई। इस प्रकार रथकार, शिकारी, ग्वाले, मछवाहे, कृषक, टोकरी बनाने वाले, धोबी, रस्सी बनाने वाले, जुलाहे, रंगाई का काम करने वाले, भारवाहक, गायक आदि अपने-अपने कार्यों में संलग्न होते जा रहे थे। हम देखते हैं कि पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक युग में श्रमिकों की जिम्मेदारी अधिक बढ़ गई थी।[1]

विनिमय

तत्कालीन समाज में यद्यपि पशुधन आय का पहला स्रोत माना गया है, किन्तु सोना, चांदी, तांबा, लोहा आदि धातुओं के उद्योगों से भी पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त होती थी।[2] इस युग में प्राप्त विभिन्न प्रकार के सोने के सिक्कों से पता चलता है कि लोग इनका प्रयोग व्यवसाय तथा लेन-देन में करने लगे थे—जबकि पूर्व वैदिक (ऋग्वेद) काल में पशुओं के द्वारा विनिमय अधिक प्रचलित था। अतएव यह कहा जा सकता है कि वस्तु विनिमय का स्थान धीरे-धीरे मुद्रा ने लेना प्रारम्भ कर दिया था। शतपथ ब्राह्मण, काठक संहिता आदि में सिक्कों का अनेकशः उल्लेख मिलता है। ये विचार इस तथ्य के द्योतक हैं कि व्यापारिक विचारों में काफी परिपक्वता आ चुकी थी और समाज आर्थिक उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा था।[3]

धन का वितरण

कृषि तथा विभिन्न उद्योगों से किये गये उत्पादन के वितरण का माध्यम व्यापार तथा व्यवसाय था। व्यापार तथा व्यवसाय में कोई विशेष अन्तर नहीं था, केवल मात्रा में अन्तर होता था। यातायात, विनिमय, तथा महाजनी के साधनों के

---

१. तपसे कौलालं मायायै कर्मारं रुपाय मणिकारं
शुभे वयं शरव्याया इषुकारं हैत्यै धनुष्कारं
कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जं
मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम् ॥

—यजुर्वेद अ० ३०,७

२. नव प्राणान्नवभिः स मिमीते दीर्घायुत्वय शतशारदाय।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि ॥

—अथर्ववेद ५, ६, २८, १

३. अथ देवाः। अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेसस्तेभ्यः
प्रजापतिरात्मानं प्रददौ यज्ञो हैषामास यज्ञोसिह देवानामन्नम् ॥

—श० ब्रा०—५, १, १, २

कारण उस समय वाणिज्य का उत्कर्ष अधिक था। उपर्युक्त दोनों कार्यों के लिये बाजारों तथा उन तक पहुँचने के लिये यातायात की समुचित व्यवस्था की गई थी। अथर्ववेद संहिता के अनेक मन्त्रों से पता चलता है कि उस समय का व्यापार काफी बढ़ा चढ़ा था। फिर भी समाज में धन का वितरण असमान था। धनी वर्ग समाज में धन का संचय कर अपना अस्तित्व बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील थे, जबकि गरीब लोग सामान्य सामाजिक स्तर से काफी नीचे गिर चुके थे। सामाजिक असमानता पहले की अपेक्षा तेजी के साथ गहन और तीव्र होती जा रहीं थी।

व्याज तथा ऋण

व्यापार करने वाले श्रेष्ठियों ने, जो संघों के मालिक समझे जाते थे, व्याज एवं ऋण के लेन-देन की प्रथा प्रचलित कर दी थी।[१] अथर्ववेद में उल्लिखित व्याज तथा उधार लेने वाले के एक विवरण से पता चलता है कि इस समय ऋण लेने की प्रथा मौजूद थी, किन्तु कितने प्रतिशत ब्याज लिया जाता था, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।[२] क्रय-विक्रय में 'कृष्णाल' तथा 'निष्क' का प्रयोग किया जाता था।[3] अथर्ववेद के अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता में भी 'ऋण' लेने के प्रचलन का वर्णन विस्तृत ढंग से किया गया है।

आय

ऋग्वेद के १०वें मंडल में राजा को लोगों से कर लेने वाला कहा गया है, किन्तु अथर्ववेद में उसे करारोपण का भी अधिकार दिया गया है।[४] इसके अतिरिक्त भूस्वामित्व सम्बन्धी अनेक ऐसे विचार मिलते हैं जिनकी कल्पना ऋग्वेदिक युग में

---

१. त्व ह्यंग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि
मो षु पंणीरंभ्येतावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः।
—अथर्ववेद-का० ५ अ० ५ सूक्त ११, ७

२. यथा कलां यथा शफं संनन्यन्ति
एवा दुःस्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥
—अथर्ववेद का० ६। अ० ५ सूक्त ४६, ३

३. एषा इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रजः।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् ॥
—अथर्ववेद का० २२ अ० ८ सूक्त १२७, ३

४. एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धयसर्वमस्मैः ॥
—अथर्ववेद का० ४ अ० ५ सू० २२।२

नहीं की गई थी। इस युग में राजा द्वारा विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति, कर वसूलने के लिये की जा चुकी थी। कृषक, व्यवसायी तथा समाज के प्रायः सभी उद्यमी वर्ग से राष्ट्रीय आय का अंश समय-समय पर वसूल किया जाता था।

महाजनी

इस युग में धन का संचय श्रेष्ठि वर्ग के हाथों होता था और उन्हीं के द्वारा विनिमय अथवा परस्पर आदान प्रदान किया जाता था, किन्तु महाजनी का कोई अलग संगठन रहा हो इसका कोई विवरण नहीं मिलता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में धन के आदान-प्रदान का अत्यधिक महत्व बताया गया है।[१] दूसरे की सम्पत्ति को लोग धरोहर के रूप में भी धारण किया करते थे। इस धरोहर रखने की प्रथा से स्पष्ट होता है कि बैंकिंग प्रणाली की रूपरेखा का सूत्र पात्र यही से प्रारम्भ हो गया था।

कर

पूर्व वैदिक युग की तुलना में उत्तर वैदिक काल के करों की संख्या में वृद्धि हो गई थी। जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ करारोपण नीति में भी परिवर्तन होता गया और लोगों पर नये-नये कर लगाये जाने लगे। राज्य के कार्यों का विस्तार होता गया और शासक द्वारा कर लगाने की आवश्यकता बढ़ती गयी। लोगों ने परिश्रम करके उत्पादन में भी काफी वृद्धि की जिससे वे कर का भुगतान करने के लिये सक्षम हो सके। शतपथ ब्राह्मण में राजा के द्वारा कई बार लोगों को कर भुगतान करने की बात कही गयी है।[२]

यातायात के साधन

आर्थिक प्रगति तथा व्यापार के लिये आवश्यक था कि यातायात के समुचित साधन हो। इसी कारण रथों का और उनके चलने के लिये राजमार्गों का निर्माण किया जाता था। अथर्ववेद में 'विपथ' शब्द का प्रयोग किया गया, जिससे स्पष्ट होता है कि लोगों ने अपनी व्यापारिक तथा सामाजिक उन्नति के लिये सड़कों का

---

१. देवा सुराः संयेता आसन्। ते देवा विजेयमुपयत्तः।
अग्नीषोमयोस्तेजस्विनीस्तनू संन्यदधतः। इदमु नो भविष्यति।
यदि नो जेष्यन्तीति।

—तैतिरीय ब्राह्मण प्रपा० ३ अनु० १

२. यः कामयेत् दाने कामा में प्रजाः स्युरिति
स पूर्व योः फल्गुन्योरग्निमादधीत।

—तैतिरीय ब्रा० प्रपा० १ अनु० २

निर्माण किया था ।[१] इसके अतिरिक्त यातायात के साधनों के रूप में घोड़ा, हाथी, तथा समुद्री मार्ग में नावों तथा जहाजों का प्रयोग किया जाता था ।

इस युग को वैदिक युग से अलग नहीं किया जा सकता, किन्तु ऋग्वेदिक सभ्यता तथा ऋग्वेद के बाद की सभ्यता में काफी अन्तर आ गया था इसमें संदेह नहीं है । इसीलिये यहाँ पर दोनों का अलग-अलग अध्ययन करना नितान्त आवश्यक हो गया । ऋग्वेद की सभ्यता 'ग्राम्य' सभ्यता कहलाती थी अर्थात् इसके अन्तर्गत ग्रामीण आर्थिक जीवन और ग्राम्य आर्थिक विचारों का विवरण प्राप्त होता है । किन्तु ऋग्वेद के बाद की सभ्यता नगर की सभ्यता हो गई और रहन-सहन, कृषि, पशु-पालन, उत्पादन, व्यापार, व्यवसाय आदि की क्रियाओं में काफी अन्तर आ गया ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक युग आर्थिक विचारों की दृष्टि से एक समृद्ध युग था । इस युग के बाद ही सामाजिक जीवन में काफी विस्तार हो गया और राज्य, राजा तथा राष्ट्र के आधार पर आर्थिक क्रियाओं का सम्पादन होने लगा । इसके साथ ही आर्थिक विचारों के विशेषज्ञ के रूप में अर्थ-शास्त्रियों का भी प्रादुर्भाव होने लगा ।

---

१. भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दो विपथम् ।

—अथर्ववेद का० १५ अ० १ सूक्त २।७

अध्याय ५

उपनिषद्काल

अध्याय ५

उपनिषद्काल

उपनिषदों का सम्बन्ध आध्यात्म विचार से है। इसका शाब्दिक अर्थ है गुरु के सानिध्य में अर्थात् गुरु के समीप बैठकर आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति करना। उपनिषद् कालीन समाज में ब्रह्म के स्वरूप, जीव तथा आत्मा के सम्बन्ध आदि का विवेचन किया गया है। परन्तु आध्यात्मिक जीवन को आर्थिक जीवन से कभी अलग नहीं किया जा सकता। उपनिषद्कार इस बात पर बल देते हैं कि मन को सांसारिक कर्तव्यों के उचित मात्रा में पालन करने तक ही सीमित रहने दिया जाय। धन और वासना की जितनी अधिक उपयोगिता है, उतनी सीमा तक ही उनमें मन को डूबने दिया जाय। अति आकर्षण, अति मोह, अति लोभ में, जो जन मानस डूबा पड़ा है उसके इस स्थिति से बिना ऊपर उठे न तो आत्म कल्याण संभव होगा, न उनमें मन ही लगेगा। उपनिषदों में आत्म लक्ष्य को प्रमुखता देने और मन को लौकिक आकर्षणों से बचाने का स्थान-स्थान पर प्रतिपादन हुआ है। इसी को सदाचार, तप, संयम, मनोनिग्रह, कर्मयोग आदि नामों से पुकारा जाता है। इस समय के लोगों ने आत्म कल्याण के पथ पर चलने का प्रधान आधार 'अन्न शुद्धि' को माना है, क्योंकि उसी पर मन की शुद्धि भी निर्भर है। फलतः आहार व्यवहार आदि को अधिक प्रमुखता प्रदान की गई है। उपनिषदों में अन्न को प्रधानता तथा आवश्यकता का उल्लेख किया गया है।

अन्न का महत्व

उपनिषदों में अन्न को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है। उपनिषद्कारों का कहना है कि "पृथ्वी के सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्न में ही लय होते हैं। जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी कामना करते हैं, वे उसे अवश्य पाते हैं क्योंकि अन्न ही प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है। इसे ही सर्वोषधि कहा गया है। सब प्राणी अन्न से प्रकट होकर उसी से बढ़ते हैं। वह खाया जाता है और अन्न भी प्राणियों का भक्षण कर लेता है, इसीलिये उसे

अन्न कहा गया है।"[१] वहीं पर पुनः कहा गया है कि "अन्न की निन्दा न करें। यह व्रत है। प्राण ही अन्न है। शरीर प्राण पर आधारित है। इसलिये वह अन्न में ही स्थित है। जो मनुष्य यह जान लेता है कि मैं अन्न में ही प्रतिष्ठित हूँ, वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है। अन्नवान् हो जाता है, प्रजावान् हो जाता है, पशुवान् भी। वह ब्रह्म तेज से सम्पन्न होकर महान् बनता है। कीर्ति से सम्पन्न होकर भी महान् बनता है।"[२]

प्राचीन काल की भाँति उपनिषदों में भी आर्थिक तथा धार्मिक क्रियाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। अर्थात् अर्थशास्त्र तथा धर्मशास्त्र दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध बताया गया है, क्योंकि बिना अन्न के धार्मिक क्रियाओं की सफलता असम्भव हैं।

विज्ञान तथा विद्या

छान्दोग्योपनिषद् में अनेक प्रकार के शास्त्रों का उल्लेख किया गया हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण आदि सभी को विज्ञान की संज्ञा दी गई है। उपनिषद्कार के मतानुसार जितने भी शास्त्र हैं, वे सब विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। अतएव उन शास्त्रों से सम्बन्धित सारी क्रियायें भी वैज्ञानिक होनी चाहिये।[3] इसी के परिणाम स्वरूप आर्थिक क्रियायें भी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करती हैं।

---

१. अन्नाद्वै प्रजाःप्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीश्रिताः अथो अन्नेनैव जीवन्ति।
...... अद्यतेऽत्ति चभूत्तानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति।

—ब्रह्मानन्दबल्ली, द्वितीय अनुवाक्

देखिए—अष्टम अनुवाक् भी।

२. अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रतम्। प्राणो वै अन्नम्।
शरीरमन्नादम्। प्राणेशरीरं प्रतिष्ठितम्।
शरीरे प्राणः प्रतिष्ठतः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्।
स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति।
अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया
पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्या।

तैतरीय—२। २

३. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं
पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यंराशि दैवं निधि वाकोवाक्यमेकायनं
देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां
सर्वदेवजनविद्यामेतद्म गवोऽध्येमि।

—छान्दोग्योपनिषद् सप्तम अध्याय, खण्ड १

वर्णाश्रम व्यवस्था

उपनिषदों में वर्णाश्रम व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया है। आश्रमोपनिषद् के अनुसार चार आश्रम बताये गये हैं और इन चार आश्रमों के १६ भेद हैं। वैसे तो सभी आश्रमों में आर्थिक वृत्ति का उल्लेख किया गया है, किन्तु गृहस्थ आश्रम को विशेष प्रमुखता प्रदान की गई है। गृहस्थ आश्रम में वार्तावृत्ति, शालीवृत्ति आदि का विवेचन किया गया है। इनमें वार्ता वाले ही खेती, पशुपालन, व्यापार, यज्ञ आदि की क्रियाओं को सम्पन्न करते थे। उपनिषदों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी तथा सन्यासी इन चारों की अलग-अलग वृत्तियाँ बताई गई है।[१]

धनोपार्जन के नियम

धनोपार्जन के नियम वर्ण व्यवस्था अथवा वर्णाश्रम के आधार पर ही बनाये गये थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को किस प्रकार से अपनी जीविका चलानी चाहिये, इनका अलग-अलग विवेचन किया गया है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी को भिक्षावृत्ति द्वारा, गृहस्थ को स्वयं उत्पादित कर तथा वानप्रस्थ एवं सन्यास के लिये भी नियमों का प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदों में अन्न को प्राण की संज्ञा दी गई है। एक स्थान पर कहा गया है कि "ॐ नारायण से अन्न आया है। वह ब्रह्मलोक में पका है, फिर महा संवर्तक में पका है फिर क्रव्याद में पका है। इस अन्न को सन्यासी जल में भिगो कर वासी तथा पवित्र करके खाय, वह माँगा हुआ और अपने लिये तैयार किया हुआ भी न होना चाहिये। इस प्रकार सन्यासी को किसी से अन्न माँगना न चाहिये।"[२]

धन को लिप्सा का परित्याग

उपनिषदों में जहाँ एक ओर अन्न की प्रशंसा की गई है, वही दूसरी ओर उसे निन्दनीय भी बताया गया है। पशुधन, हाथी, सुवर्ण, अश्व, आदि की गणना धन के अन्तर्गत की जाती थी। अनेक प्रलोभनों के वावजूद महत्वाकांक्षी ऋषि, मुनि कभी विचलित नहीं हुआ करते थे। कठोपनिषद् मे यमराज ने नचिकेता को तीन वरदान दिये थे। तीसरे वरदान के प्रसग मे यमराज द्वारा अनेक प्रलोभन दिये

---

१. देखिये आश्रमोपनिषद्। —सूत्र २।

२. नारायणाद्वा अन्नमागतपपक्वं ब्रह्मलोके महासंवर्तके पुनः पक्वमादित्ये पुनः पक्वंक्रव्यादि पुनः पक्वंजाल किल विलन्नं पर्युषितं पूतमन्नमपाचित्तमसंक्लृप्तम् श्रीमान्न कंचन याचेत। —सुबालोपनिषद् १२। १

गये, किन्तु नचिकेता अपने पथ से विचलित नहीं होता।[1] वहाँ पर यमराज के कथन से यह स्पष्ट होता है कि पशुधन, स्त्रीधन आदि को तत्कालीन समाज में अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया था।

कर्म की प्रधानता

कर्म प्रत्येक क्रिया को सम्पन्न करने का साधन माना गया है। उसके बिना चाहे आध्यात्मिक क्रियायें हो, चाहें लौकिक, कोई भी सफल नहीं हो सकती। कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि "कर्म फल रूप निधि अनित्य है, यह मैं जानता हूँ। अनित्य पदार्थों के द्वारा नित्य पदार्थ प्राप्त नहीं होता।"[2] इसी कर्मवाद के सिद्धान्त को मान कर आगे आने वाले आचार्यों ने अनेकानेक तर्क प्रस्तुत किये हैं।

भूमि की उत्पत्ति

उपनिषदों में सारी क्रियाओं का आधार ब्रह्म माना गया है। चाहे वे क्रियायें आर्थिक हों या कोई और। सुबालोपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्वसत् नहीं था, असत् भी न था और सदसद् भी न था। इनमें से तमस् (अज्ञान) उत्पन्न होता है, इस तमस् से भूतादि अहंकार की उत्पत्ति हुई। अहंकार से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी हुई और यही ब्रह्माण्ड रूप अण्ड हो गया। इसमें केवल एक वर्ष तक रह कर पुरुष ने उसके दो भाग कर दिये। नीचे का भाग भूमि बन गया। बीच में दिव्य पुरुष हजार मस्तक वाला, हजार आँखों वाला, हजार पैरों वाला, हजार हाथों वाला रहा। उसने

---

१. (क) इमारामाः सरथाः सतूर्याः
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥

—कठोपनिषद् प्रथम बल्ली, मन्त्र २५

(ख) न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसित्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव॥

—कठोपनिषद् प्रथम बल्ली, मन्त्र २०।

२. जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवंतत्

—कठोपनिषद्, (प्रथम अध्याय, मन्त्र १०।)

पहले भूतों की मृत्यु को बनाया। वह तीन अक्ष वाला, तीन मस्तक वाला, तीन पैर वाला और छोटा सा फरसा धारण किये हुए था। उसका नाम ब्रह्म था। उसी ने ब्राह्मण में प्रवेश किया। उसने सात मानस पुत्र उत्पन्न किये। वे प्रजापति हुए और प्रजापति से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई।[१]

कृषि

कृषि ही लोगों का प्रमुख उद्योग था। उसमें अनेक प्रकार के पदार्थों की खेती की जाती थी। यज्ञ के लिये दी जाने वाली सामग्री कृषि से ही प्राप्त होती थी। कृषक खेती की सिंचाई के लिये वर्षा पर निर्भर करते थे, क्योंकि बरसात के दिन आते ही वे अपनी फसल की उपयोगिता समझ कर आनन्दित होते। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि "जब तू जलवृष्टि करता है, तब तेरी यह प्रजा अन्न उत्पन्न होने की आशा में आनन्दित हो जाती है।"[२] अर्थात् कृषि में उत्पादन बढ़ाने के लिये कृषक वर्षा ऋतु की प्रतीक्षा में लगे रहते थे।

उत्पादन

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है अन्न को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। उपनिषद्-कारों ने अन्न की अधिकाधिक वृद्धि करने की सलाह दी है। उनका कहना है कि अन्नोत्पादन से ही प्राणियों का कल्याण संभव है। अत्यधिक अन्न का भन्डार रखने वाला श्रेष्ठ कहा गया है।[3]

उत्पादन का ह्रास

एक ओर यदि जल वृष्टि से अच्छी-अच्छी फसलों को तैयार करने तथा समृद्धिशाली होने का विवरण प्राप्त होता है, तो दूसरी ओर अति वृष्टि से फसलों के

---

१. तदाहुः। किं तदासीत ? तस्मै सहोवाच न सन्ना-
सन्न सदसदिति ॥१॥

—सुबालोपनिषद् प्रथम खंड, मंत्र ६

२. यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणतेप्रजाः
आनन्दरूपाःतिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति

—प्रश्नोपनिषद्, द्वितीय प्रश्न, श्लोक १०

३. अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्।
आकाशोऽन्नाद। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः आकाशेपृथिवी प्रतिष्ठित।
अन्नवानन्नादो भवति। महानभवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान कीर्त्या।

—तैतरीयोपनिषद्, नवम् अनुवाक ३।

नष्ट हो जाने का भी सम्यक् विवेचन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में उड़द की खेती करने का विवरण प्राप्त होता है। उसमें यह भी बताया गया है कि अकाल पड़ने पर लोगों की क्या स्थिति होती थी। अर्थात् धनाभाव के कारण लोगों को एक राज्य को छोड़कर दूसरे राज्यों को जाना पड़ता था। 'उषस्ति' ऋषि की कहानी से स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में धनाभाव का कितना अधिक महत्व समझा गया है।[1]

धातुओं का ज्ञान

इस काल में भी लोगों को धातुओं का ज्ञान था। सोने, चांदी आदि के शब्दों का अनेकशः प्रयोग किया गया है। किन्तु आध्यात्म के प्रति उन्मुखता के कारण इस विषय पर अधिक संकेत प्राप्त नहीं होते। छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर कहा गया है कि—जब अंडा फूटा तो उसके दो टुकड़े, चाँदी रूप और स्वर्ण रूप हुए। जो चाँदी रूप भाग था वह पृथ्वी है और सुवर्ण रूप स्वर्ग है ···।[2]

पशुपालन तथा विनिमय

उपनिषदों में विभिन्न प्रकार के पशुओं का जिक्र किया गया है। इससे पता चलता है कि लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हजारों की संख्या में पशुओं को पालते थे। साथ ही पशु को ही विनिमय का माध्यम बनाया गया था। जब किसी से किसी को कोई वस्तु अथवा विद्या प्राप्त करनी होती, तो वह उसके बदले में पशुओं को भेंट किया करता था। छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर कहा गया है, "जनश्रुति के पुत्र को पौत्र ५, ६ सौ गायें हार, खच्चरीयुक्त रथ लेकर रेक्वे के पास गया और उनसे उक्त भेंट देकर विद्या प्राप्त करनी चाही थी, शूद्र होने के नाते ऋषि ने उस विधान देने से इन्कार कर दिया। इसके बाद वह सहस्त्र गायें,

---

१. अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा
प्रवर्षति त इह व्रीहिवा औषधिवनस्पतयस्तिल
-माषा इति जायन्तेऽतो के खलुदुर्निष्प्रपतरं।
यो यो ह्यन्नमन्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति ॥
—छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ५, खण्ड १०-६

२. आदित्यो ब्रह्मत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवे
दमग्रं आसीत्। तत्सपासीन्तत्समभवत्तदाण्डं
निरवर्तत सत्संवत्सरस्य मात्रामशयद्।
तन्निरभिघत् ते अण्डक पाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्।
—छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ३, १९ खण्ड १

हार, अपनी खच्चरी युक्त रथ लेकर उनके पास गया और तब उन्होंने किसी प्रकार उसे विद्या दान देना स्वीकार किया।"[१] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि पशुधन को ही विनिमय के रूप में अधिक प्रयोग किया जाता रहा है। अन्य वस्तुएँ भी इसके निमित्त प्रयुक्त की जाती थी।

अधितम कल्याण

इन उपनिषदों में मानव के अधिकतम् कल्याण की कल्पना की गई है। समाज में किसी भी प्राणी को वे किसी प्रकार से दुःखी नहीं देखना चाहते थे—"पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्' के प्रारम्भ में भी कामना की गई है कि "हे पूज्य देवो, हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण देखें। सुदृढ़ अंगों तथा देश के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहे और देवताओं ने हमारे लिये जो आयष्यु निर्धारित कर दिया है, हम उसे भोगें।"

प्रायः आर्थिक उतार चढ़ाव की प्रक्रिया समाज का एक अंग मानी गई है। वैदिक युग तक सामाजिक विचार काफी प्रौढ़ हो गये थे। उसके बाद उपनिषदों में आध्यात्मिकता अर्थात् धार्मिक प्रवृत्ति, का प्रसार आर्थिक प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक हुआ। इसके फलस्वरूप आर्थिक विचारों की अधिक प्रगति सम्भव नहीं हो सकी और इस युग में अर्थ चिन्तन का त्याग कर आध्यात्मिकता की प्राप्ति का प्रयास किया जाता रहा। यही कारण है कि इस युग में इस ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया गया और आर्थिक विचारों का क्षेत्र ज्यों का त्यों पड़ा रहा।

---

१. छान्दोग्योपनिषद्, चतुर्थ अध्याय, द्वितीय खंड, १-५।

अध्याय ६

महाकाव्यों में आर्थिक विचार

अध्याय ६

महाकाव्यों में आर्थिक विचार

रामायण

रामायण महाकाव्य काल का प्रथम ग्रन्थ है। इस महाकाव्य में मुख्यतः राम तथा रावण के परस्पर विरोधी गुणों—अवगुणों के विश्लेषण द्वारा शासक की कुशलता एवं अकुशलता, उसकी लोकप्रियता तथा निरंकुशता का परिचय दिया गया है। एक ओर इसमें आदर्श समाज की कल्पना तो दूसरी ओर समाज की आर्थिक एवं धार्मिक नीतियों के विपरीत विचारों के आधार पर संगठित समाज की झांकी देखने को मिलती है। इस युग की आर्थिक स्थिति को देखने से पता चलता है कि तत्कालीन आर्थिक विचारों का समाज के विकास में महान योगदान था। यह भी पता चलता है कि आर्थिक विचारों का किस प्रकार से क्रमशः विकास हुआ और उनमें प्रौढ़ता आयी। महाकाव्यों में रामायण एवं महाभारत दो प्रमुख ग्रन्थ हैं। यहाँ पर हम महर्षि बाल्मीकि कृत रामायण में वर्णित आर्थिक विचारों का ही अध्ययन करेगें। महाभारत के विचारों पर चर्चा आगे की जायेगी।

जैसा कि पूर्व कालों के अध्ययन के समय कहा जा चुका है कि तत्कालीन समाज में आर्थिक जीवन का सम्बन्ध वार्ता से था। वार्ता शास्त्र के अन्तर्गत, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य-व्यवसाय, उद्योग-धन्धों आदि का अध्ययन किया जाता था। रामायण के अनुशीलन से तत्कालीन अत्यन्त प्रौढ़ और विकसित वार्ता शास्त्र का पता चलता है। सामाजिक जीवन किस प्रकार कार्य एवं पेशे के आधार पर विभक्त और स्थिरीभूत हो गया था, किस प्रकार समाज चार वर्णों में विभाजित हो गया था और वर्ण व्यवस्था प्रतिष्ठत हो गयी, किस प्रकार जन्मना लोग विभिन्न वर्णों, जातियों, श्रेणियों में बँट गये थे—इन सारी बातों के स्पष्ट प्रमाण और उदाहरण वाल्मीकीय रामायण में आदि से अन्त तक मिल जाते हैं।[1]

---

१. कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोहि सुखमेधते॥
—रामायण (अयोध्या कांड, १००-४८)

रामायण काल के पूर्व वैदिक काल में ही आर्यों ने एक सुसंगठित समाज की रचना कर डाली थी। उसमें आर्थिक क्रियाये पूर्ण रूप से पुष्पित, पल्लवित तथा फलित हो रहीं थी। किन्तु धीरे-धीरे इस काल तक मे सामाजिक व्यवस्था में पर्याप्त परिवर्तन हो गया और अब पूर्व की अपेक्षा सुव्यवस्थित एवं श्रेष्ठतम् कलाओं का अविष्कार होने लगा था। इस युग में कला एवं शिल्प की अत्यधिक उन्नति हुई। शासक स्वयं तो योग्य होता ही था वह राज्य की विभिन्न व्यवस्थाओं के लिये भी सुयोग्य पुरुषों की नियुक्ति किया करता था। राष्ट्रीय आय को ध्यान में रखते हुये विभिन्न प्रकार के करों की प्राप्ति हेतु किसी एक कुशल व्यक्ति को नियुक्त किया जाता था।

सुशासित राज्य

इस काल में सुव्यवस्थित एवं सुशासित राज्यों का आर्थिक प्रबन्ध वर्तमान समय के राष्ट्र जैसा ही हुआ करता था। जहाँ कहीं अराजकता उत्पन्न हो जाती वहाँ लोगों को शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना कठिन हो जाता था। सम्पन्न व्यक्ति लोगों के भय से अपने घर के दरवाजों को बन्द रखते, तथा व्यापारी अधिक मात्रा में भार लेकर यात्रा करने में भय का अनुभव करते थे। कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु के लिये अपने को अधिकारी नहीं बना सकता था, संप्रभुता के अभाव में लोग परस्पर एक दूसरे के साथ अमानवता का व्यवहार भी करते थे। उस स्थिति में वहाँ कोई भी ऐसा व्यक्ति न होता जो कानूनों तथा मर्यादाओं को कायम रख सके। शासक के अभाव में बुराइयों में वृद्धि होती, अनैतिकता तथा असुरक्षा बढ़ती जाती। किन्तु, इसके विपरीत राजा इस बात के लिये सदा प्रयत्नशील होता था कि उसके राज्य में सभी सुखी हों और राज्य पूर्णतया समृद्धशाली बने। बाल कांड के पंचम सर्ग में कोसल जनपद तथा अयोध्या नगर की व्यवस्था के सुन्दर चित्र खींचे गये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय राज्यों की स्थिति कैसी थी।[1]

---

१. कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निदिष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥

अयोध्यानामनगरी तत्राऽऽसील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥

तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः।
पुरीमावासयामास दिवि देव पतिर्यथा ॥

—बालकाण्ड, पंचम सर्ग पृ० ३८, श्लोक ४, ५, ६, ८

वार्ता

रामायण काल में अर्थशास्त्र का स्वरूप वार्ता के रूप में विद्यमान था।[१] इसका अध्ययन विभिन्न प्रकार के व्यवसायों तथा उद्योगों के लिये किया जाता था। रामायण में वार्ता को अर्थशास्त्र का एक प्रमुख अंग माना गया है। कृषि, पशु-पालन तथा व्यापार मुख्य रूप से इसके अन्तर्गत प्रयुक्त होते, किन्तु अध्ययन की दृष्टि से यह विषय इतना महत्वपूर्ण बन गया कि लोगों ने इसे अन्य शास्त्रों (आन्वीक्षिकी, त्रयी, दण्डनीति) से भी सम्बद्ध कर दिया। रामायण मे इसका समुचित प्रयोग देखने को मिलता है। यह वार्ता जिसे हम आधुनिक अर्थशास्त्र कह सकते हैं, कृषि पशुपालन, व्यापार तथा अन्य आर्थिक विषयों का एक शास्त्र बन गया था। विशेषतः कृषि को लोगों ने इसके अन्तर्गत अत्यधिक महत्व प्रदान किया। बड़ी सतर्कता से वे इसमें वर्णित नियमों को कार्यान्वित करते थे। राम का भरत को सम्पूर्ण प्रजा को कृषि तथा अन्य व्यवसायों मे सलग्न करने का आदेश, इसके महत्व को सत्य सिद्ध करता है। 'तात, कृषि और गोरक्षा से आजीविका चलाने वाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रीति पात्र हैं न ? क्योंकि कृषि और व्यापार आदि में संलग्न रहने पर ही यह लोक सुखी एवं उन्नतिशील होता है।''[२] समाज में तत्कालीन कृषि एवं व्यापार व्यवस्था को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त था, इसमें कोई सदेह नहीं है।

धन-अर्थ

इस काल में धन व अर्थ शब्द का प्रयोग केवल सिक्कों के रूप में नहीं किया जाता था बल्कि इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की वस्तुयें जैसे अन्न, पशु, गृह, भूमि, गाय, हाथी, घोड़े, ऊन तथा मृगचर्म आदि को सम्मिलित किया जाता था।[3] सचमुच इनका प्रयोग सामुदायिक आर्थिक विकास के लिये किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि अर्थ शब्द का एक निश्चित स्वरूप बन चुका था। प्रत्येक वस्तु जिसमें विनिमय क्षमता हो अर्थ कहलाती थी।

---

१. दशपञ्च चतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्वतः।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघवः।

—अयोध्याकांड, सर्ग १०० पृ० ६८

२. कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषि गोरक्ष जीविनः।
वार्तायां संश्रितस्तात् लोकोऽयं सुखमेधते।

३. कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित् ते सन्ति धेनुकाः।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां च तृप्यसि।

—अयोध्याकांड सर्ग १००, ४७-५८

धन का महत्व

तत्कालीन समाज में व्यक्ति तथा राष्ट्र के आर्थिक जीवन में धन का महत्व सर्वस्वीकृति था। राजा का यह प्रथम कर्तव्य था कि वह अपने राष्ट्र को धन-धान्य से सम्पन्न रखे, जिससे वह हर प्रकार की विपत्ति का सामना कर सकें। इसके साथ ही कर्मचारियों को अनुकूल रखना भी अत्यन्त आवश्यक था। राम भरत से पूछते हैं कि "काम-काज में लगे हुए सभी मनुष्य निडर होकर तुम्हारे सामने तो नहीं आते ? अथवा वे सब तुमसे सदा दूर तो नहीं रहते ? क्योंकि कर्मचारियों के विषय में मध्यम स्थिति का अवलम्बन करना ही अर्थ सिद्धि का कारण है।[1]"

इसी प्रकार धन के महत्व की व्याख्या करते हुए श्रीराम कहते हैं, "क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले), धन-धान्य, अस्त्र, शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी तथा धनुर्धर सैनिकों से भरे पूरे रहते हैं।"[2] इन प्रश्नों में निहित विचारों से यह स्पष्ट है कि राष्ट्र के विकास हेतु धन (सम्पत्ति) को प्रमुखता दी गई थी।

पुरुषार्थ

रामायण में पुरुषार्थों का सम्बन्ध आर्थिक क्रियाओं के साथ जोड़ा गया है। उस समय इन पुरुषार्थों का इतना अधिक महत्व था कि बिना उनके सम्यक् प्रयोग के उन्नति की सम्भावना कदापि नहीं की जाती थी। राम भरत से पूछते हैं, 'तुम अर्थ द्वारा धर्म को अथवा धर्म द्वारा अर्थ को हानि तो नहीं पहुँचाते ? अथवा आसक्ति और लोक रूप काम के द्वारा धर्म और अर्थ दोनों में बाधा तो नहीं आने देते ?...... क्या तुम समय का विभाग करके धर्म, अर्थ और काम का योग्य समय में सेवन करते हो ?" इन प्रश्नों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त पुरुषार्थ ही तत्कालीन समाज में सम्पूर्ण क्रियाओं के मूल के रूप में विद्यमान थे।[3]

---

१. कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशंङ्कया।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥

२. कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः।
यन्त्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥

—अयोध्याकांड, सर्ग १०९, श्लोक, ५२-५४

३. कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतांवर।
विभज्यकाले कालज्ञ सर्वान्न वरदसेवसे ॥

—अयोध्याकांड, सर्ग १०० श्लोक ६२-६३

राजा का महत्व

सामाजिक नियन्त्रण एवं विकास को दृष्टि में रखकर ही राजा की कल्पना की गई और धीरे-धीरे इसका महत्व बढ़ता ही गया। रामायण में दशरथ की मृत्यु के बाद जब राज्य राजा से रहित हो जाता है। उस समय ऋषिगण राजा के महत्व को बताते हुए कहते हैं, 'जहाँ कोई राजा नहीं होता, ऐसे जनपद में विद्युन्मालाओं से अलंकृत महान् गर्जन करने वाला मेघ पृथ्वी पर दिव्य जल की वर्षा नहीं करता। जिस जनपद में कोई राजा नहीं, वहाँ के खेतों में मुट्ठी मुट्ठी के बीज नहीं बिखेरे जाते। राजा से रहित देश में पुत्र, पिता और स्त्री पति के वश में नहीं रहती।"[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा का एक विशेष महत्व था और वह समस्त आर्थिक क्रिया-प्रक्रियाओं का नियन्ता होता था।

कृषि

कृषि देश का प्रमुख उद्योग था। उसी की उन्नति पर राष्ट्रों की उन्नति निर्भर करती थी। रामायण में अनेक स्थलों पर कृषि सम्बन्धी चर्चा मिलती है। राम के वन जाते समय हरे-भरे जंगल तथा धन-धान्य से सम्पन्न खेत और उद्यान मिलते हैं।[२] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय की कृषि व्यवस्था अत्यधिक विकसित थी। उस समय अधिकांश लोग खेती करते थे। इसका ज्ञान हमें उस समय होता है, जब राम के वन जाने पर सारे लोग अपनी खेती-वारी छोड़कर राम के साथ जाने के लिये तैयार हो जाते हैं। पुरवासी कहते हैं, "हम लोग बाग,

---

१. नाराजके जनपदे विद्युन्माली महस्वनः।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा॥
नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्ततेवशे॥

—अयोध्याकांड, सर्ग ६७ श्लोक ९-१०

२. ततो धान्य धनोपेतान् दानशीलजनाञ्शिवान्।
अकुतश्चिद्भयान् रम्यांश्चैत्ययूप समावृतान्॥
उद्यानाम्रवणोपेतान् सम्पन्न सलिलाशयान्।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान्॥
रक्षणीयान् नरेन्द्राणां ब्रह्मघोष भिनादितान्।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत॥

—अयो० सर्ग ५० श्लोक ८, १०-११

बगीचे, घर-द्वार और खेती-बारी सब छोड़कर धर्मात्मा श्री राम का अनुगमन करें और उनके दुःख-सुख के साथी बनें।"[१]

खेती करने के लिये पहले भूमि का शोधन करना आवश्यक था। भूमि शब्द का प्रयोग केदार अर्थात् क्षेत्र के रूप में किया जाता था। राजा जनक कहते हैं कि "यज्ञ के लिये मैं भूमि शोधन करते समय खेत में हल चला रहा था।"[२] अतः स्पष्ट है कि कृषि करने का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान उस समय के लोग रखते थे।

सिंचाई

कृषि प्रधान देश भारत के किसान अनादि काल से मुख्यतः वर्षा पर ही सफल खेती के लिए निर्भर रहे हैं। साथ ही वे वैकल्पिक साधनों के द्वारा भी खेती की सिंचाई का कार्य करते थे। रामायण में कहा गया है कि कोसल एक ऐसा जनपद था, जहाँ के लोग खेती की सिंचाई हेतु केवल वर्षा पर ही आश्रित न थे। कुंए, तालाब आदि की भी व्यवस्था थी, जिनका उपयोग वे समय-समय पर किया करते थे। अयोध्या का वर्णन करते हुए राम कहते हैं, "जहाँ नाना प्रकार के अश्वमेध आदि महायज्ञों के बहुत से चयन प्रदेश (अनुष्ठान स्थल) शोभा पाते हैं; जिनमें प्रतिष्ठित मनुष्य अधिक संख्या में निवास करते हैं, अनेकानेक देव स्थान, पौसले और तालाब जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जहाँ के स्त्री-पुरुष सदा प्रसन्न रहते हैं, जो सामाजिक उत्सवों के कारण सदा शोभा सम्पन्न दिखाई देता है, जहाँ खेत जोतने में समर्थ पशुओं की अधिकता है, जहाँ किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती, जहाँ खेती के लिए वर्षा के जल पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। (नदियों के जल से सिंचाई हो जाती है, जो बहुत ही सुन्दर और हिंसक पशुओं से रहित है) जहाँ किसी तरह का भय नही है, नाना प्रकार की खानें जिसकी शोभा बढ़ाती हैं .... वह अपना कोसल देश धन-धान्य से सम्पन्न और सुखपूर्वक बसा हुआ है न ?"[३]

---

१. उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च।
एकदुःखसुखारामममनुगच्छाम धार्मिकम्॥
—अयो० सर्ग ३३, श्लोक १७ देखिये—१८-२१ भी।

२. अथ में कृषतः क्षेत्रं लाङगलादुत्थिता ततः।
क्षेत्रं शोधययता ....॥
—बालकाण्ड सर्ग ६६, श्लो० १३

३. कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्ट जनाकुलः।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभिता॥
× × ×

गोमती नदी के किनारे सुन्दर उपजाऊ भूमि थी, जिसे कछार कहते थे। वहाँ खेती तथा गायों को चरने की पर्याप्त सुविधा थी। अयोध्याकांड के ४६वें सर्ग में वेदश्रुति गोमती, सरयू आदि नदियों का उल्लेख मिलता है।[१] इन नदियों के जल का उपयोग खेती को सींचने के लिये प्रायः किया जाता था।

पशुपालन

ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के अतिरिक्त पशुपालन एक प्रमुख व्यवसाय था। पशुओं को भी एक प्रकार का धन माना गया है। लोग गायों को हजारों की संख्या में पालते थे। अयोध्याकांड के सर्ग ५६ में एक स्थान पर तपसा नदी के किनारे पर चरती गौवों के समूह का उल्लेख किया गया है, "तमसा का वह तट गौवों के समुदाय से भरा हुआ था।"[२] पशुपालन केवल ग्रामों में ही नहीं अपितु नगरों में भी किया जाता था। अयोध्या में पशु-पालन का उल्लेख मिलता है।[3] वहीं दस लाख गौवों को दान में देने का उल्लेख है, स्मरणीय है कि दान उपभोग की चार गतियों में से एक था और इसे उनमें प्रथम स्थान दिया गया है। वास्तव में पशुधन लोगों को अमूल्य निधि होती हैं। इसका उपभोग वे दान जैसे पुण्य कार्यों में किया करते थे। इस प्रकार गाय, बैल तथा घोड़ा देश की आर्थिक व्यवस्था में प्रमुख सहायक माने जाते थे। इसके अतिरिक्त ऊँट आदि पशुओं की भी अलग-अलग उपयोगिता थी।

विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैं सुरक्षितः।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघवः॥

—अयोध्या० सर्ग १०० श्लो० ४३-४६

१. गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीतवहां नदीम्।
गोमतीं गोयुतानूपामतरत्सागरंगमाम्॥
गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगै हयैः।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम्॥

—अयोध्याकांड, सर्ग ४६, श्लो० ११-१२, पृ० ३१६

२. गोकुला कुलतीराया स्तमसाया विदूरतः।

—अयोध्याकांड, सर्ग ४६, श्लो० १७

३. एवमुक्तो नरपति ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
गवां शत सहस्त्राणि दशतेभ्यो ददौनृपः॥

—बालकाण्ड, सर्ग १४ श्लो० ५०

वन

रामायण कालीन लोगों की सम्पत्ति का एक अन्य स्त्रोत वन था। इससे केवल व्यक्तिगत हित ही नहीं अपितु सारे समाज और देश का हित होता था। पशुओं की सुविधा, लकड़ियों की आवश्यकताएँ, अनेक प्रकार के मसाले, केसर, चन्दन आदि अनेक महत्वपूर्ण वृक्षों का उपयोग आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण समझा जाता था। लोग इसकी सहायता से विभिन्न प्रकार के उद्योगों को जन्म देते जिनका सम्पूर्ण देश में प्रचलन था। रामायण में वन सम्पदा का उल्लेख बार-बार मिलता है।[1]

खानें

रामायण काल के लोगों का जीवन, देश में पाई जाने वाली विभिन्न प्रकार की धातु खानों से सम्बन्धित था। अयोध्या की खानों से पायी जाने वाली खनिज वस्तुओं की चर्चा राम करते हैं। अनेक रंगों की धातुएँ पायी जाती थीं, जिनसे नाना प्रकार के आभूषणों का निर्माण किया जाता था। धातु की निर्मित चट्टानों का भी उपयोग लोगों के द्वारा किया जाता था। लोगों में मानसिल तथा गैरिक उप-धातुओं की भी अत्यधिक मांग थी। वे सोना, ताँबा आदि अनेक धातुओं से विभिन्न प्रकार के आभूषणों का निर्माण करते थे। इसके अतिरिक्त धातु निर्मित औजारों का प्रयोग भी वे लोग अपने जीवन में करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोग विभिन्न

---

१. मया विसृष्टां भरतो महीमिमां।
सशैलखण्डां सपुरोपकाननाम्॥
शिवासु सीमास्वनुशास्तु केवलं।
त्वयां यदुलं नृपते तथास्तु तत्।

—अयोध्याकांड, सर्ग ३४ श्लो० ५६.

भवान् वर्ष सहस्त्राय पृथिव्या नृपते पतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता॥

—वही, श्लो० २८.

अवश्याय निपातेत किंचित्प्रविलन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥

—अरण्डकांड, सर्ग १६, २०

वनं कुसुष पद दिव्यं वासो भूषण पत्रवत्।
दिव्य नारी फलं शश्वत तत्कौबेरमिहेव तु॥

—अयोध्याकांड, सर्ग ७६, श्लोक १६
(देखिये सम्पूर्ण सर्ग)

प्रकार के खनिज पदार्थों के प्रति जिज्ञासु थे। उन्होंने बहुमूल्य वस्तुओं क निर्माण कर उन्हें व्यापार का श्रोत बना लिया था। रामायण के विभिन्न स्थलों में खानों तथा उनके धातुओं के उपयोग का वर्णन मिलता है।[१]

धातु तथा उसका उपयोग

रामायण का सर्वेक्षण करने पर विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों, उनकी उन्नति सम्बन्धी विचारों एवं वस्तुओं के संकेत हमें मिलते हैं। उस समय लोगों द्वारा किये गये पर्याप्त मात्रा में धातुओं के उपयोग से तत्कालीन उद्योगों की उन्नति तथा विकासोन्मुखी औद्योगिक विचारों का पता चलता है। कृषि पदार्थों के उत्पादन के अतिरिक्त सोना, चाँदी, जस्ता, लोहा आदि धातुओं से अनेक प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन अथवा निर्माण किया जाता था इन्हीं धातुओं से निर्माण किये गये आभूषणों को सभी स्त्री पुरुष पहनते थे। आभूषणों की निर्माण-कला का चरमोकर्षा इस युग को श्रीमण्डित कर रहा था। रामायण के विभिन्न स्थलों पर हमें धातुओं तथा उनसे निर्मित वस्तुओं का विवरण प्राप्त होता है।[२]

जनसंख्या

इस युग में जनसंख्या की कोई सही गणना का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, किन्तु इतना अवश्य कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सहस्त्रों की संख्या में (अयोध्या में) निवास करते थे। उस जनसंख्या में किस-किस कोटि के लोग होते थे

---

१. अयोध्याकांड, सर्ग ८५, श्लोक ५-६, बालकांड-सर्ग १४
   श्लोक ५४, सर्ग ३७, श्लोक १८, अरण्ड कांड, सर्ग २८
   श्लोक २७, सर्ग ४१ श्लोक ४१, सर्ग ४७ श्लोक ४१

२. तां सत्यनामां दृढ़तोरणार्गलां ।
   गृहैर्विचित्रैरूप शोभितां शिवाम् ॥

—बालकांड, सर्ग ६ श्लोक २८

प्रभावद्भिर्महावीर्यै हेमकिंजल्कसंनिभैः ।
तीक्ष्णासिपाट्टिशधरैर्हेम वर्णाम्बरावृतैः ॥

—बालकांड, सर्ग ५१ श्लो० २६

विभिन्न प्रकार के उद्योगों के लिये देखिये :—

सुन्दर कांड, सर्ग ४६ श्लो० २२, सर्ग ४१ श्लो० १२
लकाकांड, सर्ग ३ श्लो० १३, अयोध्याकांड, सर्ग ३१ श्लो० ३०
लंकाकांड, सर्ग ४५ श्लोक २३, सुन्दर कांड सर्ग ४७ श्लोक २,
अरण्य कांड सर्ग ६४, श्लो० ४५, अयोध्या कांड सर्ग ८०
श्लोक ७ तथा श्लो० १ आदि।

इसका भी विवरण प्राप्त होता है। राम भरत से कहते हैं, 'तात ! अयोध्या हमारे वीर पूर्वजों की निवास भूमि है, उसका जैसा नाम है, वैसा ही गुण है। उसके दरवाजे सब ओर से सुदृढ़ तो है। वह हाथी, घोड़े और रथों से परिपूर्ण तो है वे अपने-अपने कामों में लगे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सहस्त्रों की संख्या में सदैव निवास करते हैं। वे सबके सब महान् उत्साही, जितेन्द्रिय और श्रेष्ठ हैं। नाना प्रकार के राज-भवन और मन्दिर उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वह नगरी बहुसंख्यक विद्वानों से भरी है। ऐसी अभ्युदयशील और समृद्धशालिनी नगरी अयोध्या की तुम भलीभांति रक्षा तो करते हो न ?''[१] राम के इन विचारों से तत्कालीन नागरिक समृद्धि का भी पता चलता है।

श्रमिक

उद्योग धन्धों की दृष्टि से भी यह युग काफी विकसित था। अतः नाना प्रकार के कार्यों में रत रहने वाले श्रमिकों का उल्लेख मिलता है। रामायण के अनेक स्थलों पर वर्णित श्रमिकों से यह सिद्ध होता है कि कुशल तथा अकुशल दोनों प्रकार के श्रमिक उस समय थे। कुशल श्रमिकों की सर्वत्र प्रशंसा की गई है। अयोध्या से गंगा तट तक सुरम्य शिविर और कूप आदि के निर्माण में विभिन्न प्रकार के श्रमिकों का वर्णन किया गया है। 'ऊँची नीची सजल भूमि का ज्ञान रखने वाले, सूत्र कर्म (छावनी आदि बनाने के लिये सूत धारण करने) में कुशल मार्ग की रक्षा आदि अपने कर्म में सदा सावधान रहने वाले शूरवीर, भूमि खोदने या सुरंग आदि बनाने वाले, नदी आदि पार करने के लिए तत्काल साधन उपस्थित करने वाले, जल के प्रवाह को रोकने वाले वेतन भोगी कारीगर थवई, रथ और यंत्र आदि बनाने वाले पुरुष, बढ़ई, मार्गरक्षक, पेड़ काटने वाले, रसोइये, चूने से पोतने आदि का काम करने वाले, बाँस की चटाई, सूप आदि बनाने वाले, चमड़े का चारजामा आदि बनाने वाले आदि श्रमिक बताये गये हैं।[२]

---

१. वीरैरध्युषिता पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः ।
सत्यनामां दृढ़द्वारां हस्त्यश्वरथ संकुलाम् ॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्म निरतैः सदा ।
जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्त्रशः ॥
प्रासादै विविधाकारैर्वृतांवैद्यजनाकुलाम् ।
कच्चिद् समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे ॥

—अयो० सर्ग ११० श्लो० ४०-४२

२. अथ भूमि प्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदः ।
स्वकर्माभिरताः शूरा खनकायन्त्रकास्तथा ॥

श्रेणी

श्रेणी व्यापारिक संघ का एक प्रमुख अंग था। दशरथ की मृत्यु के बाद एक स्थान पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि "ये मन्त्री आदि स्वजन, पुरवासी तथा सेठ लोग अभिषेक की सब सामग्री लेकर आपकी राह देखते हैं।"[१] यहाँ पर श्रेणी विशेष का बोध होता है। डॉ० बेनीप्रसाद के अनुसार संघ अथवा सभा विभिन्न जातियों का स्वरूप होती थी, किन्तु सामूहिक तौर पर वे कार्य करते थे।[२]

गण

गण का प्रयोग श्रमिक संघों के लिए हुआ करता था। गणबल्लभ[3] उस संस्था के प्रधान हुआ करते थे। भरत जब राम को जंगल से वापस लाने के लिए जा रहे थे, उनके साथ में गण बल्लभों के जाने का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त इस काल में विभिन्न प्रकार के उद्योगों में कार्य करने वाले व्यवसाइयों और व्यापारियों का उल्लेख भी रामायण में गण के रूप में मिलता है।[४]

विनिमय

निष्क उस समय का प्रधान विनिमय साधन था।[५] कभी-कभी गायों के द्वारा

कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा यन्त्रकोविदाः।
तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः।
सूपकारा सुधाकाराः वंश चर्मकृतस्तथा।
समर्था ये च दृष्टारः पुरुतश्च प्रतस्थिरे॥

—अयोध्याकांड, सर्ग ८०-१ श्लो० १-३

१. अभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव।
प्रतीक्षते त्वां स्वजनः श्रेणयश्चनृपात्मज॥

—अयोध्याकांड, सर्ग ७६, श्लो० ४

2. An assembly composed of men of different castes but following a common vocation. The terms Ayodhya 'Sreni' implied a corporation of soldiers, or a guild which combined economic and warlike functions.

—Beni Prasad, State in Ancient India, p. 113.

३. अयोध्याकांड, सर्ग ८१ श्लो० १२

४. देखिये, India in the Ramayana Age, p. 240-250.

५. रताः स्वाध्यायकरणे वयं नित्यं हि भूमिप।
निष्क्रय किञ्चिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति॥

भी विनिमय कार्य किया जाता था जिसे हम वस्तु विनिमय कह सकते हैं। विश्वामित्र द्वारा वशिष्ठ को हजारों गायें भेंट के बदले में देने का उल्लेख मिलता है।[1] यद्यपि सोने और चाँदी के धातुओं का प्रयोग आदान-प्रदान में किया जाता था तथापि उसे गायों का सा महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त हो सका था। रामायण में एक स्थान पर दशरथ, वशिष्ठ को भेंट में सोना-चाँदी के साथ लाखों गायें भी प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कई स्थानों पर गायों के विनिमय को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। देश में पशुधन की बहुलता थी। यही कारण है कि गायों का प्रयोग मानक मूल्य के रूप में किया जाता था।[2]

दैनिक मजदूरी व श्रमिकों का पारिश्रमिक धातु-निर्मित सिक्कों के द्वारा ही दिया जाता था जिन्हें निष्क कहते थे। दशरथ ने ब्राह्मणों को करोड़ों के सिक्के दान किये थे।[3] केकय (काशमीर) के राजा ने भरत को २,००० सोने के सिक्के दिये थे।[4] राम लक्ष्मण को कुश और लव को १८,००० सोने के सिक्के देने की आज्ञा देते हैं।[5] इसी प्रकार एक स्थान पर १,००० सिक्के (निष्क) राम के द्वारा स्वजनों को भेंट

---

१. बालकांड सर्ग ५३ श्लोक ८।

२. मणि रत्नं सुवर्ण वा गावो यद्वा समुद्यतम्।
तत् प्रयच्छ नृप श्रेष्ठ धरण्या न प्रयोजनम्॥
एव मुक्तो नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
गवां शत सहस्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः॥
दश कोटि सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणं।
—बालकांड सर्ग १४ श्लो० ४८, ४९, ५०
देखिये किष्किधाकांड सर्ग ५ श्लो० ४, बालकांड सर्ग ६१ श्लो० १३)

३. ततः प्रसर्पकेभ्यस्तु हिरण्यं सुसमाहितः।
जाम्बूनदं कोटिसंख्यां ब्राह्मणेभ्योददौतदा॥
दरिद्राय द्विजायाथ हस्ताभरणमुत्तमम।
कस्मैचिद् याचमानाय ददौराघवनन्दनः॥
—बालकांड सर्ग १४, श्लो० ५३-५५

४. रुक्म निष्क सहस्त्रे द्वे षोडशाश्वाशतानि च।
सत्कृत्य केकयी पुत्र केकयो धनमादिशत॥
—अयोध्याकांड सर्ग ७० श्लोक २१

५. उत्तर कांड सर्ग १४ श्लो० १७-१८, अयोध्याकांड सर्ग ३२
श्लो० १०, सुन्दर कांड, सर्ग २५५।

करने का विवरण मिलता है।[१] नेक्लेस को भी निष्क कहा जाता था क्योंकि इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध था। किन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि निष्क वर्तमान सिक्कों की भाँति ठप्पेदार थे या नहीं। बिना ठप्पे के सिक्के सोना और चाँदी द' धातुओं के प्राप्त ह्ोते हैं, उनकी नाप तौल तथा आकार का विवरण भी मिलता है। जम्बूनाद एक निर्धारित मूल्य का सिक्का था। उस समय सोने के एक सिक्के की कीमत चाँदी के चार सिक्कों के बराबर थी। कुछ सिक्कों में परस्पर समता भी पायी जाती थी।

माप

विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को मापने के लिए लोगों ने निश्चित इकाइयां बना रखी थी। द्रव पदार्थ को मापने की इकाई दोण थी।[२] धन का विभाजन प्रविभाग कहलाता था।[3] विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों को मापने की इकाई दण्ड थी।[४] दूरी को मापने के लिये योजन का प्रयोग किया जाता था। वाल्मीकि योजन को दो रूपों में प्रयुक्त करते हैं, राज्य के रूप में, यह चार कोश के बराबर होता है। एक कोश एक हजार धनुष (धनु-४ घन (हाथ) या दो गज) लंबा होता था। इस प्रकार एक योजन-८०० या साढ़े चार मील) लेकिन योजन २०० गज का भी माना जाता था।

संघ

उस समय हमारे व्यापार संघों की तरह एक सुसंगठित निगम था। जिसमें शिल्पी तथा व्यापारी सम्मिलित होते थे। यह सामाजिक एवं राजनैतिक मामलों में बड़ा महत्व रखता था। राम के पास गये हुये अनेक व्यापारियों तथा वणिकों का विवरण प्राप्त होता है।[५] वे विभिन्न कार्यों में हिस्सा बँटाते थे। इसके अतिरिक्त

---

१. संते निष्क सहस्रेण ददामि द्विजपुंगव।

—वा० अयो० ३२, १०

२. पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण।
मधुनि मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे॥

—अयोध्या कांड सर्ग ५६ श्लो० ८

३. बाल कांड सर्ग १४ श्लोक ५२।

४. लंका कांड, सर्ग २२ श्लो० १३।

५. आचार्य ब्राह्मणागावः पुण्याश्च मृग पक्षिणः।
पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह॥

अन्य प्रकार के संगठनों का विवरण प्राप्त होता है। जिनका विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्धों से सम्बन्ध था।[१]

मुद्रा

उस समय आजकल की भाँति कागजी मुद्रा का प्रचलन न था। सोने चाँदी आदि धातु मुद्राओं का उल्लेख मिलता है।[२] दस करोड़ स्वर्ण मुद्रा तथा उसमें चौगुनी रजत मुद्रा अर्पित करने का विवरण स्पष्ट करता है कि मुद्रा की मात्रा का कोई निर्धारण न था। मुद्रा स्फीति जैसी विघटनकारी परिस्थितियों का भी संकेत प्राप्त नहीं होता। यहाँ पर यह भ्रम न होना चाहिए कि मुद्रा केवल धातु की कल्पना थी, क्योंकि मणि, रत्न, सुवर्ण आदि बहुमूल्य धातुओं का विवेचन अलग से प्राप्त होता है।[३]

उद्योग

विभिन्न प्रकार के उद्योगों को चलाने के लिये पशुधन तथा मुद्राओं का प्रयोग किया जाता था। स्थान-स्थान पर दुग्धशालाएँ थीं, जिससे दूध की कमी न होती थी।[४] हाथी दाँत को बहुमूल्य बताया गया है।[५] उसके उद्योग का समाज में काफी

एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणा प्रियंवदाः।
अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः॥

—अयो० सर्ग १४ श्लो० ४०-४१।

१. मणिकाराश्चये केचित् कुम्भकाराश्च शोभनाः।
सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः॥

× × ×

समाहिता वेदविदो-ब्राह्मण वृत सम्मताः।
गोरथैभरतं यात्त मनुजग्मुः सहस्त्रशः॥

—अयो०, सर्ग ८३ श्लो० ११-१६)

२. दशकोटिसुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम्।
ऋत्विजस्तु ततः सर्वे प्रददुः सहितावसु॥

—(बालकांड, सर्ग १४ श्लोक ५१)

३. मणि रत्नं सुवर्ण वा गावो यद्वा समुद्यतम्।

—वही श्लो० ४८।

४. प्राज्यकामा जनपदा सम्पन्नतर गोरसाः।
विचरन्ति महीपाला यात्रार्थं विजिगीषवः॥

५. दान्तराजतसौवर्ण वेदिकाभिः समायुतम्।
नित्य पुष्पफलैवृक्षैर्वापीभिरुपशोमितम्॥

—अयोध्या सर्ग १० श्लो० १४, (दे० श्लो० १५ भी

प्रचलन था। चारपाई, रथ, सिंहासन आदि के निर्माण में हाथी दांत का प्रयोग किया जाता था और ऐसी वस्तुओं की समाज में अत्यधिक मांग भी थी। अतः माँग और पूर्ति के नियमों पर उद्योगों का प्रचलन उस समय निर्भर करता था। केकय तथा लंका में अनेक प्रकार के हाथी दाँत की शिल्प कलाओं का विवरण प्राप्त होता है।[1] इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशुओं के चमड़े का उपयोग लोग करते थे। चीता, हिरन एवं व्याघ्र आदि के चमड़े का उपयोग रथों की सज्जा तथा वस्त्रों के लिए किया जाता था।[2]

व्यापार

इस युग में व्यापार करने वाले वैश्य होते थे, जिन्हें 'वणिक'[3] कहा गया है। ये काफी दूर-दूर तक व्यापार करते थे। लाभांश का कुछ भाग इन्हें राजा को देना पड़ता था। अयोध्या उस समय व्यापार का प्रमुख केन्द्र माना जाता जा। व्यापारियों के आवागमन के लिये व्यापारिक मार्गों का उल्लेख मिलता है।[4] वे वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा किया करते थे।[5] किन्तु लुटेरों तथा जंगलों के भय से समूह बनाकर यात्रा करना अनिवार्य था।[6] उस समय राज्य में व्यापारिक मार्गो का काफी विकास हो चुका था। व्यापारी वर्ग तथा राज्य तंत्र के बीच मधुर सम्बन्ध थे। दैयोग से यदि राजा की मृत्यु हो जाती तो व्यापारी कुछ

---

१. दान्तकैस्तापनीयैश्च स्फाटिकं रजतैस्तथा।
वज्रवैदूर्यचित्रैश्च स्तम्भैर्दृष्ट मनोरमैः॥

—अरण्य सर्ग ५५ श्लो० ८

२. शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम्।
हिरण्यश्रृंगमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च॥

—अयोध्या, सर्ग ३ श्लो० ११

३. नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः।
गच्छन्ति क्षेमध्वानं बहुपण्यसमाचिताः।

—अयोध्याकाण्ड, सर्ग ६७ श्लो० २२

४. शोभमानंसम्बाधं तं राजपथमुत्तमम्।
संवृत्तं विविधै पुण्यैर्भक्ष्यै रूच्चावचैरपि॥

—अयोध्याकाण्ड सर्ग १७ श्लोक ५

५. अयोध्याकाण्ड सर्ग ८३।

६. सर्ग ६० श्लोक ३४।

काल तक अपना व्यापार बन्द कर रखते थे [1] विक्रय (वस्तु) से जो लाभ प्राप्त होता था उसे 'पण्य फल' कहा जाता था।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

इस काल में राष्ट्रीय व्यापार के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भी प्रचलन था। व्यापारी भारतीय वस्तुओं के विक्रय से अधिक लाभान्वित होने के लिये व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाये रखने के लिये एक देश से दूसरे देश में व्यापार के लिये जाते थे। बालकांड में एक स्थान पर कहा गया है कि 'कर देने वाले सामन्त नरेशों के समुदाय उसे सदा घेरे रहते थे। विभिन्न देशों के निवासी वैश्य उस पुरी की शोभा बढ़ाते थे।'[3] व्यापारियों के आवागमन का प्रमुख मार्ग समुद्र था। उसी के द्वारा वे एक देश से दूसरे देशों को जाते थे।[4] इन विचारों से हम भली भांति समझ सकते हैं कि व्यापारिक समोन्नति चरमोत्कर्ष पर थी। व्यापारिक यातायात की दृष्टि से समुद्री मार्ग का लोगों को ज्ञान था और वे जहाजों के द्वारा माल विभिन्न देशों में ले जाते थे।

---

१. अयोध्याकाण्ड सर्ग ६७ श्लोक २२।

२. अयोध्याकाण्ड सर्ग ५७ श्लोक १५, बालकांड, सर्ग ६१ श्लोक २१ तथा श्लोक १५।

३. सामन्तराजसघैश्च बलिकर्मभिरावृताम्।
नानादेशनिवासैश्च वणिभिरुपशोभितां॥

—बालकांड, सर्ग ५ श्लोक १४

४. क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितां पतिम्।
दारपेयुः क्षितिं पद्भ्यामाप्लवेयुर्महार्णवान्

—बालकांड, सर्ग १७ श्लोक २७

जनवृन्दोर्मि संघर्षहर्षस्वनवृतस्तदा।
बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निःस्वनः

—अयोध्या० सर्ग ५ श्लोक १७

उदीच्यांश्च प्रतीच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च केवलाः
कोट्योऽपरान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते॥

—अयो० सर्ग ८२ श्लोक ८

देखिए—लंकाकांड सर्ग ३ श्लोक २१, सुन्दरकांड सर्ग २५-१४ सुन्दरकांड सर्ग २८ श्लोक ८ लंकाकांड सर्ग ५० श्लोक १, बालकांड, सर्ग ४८ श्लोक २६।

यातायात

वाणिज्य एवं व्यापार की उन्नति आवागमन के साधनों पर निर्भर करती थी। आज कल की तरह उस समय भी आर्थिक जीवन में इसका महत्वपूर्ण स्थान था। राष्ट्र में सड़कों का समुचित प्रबन्ध था। नगरों में आने जाने के लिये अच्छी सड़कों का विवरण प्राप्त होता है।[1] प्रतिदिन उनकी सफाई का ध्यान रक्खा जाता था, उन्हें साफ कर पानी से सींच दिया जाता था। अयोध्या तथा लंका की सड़कें दीप-स्तम्भों से प्रकाशित की जाती थीं।[2] सड़कों का सम्बन्ध एक शहर से व दूसरे शहर व ग्राम के लिये था। गाड़ियां सुविधापूर्वक उन पर चलाई जा सकती थीं। कैकय (काश्मीर) से अयोध्या पहुँचने में भरत को ८ दिन लगे थे।[3] सचमुच दक्षिणी भारत में सड़कों का जाल बिछा था जिनके द्वारा व्यापारिक एवं अन्य उद्देश्यों की पूर्ति होती थी। केवल वर्षा ऋतु में कुछ असुविधायें उत्पन्न हो जाती थीं। समय-समय पर सड़कों का पुर्ननिर्माण भी किया जाता था। राम के वन से लौटने पर अयोध्या से नन्दिग्राम तक की सड़क में पुनः सुधार किया गया था।[4] यात्रियों की सुविधा के लिये पथरीली जमीन को काटकर वृक्षारोपण किया जाता था।[5] इंजिनियरों की कुशलता तथा महत्व का पता तो समुद्र में बनाये गये पुल से ही चल जाता है। श्रमिकों में सहयोग की भावना होती थी अतः वे कार्य को शीघ्र ही समाप्त कर देते।[6]

आवागमन के साधन

इस काल में लोग एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिये रथों और गाड़ियों का प्रयोग करते थे। रामायण में अनेक प्रकार के रथों का उल्लेख किया

---

१. रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम्।
हर्म्य प्रासाद सम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम्॥

—अयो० सर्ग ८६ श्लोक १६

२. प्रकाशकरणार्थं च निशागमन शंकया।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः॥

—अयो० सर्ग ६ श्लो० १८, सुन्दरकांड सर्ग ३ श्लो० १६

३. अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां स ददर्श ह।
तां पुरी पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि॥

—अयो० सर्ग ८१ श्लोक १८

४. लंकाकांड, सर्ग १२७ श्लोक ६-७।

५. अयोध्या कांड सर्ग ८० श्लोक ६-१०।

६. लंकाकांड, सर्ग २२, श्लोक ५०, ७६।

गया है ।[१] रथों के अतिरिक्त 'पालकी' का भी प्रयोग उसमय किया जाता था । किन्तु माल ढोने के लिये विशेषकर गाड़ियों को ही प्रयोग में लाया जाता था ।[२] व्यापारी जल मार्ग में नावों का प्रयोग कर औद्योगिक माल को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते थे । डा० राधा कुमुद मुकर्जी ने जहाजों तथा नावों की उपयोगिता का वर्णन किया है ।[3] इतना ही नहीं हवाई यातायात प्रसाधन भी उपलब्ध थे, लोग उनका प्रयोग आज कल के हवाई जहाजों की भाँति करते थे ।[४] अयोध्या नगर की सम्पन्नता इस बात की पुष्टि करती है कि आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी और वे हर प्रकार के साधनों का समुचित उपयोग करते थे ।

आय-व्यय निर्धारण

आय तथा व्यय के सामंजस्य बिना प्रगतिशील आर्थिक व्यवस्था संभव नहीं है । राजा को पहले अपने आय व्यय का बजट तैयार करना चाहिए तभी वह सही दिशा में राष्ट्र को विकसित कर सकता है । धन का उपयोग अच्छे कार्यों के लिये करना श्रेष्ठ बताया गया है । राम भरत से कहते हैं, "क्या तुम्हारी आय अधिक और व्यय बहुत कम है ? तुम्हारे खजाने का धन अपात्रों के हाथों में तो नहीं चला जाता है ? देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा तथा मित्रों के लिये ही तो तुम्हारा धन खर्च होता है न ?" इस कथन से पुष्टि हो जाती है कि धन के उपभोग को एक निश्चित एवं आवश्यक कार्यों में ही किया जाता था ।[५] राजा को आय-व्यय के निर्धारण का पूरा अधिकार होता था ।

---

१. औप वाह्यं रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयो-तमैः ।
प्राप दैनं महाभागमितो जनपदात् परम

—अयो० सर्ग ३९ श्लोक १०

देखिये—अरण्य कांड सर्ग ६५, श्लोक ६, अयो० सर्ग २६ श्लोक १५
लंकाकांड—सर्ग ७१ श्लोक ९, सुन्दरकांड सर्ग ६ श्लोक ३६ ।

२. बालकांड सर्ग ३१ श्लोक १७

3. A History of Indian Shipping. p. 26.
अयो० सर्ग ८९ श्लोक १०, श्लोक १३-१७, १८, २०

४. आसह्य तामयं शीघ्रं खगो रत्नविभूषितः
मयसह रथो युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ।

—अरण्यकांड सर्ग ४२ श्लोक १७

५. आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः ।
अपात्रेषु न ते कच्चित् कोषो गच्छति राघवः ॥५४॥

आय के श्रोत

उत्पादन का १।६ भाग राजा को प्राप्त होने का नियम आरम्भिक काल से ही चला आ रहा था। अत: रामायण में भी इसी नियम का पालन किया गया। इसी को बलि षट् भाग भी कहा गया है। किन्तु इस आय की प्राप्ति के साथ ही साथ राजा की यह जिम्मेदारी हो जाती थी कि वह प्रजा की रक्षा करे। यदि वह प्रजा की रक्षा न करे तो पापी समझा जाता था। भरत कौसल्या के समक्ष शपथ के साथ कहते हैं, जिसकी अनुमति से आर्य श्री राम बन में गये हैं, वह उसी अधर्म का भागी हो, जो प्रजा से उसकी आय का छठा भाग लेकर भी प्रजा वर्ग की रक्षा न करने वाले राजा को प्राप्त होता है।[1] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि आय के अन्य श्रोत ही न थे। उपर्युक्त १।६ भाग के अतिरिक्त उपहार[2], खानों से प्राप्त आय[3] आदि का भी उल्लेख किया गया है।

करारोपण

करारोपण के नियमों में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि प्रजा पर इतना अधिक कर नहीं लगाना चाहिये कि जो उसके लिये असह्य प्रतीत हो। अयोध्याकांड में दिये गये एक तर्क से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य की आय के लिये प्रजा पर कितना कर आरोपित किया जाय।[4] उस समय लोग धन का अर्जन यथार्थ तत्वों के द्वारा किया करते थे।[5] उत्तर कांड में राजा के असफल होने पर प्रजा की स्थिति

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद् गच्छति ते व्यय: ।।५५।।

—अयोध्याकांड सर्ग १०० पृ० ४४६-४७

१. बलिषड्भागमुद्दत्य नृपस्यारक्षितु: प्रजा।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमतेगत:।

—अयोध्या सर्ग ७५ श्लोक २५

२. सामन्तै राजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम्।
नाना देश निवासैश्च वणिग्भिरूपशोभित्ताम् ।।

—बालकांड, सर्ग ५ श्लो० १४

३. उदीच्यांश्च प्रतीच्यांश्च दक्षिणात्यांश्च केवला:।
कोट्यापरान्ता: सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तुते ।।

—अयोध्या० सर्ग ८२, श्लोक ८

४. अयोध्या कांड, सर्ग १०० श्लोक ५४

५ अयो० सर्ग ३२ श्लोक ४४

अथवा राजा की क्या दशा होती है, इसका सम्बन्ध कराके साथ स्थापित किया गया है।[1] राजा राज्य के आय-व्यय को संतुलित रखने का प्रयत्न करते थे।[2] राजा प्रजा की आय का १।६ भाग रक्षा करने के उपलक्ष्य में प्राप्त करता था।[3]

महाभारत काल

महाभारतकालीन युग को सुव्यवस्थित, समुन्नत, प्रगतिशील और परिपक्व आर्थिक विचारों का युग कहा जा सकता है। तत्कालीन समाज में प्रशासनिक दृष्टि से राजाओं का अधिकार और महत्व अधिक बढ़ गया था। जाति प्रथा पूर्व की परम्परा पर ही आधारित थी। ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। शूद्र तथा दासों को श्रमिक का अधिकार दिया गया था। स्त्रियों की वही प्रतिष्ठा थी, जो कि वैदिक काल में उन्हें प्राप्त थी। यद्यपि अधिकांश जनसंख्या ग्रामों में निवास करती थी, परन्तु इस समय तक काफी बड़े-बड़े नगरों का भी जन्म हो चुका था। काशी, अयोध्या, हस्तिनापुर जैसे नगर राजाओं की राजधानी थे और भारी संख्या में लोग वहाँ निवास करते थे।

तत्कालीन लोगों के जीविकोपार्जन के साधन कृषि, पशुपालन तथा उद्योग-धन्धे थे। व्यापार इस युग तक उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँच चुका था। लोगों के मध्य होने वाले मामलों तथा झगड़ों का न्याय राजा के हाथ में होता था। लोगों को अपनी आय का एक भाग राजा को कर के रूप में देना पड़ता था, इस काल तक करों की संख्या में भी वृद्धि हो चुकी थी।

इस युग में समाज कई वर्गों में विभक्त हो चुका था। राजाओं में परस्पर कलह, ईर्ष्या, द्वेष की भावना तथा संघर्षों के कारण समाज की आर्थिक स्थिति बनती बिगड़ती रहती थी। एक राजा दूसरे पर आक्रमण कर उसकी सम्पत्ति को हड़पने का प्रयास कर रहा था।[4]

---

१. अरण्य कांड सर्ग ६ श्लोक ११, १४

२. उत्तर कांड, सर्ग १४ श्लोक ३०

३. उत्तर कांड, सर्ग ७४, श्लोक ३१।

४. यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः।
आच्छिनन्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम्॥
श्रियं ददाति कस्मैचित् कस्माच्चिदपकर्षति।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः॥

—महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ६८, श्लोक ४६-४७

समाज में प्रत्येक वर्ग के लोगों के लिये अलग-अलग कार्य की व्यवस्था थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों के आधार पर सारे कर्मों का विभाजन किया गया था। इस युग में शासन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि नियमों के पालन का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। नियमों के विरुद्ध राजा व प्रजा कोई भी कार्य नहीं कर सकता था।

इस युग में आर्थिक स्थिति पहले की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ थी। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारों के माध्यम से वस्तुओं का आयात-निर्यात किया जाता था। वैदिक काल की भाँति केवल कृषि एवं पशुपालन ही सम्पत्ति का साधन नहीं था अपितु इस काल में अनेक प्रकार के उद्योग धन्धे, व्यवसाय, वाणिज्य प्रचलित थे और व्यापारियों को इसके लिये पूर्ण सुविधा दी जाती थी।[1]

तत्कालीन समाज में लोगों के रहन-सहन का स्तर वैदिक काल की अपेक्षा श्रेष्ठ था। परन्तु प्रजा के रहन-सहन का जीवन विशेषतः राजा पर आधारित था। कुशल शासक के अन्तर्गत प्रजा भी प्रसन्न रहती थी और अकुशल अथवा अयोग्य राजा के होने पर प्रजा को हमेशा चिन्ता बनी रहती थी।

आन्तरिक शान्ति तथा बाह्य आक्रमण से निश्चिन्तता के फलस्वरूप जन-जीवन का विकास निर्बाध रूप से होता था और जनता का आर्थिक जीवन भी समुन्नत होता था। अर्थतन्त्र को भी किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचता था। परन्तु आन्तरिक अशान्ति, अराजकता, विप्लव आदि के फलस्वरूप जनसमाज का आर्थिक जीवन टूट कर बिखर जाता था। बाहरी आक्रमण का भी ऐसा ही विनाशकारी प्रभाव जन जीवन पर पड़ता था।

सामाजिक स्थिति

महाभारत काल को युद्धकाल की संज्ञा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इस काल में शासन की बागडोर राजाओं के हाथ में होती थी।[2] वे आर्थिक विकास की दृष्टि से समुन्नत युग का निर्माण करते किन्तु एक दूसरे से परस्पर युद्ध करते रहते थे। वैदिक एवं उपनिषद् काल आध्यात्मिक उत्थान का समय था। उस

---

१. अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोभिषु भारत।
प्रभावयन्ति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषिं तथा॥
—महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ८७, श्लोक ३८

२. यथा तासां च मन्येत् श्रेय आत्मन एव च।
तथा कर्माणि सर्वाणि राजा राष्ट्रेषु वर्तयेत्॥
—महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ८८, श्लोक ३

युग में अर्थोपार्जन प्रधानतः धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए किया जाता था। अतः उस काल में अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्र का एक घनिष्ठ सम्बन्ध था। किन्तु इस युग में अर्थ का सम्बन्ध राजनीति से अधिक हो गया था। इस काल में राजा अधिक से अधिक आय प्राप्त कर उसे शासन तन्त्र को सुदृढ़ रखने तथा युद्ध सामग्री की पूर्ति में तथा युद्ध संचालित करने में खर्च किया करता था। इस युग की सामाजिक स्थिति वैदिक काल की सामाजिक स्थिति से पर्याप्त भिन्न थी।

राजा की मर्यादा

राजा को दैवीशक्ति के रूप में माना जाता था। उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा कर दी गई थी। उसके महत्वपूर्ण कर्तव्य होते थे, जिसका पालन करना अनिवार्य था। राजा के लिए समस्त आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक तन्त्रों तथा विधाओं का ज्ञाता होना आवश्यक था। महाभारत में राजा को राज्य का निर्माता कहा गया है, क्योंकि समस्त आर्थिक विचार अपने क्रियान्वयन के लिए उसी पर निर्भर करते थे।[१]

अर्थ का महत्व

महाभारत काल में अर्थ का महत्व और अधिक बढ़ गया था। इसके पूर्व धर्म और अर्थ दोनों को समान स्थान दिया गया था। महाभारत में बार-बार कहा गया है, कि धर्म के साथ अर्थ को अधिक महत्व दें।[२] शान्ति पर्व में राजा अर्थ की विशेषताओं पर विचार करता है, जिसमें नारद धन के उपभोग की प्रक्रियाओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि धन का उपभोग उचित कार्यों के लिए किया जाना

---

१. कालो हि कारणं राज्ञो राजा कालस्य कारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥
दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक्कार्त्स्न्येन वर्तते।
तदा कृतयुगंनाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते॥
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन, प्रवर्तेत तदाकलिः॥
राजाकृतयुगस्त्रस्टा त्रेतायाः द्वापररस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्॥
—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ६९, श्लोक ११६-११९

२. अर्थस्वइत्येव सर्वेषां कर्मणा मव्यतिक्रमः।
—महाभारत आपद्धर्म पर्व, अध्याय ६७, श्लोक १२

चाहिए और फसल, फल आदि के उत्पादन हेतु घी एवं शहद ब्राह्मणों को देना चाहिए।[1]

उस समय धन के उपयोग की सबसे अच्छी क्रिया दान देना मानी गई थी। अतएव लोग धन का अधिकाधिक उपयोग दान के रूप में करते थे और उनका विश्वास था कि ऐसा करने से उनके धन में वृद्धि होगी। इस दान की क्रिया के लिये ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे क्योंकि वे धर्म पर निष्ठा और विश्वास रखते थे? ऐसा विश्वास था कि उनका अनादर करने से राजा तथा राज्यतंत्र की हानि हो सकती है।[2]

वर्णाश्रम धर्म

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र—इन वर्णों के विभाजन के आधार पर ही धनोपार्जन के सिद्धान्त, साधन और सुविधा का संयोजन होता था। ब्राह्मण ज्ञान विज्ञान से, क्षत्रिय प्रजा पालन कर और वैश्य कृषि कर्म, पशुपालन एवं व्यापार वाणिज्य आदि के द्वारा जीविकोपार्जन करते थे।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, सन्यास एवं वानप्रस्थ आश्रम में किस प्रकार धनार्जन तथा उसका उपयोग करना चाहिए इनके नियम भी बने। गार्हस्थ्य धर्म के वर्णन में विद्वानों ने चार प्रकार की आजीविका बतायी है—कोठे भर अनाज का संग्रह करके रखना, यह पहली जीविकावृत्ति है। कूंड़े भर अन्न का संग्रह करना यह दूसरी वृत्ति है तथा उतने ही अन्न का संग्रह करना जो दूसरे दिन के लिये शेष न रहे, यह तीसरी वृत्ति है और कपोती वृत्ति, 'उञ्छवृत्ति' का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करना चौथी वृत्ति है। इन चारों में पहले की अपेक्षा दूसरी वृत्ति श्रेष्ठ है। अन्तिम वृत्ति का आश्रय लेने वाला धर्म की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है और वही सबसे बढ़कर धर्म विजयी है।[3]

---

१. श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव।
अर्थधर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता॥
—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ५९, श्लोक १-३२

२. विप्रस्य सर्वमेवैतद् यद् किञ्चिज्जगतीगतिम्।
ज्येष्ठेनाभिजनेनेह तद्धर्म कुशला विदुः॥
—महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ७२, श्लोक ९

३. गृहस्थ वृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिःस्मृताः।
कुसूलधान्यः प्रथमः कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम्॥
अश्वस्तनोऽथ कापोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत्।
तेषां परः परो ज्यायान् धर्मतो-धर्मजित्तमः।
महाभारत मोक्षधर्म पर्व २४३ अध्याय श्लोक २, ३

कर्म की प्रधानता

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चारों वर्णों के लिये अपने-अपने कर्मों का पालन करना अनिवार्य था। उस समय के लोगों का यह विश्वास था कि जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। कौन से कर्म करने योग्य है और कौन से कर्म नहीं करने योग्य है इसका भी विवेचन किया जाता था। महाभारत में कहा गया है कि जो पुरुष जिस अवस्था में, जिस देश अथवा काल में, जिस उद्देश्य से कर्म करता है, वह 'उसी अवस्था में' वैसे ही देश अथवा काल में 'वैसे भाव से, उस कर्म का वैसा ही फल पाता है। वैश्य की व्याज लेने वाली वृत्ति, खेती और वाणिज्य के समान तथा क्षत्रिय के प्रजापालन रूप कर्म के समान, ब्राह्मणों के लिये वेदभ्यास रूपी कर्म ही महान् है। काल के उलट फेर से प्रभावित तथा स्वभाव से प्रेरित हुआ मनुष्य विवश सा होकर उत्तम, मध्यम और अधम कर्म करता है।[१]

भूमि के प्रकार

महाभारत में भूमि के स्वरूप का जिक्र किया गया है। "आरम्भ में भूमि इतनी ऊबड-खाबड़ थी, कि उसमें कृषि पर पाना बिल्कुल असम्भव था। अतः राजा पृथु ने इसे अपनी बुद्धि की कुशलता से समतल बनाया। भूमि जब कृषि उत्पादन के योग्य हो गई, तभी राजा पृथु शासक बने। इन विचारों से स्पष्ट होता है कि भूमि कृषि के योग्य न थी, बाद में उसे समतल कर बनाया गया है।[२] उस काल में विशेषज्ञों द्वारा तथा भूमि की पाहचान पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

इसी प्रकार मिट्टी के रूपों और गुणों का भी अध्ययन-अनुशीलन किया गया। अनुभव एवं अनुसन्धान से यह निश्चय किया गया कि किस प्रकार की मिट्टी में कौन-

---

१. यो यस्मिन् कुरुते कर्म यादृशं येन यत्र च।
तादृशं तादृशेनैव स गुणं प्रतिपद्यते ॥
वृद्धया कृषि वणिक्त्वेन जीवसंजीवनेन च।
वेत्तुमर्हसि राजेन्द्र स्वाध्यायगणितंमहत्।
कालसंचोदितो लोकः कालपर्यायनिश्चितः ॥
उत्तमाधम मध्यानि कर्माणिकुरुतेऽवशः ॥
—महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व अध्याय ६२ श्लोक ८, ९-१०।

२. मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही।
उज्जहार ततोवैन्यः शिलाजातान् समन्ततः।
धनुष्कोट्या महाराजतेन शैला विवर्धिताः।
—महाभारत शांतिपर्व अध्याय ५९ श्लोक ११५-१६।

सा बीज बोया जाय। किस ऋतु में कौन-सी फसल उगायी जाय। कौन से शाक भाजी अथवा फल के पौधे लगाए जायँ।

खेत सींचने के नियम

कृषि के उत्पादन में वृद्धि हेतु सिचाई आवश्यक है। उस समय सिचाई के साधनों के साथ ही खेत सींचने के नियमों को भी बना दिया गया था। वर्षा आदि का जल जिसके खेत से होकर दूसरे के खेत में जाता है, उसकी इच्छा के बिना उसके खेत की आड़ या मेड़ को नहीं तोड़ना चाहिए। इसी प्रकार आड़ न टूटने से, जिसके खेत में अधिक जल भर जाता है वह भयभीत हो उस जल को निकालने के लिये खेती की आड़ को तोड़ डालना चाहता है जिसमें ऐसे लक्षण जान पड़े, उसी को शत्रु समझना चाहिए।[1]

उपभोग

उपभोग का आर्थिक जीवन में अपना विशेष महत्त्व है, क्योंकि जब तक समुचित ढंग से समाज उपभोग नहीं करेगा तब तक सामाजिक विषमता कभी दूर ही नहीं हो सकती। महाभारत में उपभोग के नियमों को अच्छी प्रकार समझाया गया है : "भाँति-भाँति की दुःश्चेष्ठा, अपने सेवकों की जीविका का विचार, सबके प्रति सशंक रहना, प्रमाद का परित्याग करना, प्राप्त हुई वस्तुओं को सुरक्षित रखते हुए उसे बढ़ाना, बढ़ी हुई वस्तुओं का सुपात्रों को विधिपूर्वक दान देना, यह धन का पहला उपयोग है। कर्म के लिये धन का त्याग उसका दूसरा उपयोग है, कामोपयोग के लिये उसका व्यय करना तीसरा और संकट-निवारण के लिये खर्च करना उसका चौथा उपयोग है।"[2]

---

१. यस्यक्षेत्रादप्युदकं क्षेत्रमन्यस्यगच्छति।
न तत्रानिच्छतस्तस्यभिद्येरन सर्वसेतवः।

—महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ८० श्लोक १४।

२. दुष्टेश्चितं च विविधं वृत्तिश्चैकानुवर्तिनाम्।
शङ्कितत्वं च सर्वस्व प्रमादस्य च वर्जनम्॥
अलब्धलाभो लब्धस्य तथैवच विवर्धनम्।
प्रदानं च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्ततः॥
विसर्गोऽर्थस्य धर्मार्थकामहैतुकमुच्यते।
चतुर्थं व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितम्॥

—महाभारत शांतिपर्व, अध्याय ८ श्लोक ५६-५७-५८

इन चार प्रकार के उपभोगों के आधार पर ही व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन की आर्थिक गतिविधियों का संचालन होता था। किन्तु इससे यह अर्थ न लगा लेना चाहिए कि इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के कार्य में धन का उपभोग ही नहीं किया जाता था। आधुनिक अर्थशास्त्रियों की भाँति उस समय भी आवश्यकताओं की चर्चा की गई है। अत: आवश्यकता की पूर्ति हेतु अन्य मदों में भी धन का उपभोग किया जाता था। प्राचीन विचारकों ने भी अधिकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति सीमित साधनों के द्वारा करने के नियम प्रतिपादित किये हैं।[१]

उत्पादन

इस काल में उत्पादन की अलग-अलग विधायें थीं, ब्राह्मण, पुरोहिती के माध्यम से धनार्जन करते थे, क्षत्रिय प्रजापालन करके तथा वैश्य खेती, पशुपालन एवं व्यापार के द्वारा धन की उत्पति करते थे। शूद्र ही एक ऐसा वर्ग था जो केवल मजदूरी करके अपनी जीवका का निर्वाह करता था। उसके पास न जमीन थी, न व्यापार-वाणिज्य के लिये पूंजी थी, और न उसकें पास कोई साधन-सुविधा थी। वह अपना श्रम बेचने पर मजबूर था। वास्तव में वह सर्वहारा श्रमिक था।

उत्पादन का एक अन्य तरीका भी था, जो कुटीर उद्योगों से सम्बद्ध कहा गया है। एक वर्ग ऐसा था जो लघु उद्योगों पर ही निर्भर करता था। यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी लघु उद्योगों, कताई-बुनाई के द्वारा उत्पादन में योगदान करती थीं। इस प्रकार इस समय की उत्पादन प्रणाली वर्ग क्रम के आधार पर विभाजित थी। उत्पादित वस्तुओं में अनेक प्रकार के अनाजों के अतिरिक्त, धातु आदि की बनी वस्तुयें भी शामिल हैं।

वितरण

समाज में धनी और निर्धन वर्ग थे। उन वर्गों में धन का समान वितरण नहीं किया जाता था। महाभारत के राजधर्मानुशासन पर्व में कहा गया है कि 'जहाँ धनी और दरिद्र की दान-शक्ति का प्रश्न है, उधर भी शास्त्र की दृष्टि है ही। दोनों के लिये समान दक्षिणा नहीं रखी गई है दरिद्र की शक्ति को पूर्ण पात्र से मापा गया है अर्थात् जहाँ धनी के लिये बहुत धन देने का विधान है, वहाँ दरिद्र के लिये एक पूर्ण

---

१. यद्धि गुप्तावशिष्टं स्यात् तद्वित्तं धर्मकामयो:।
संचयान्न विसर्गी स्याद् राजा शास्त्रविदात्मवान्॥
—महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय १२०, श्लोक ३५

पात्र ही दक्षिणा में देने का विधान कर दिया है।[1] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि समाज में धन के वितरण में असमानता रही है।

विनिमय

इस युग में विनिमय की प्रणाली काफी उत्कर्ष तक पहुँच चुकी थी। विभिन्न प्रकार के सिक्कों का प्रयोग महाभारत में प्राप्त होता है। उन्हीं सिक्कों का प्रयोग विनिमय के क्षेत्र में किया जाता था। यद्यपि वस्तु विनिमय का भी प्रचलन था।[1] किन्तु वैदिक युगीन वस्तु विनिमय की अपेक्षा कम। इस समय भी लोग गायों आदि का आदान-प्रदान कर परस्पर आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। एक स्थान पर कहा गया है कि, 'मैं आपको यह वस्तु देता हूँ, इसके बदले में आप वह वस्तु दे दीजिये, ऐसा कह कर दोनों की रुचि के अनुसार जो वस्तुओं की अदला-बदला की जाती है, उसे धर्म माना जाता है। यदि बलात् अदला-बदली की जाय तो वह धर्म नहीं है।

पूँजी तथा उसका उपयोग

पूँजी का महत्व वैदिक काल से अब तक काफी बढ़ चुका था। जैसे जैसे, उद्योग धन्धों का विकास होता गया, पूँजी का विनियोग करना स्वाभाविक हो गया। सोना, चाँदी, सिक्के आदि के रूप में पूँजी का प्रयोग होने लगा। लोग ऊँचे ब्याज की दरों पर उधार, ऋण के रूप में लेते थे, जिसकी अदायगी आवश्यक थी। वैदिक काल से ही उद्योगों के विकास में भारी संख्या में लोग लगे थे। सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ कला, उद्योग आदि के विकास हेतु वे लोग काफी चिन्तन करने लगे थे। महाभारत के सभापर्व में इसका उल्लेख प्राप्त होता हैं।[2]

पूँजी का विनियोग उस समय अनेक मदों में किया जाता था। कृषि की बहुलता के कारण पूँजी का प्रथम विनियोग कृषि पर किया जाता था। इसके अति-

---

२. शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण सम्मिता न समाभवत्।
अवश्यं तात यष्टव्यं त्रिभिर्वर्णैर्यथा विधि ॥
—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ७८, श्लोक १२

१. भवतेऽहं ददानीदं भवानेतद् प्रयच्छतु।
रुचितो वर्तते धर्मो न बलात् सम्प्रवर्तते ॥
—महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय ७८ श्लोक १०।

२. महाभारत, सभापर्व, अ० ५

रिक्त शिल्प, कला, उद्योग धंधे, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को चलाने में पूंजी का विनियोग आवश्यक समझा जाता था। विनियोग करते समय यह भी ध्यान रखा जाता था, कि इससे कितना अधिक लाभ संभव हो सकेगा तथा उत्पादित वस्तु की उपयोगिता क्या होगी ?

राष्ट्रीय आय में वृद्धि

महाभारत काल में प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों का निर्धारण करते हुए राजा के लिए आदेश था कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए उसे सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसे प्रजा का शोषण नहीं करना चाहिए। "जिस गाय का दूध अधिक नहीं दुहा जाता, उसका बछड़ा अधिक काल तक उसके दूध से पुष्ट एवं बलवान हो कर भार ढोने का कष्ट सहन कर लेता है, परन्तु जिसका दूध अधिक दुह लिया गया हो, उसका बछड़ा कमजोर होने के कारण वैसा काम नहीं कर पाता। इसी प्रकार राष्ट्र का भी अधिक दोहन से वह दरिद्र हो जाता है, इस कारण वह कोई महान् कर्म नही कर पाता···राजा को चाहिए कि वह अपने देश में लोगों के पास इकट्ठा हुए धन को आपत्ति के समय काम आने के लिये बढ़ावे और अपने राष्ट्र में एकत्र धन को घर में रखा हुआ खजाना समझे।"[1]

श्रम विभाजन

राजा प्रायः श्रमिकों का विभाजन कुशल एवं अकुशल श्रमिक के रूप में करके विभिन्न कार्यों में नियुक्त करता था। इसके विपरीत नियुक्ति करने पर उसका परिणाम अच्छा नहीं होता था जैसा कि कहा गया है कि "शरभ को शरभ की जगह, बलवान सिंह को सिंह के स्थान पर, बाघ को बाघ की जगह तथा चीते को चीते के स्थान पर नियुक्त करना चाहिए।" तात्पर्य यह कि चारों वर्णों के लोगों को उनकी मर्यादा के अनुसार कार्य देना उचित है। सभी सेवकों को उनके योग्य कार्यों में ही लगाना चाहिए। कर्म फल की इच्छा करने वाले राजा को चाहिए कि वह अपने

---

१. राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि नं कर्म कुरुते महत्।
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयंनृपः॥
संजातमुपजीवन् सलभते सुमहत् फलम्
अपदार्थ च निर्यातं धनंत्विहि विवर्धयेत।
राष्ट्रञ्च कोश भूतं स्यात् कोशोवेश्मगतस्तदा॥
—महाभारत, राजधर्मानुशासनपर्व, अध्याय ८७, श्लोक २२, २३, २४

सेवकों को ऐसे कार्यों में न नियुक्त करे, जो उनकी योग्यता और मर्यादा के प्रतिकूल पड़ते हों।"[१]

संघ तथा गण

संघों अथवा गणों का आर्थिक जीवन की सम्पन्नता में विशेष महत्व रहा है। ये संघ और गणराज्य सामूहिक बल और पुरुषार्थ से सम्पन्न कहे गये हैं। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि "जो सामूहिक बल एवं पुरुषार्थ से सम्पन्न हैं, उन्हें अनायास ही सब प्रकार के अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है। संघबद्ध होकर जीवन निर्वाह करने वाले लोगों के साथ संघ से बाहर के लोग भी मैत्री स्थापित करते हैं, किन्तु आपस में फूट होने से ही संघ या गणराज्य नष्ट हो जाते हैं। फूट होने पर शत्रु उन्हें अनायास ही जीत लेते हैं अतः गणों को चाहिए कि वे सदा संघबद्ध तथा एक मत होकर ही विजय के लिये प्रयत्न करें।"[२]

संघों तथा गणों की इतनी अधिक महत्ता इसके पूर्व न थी। किन्तु सामाजिक और राजनीतिक विकास के साथ-साथ इनकी एक महत्वपूर्ण भूमिका बन गई। वस्तुतः सामाजिक संगठन को आर्थिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग माना गया है। इसके पृथक हो जाने से आर्थिक ढांचे में परिवर्तन होने के साथ-साथ सामाजिक एवं राजनीतिक डाँचे में भी परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। इसीलिए विचारकों और चिन्तकों ने उसे विशेष महत्व दिया है।

मजदूरी

विभिन्न वस्तुओं के उद्योग-व्यवसाय के आधार पर अथवा वर्णों के आधार पर ही मजदूरी निर्धारित की जाती थी—वैश्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि,

---

१. शरभः शरभास्थाने सिंह, सिंह, इवोर्जितः।
व्याघ्रो व्याघ्र इव स्थाप्योः द्वीपी-द्वीपी यथा-तथा।
कर्मस्विहानुरुपेषु न्यस्या भृत्या यथाविधि।
प्रतिलोभं न भृत्यास्ते स्थाप्याः कर्म फलैषिणा॥
—महाभारत, राजधर्मानुशासनपर्व, ११९वां अध्याय, श्लोक ५-६

२. अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघात् बल पौरुषैः।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषुसंघात वृत्तिषु॥
भेदेगणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा॥
—महाभारत-राजधर्मानुशासन पर्व, १०७, श्लोक १५-१४

"वैश्य यदि राजा या किसी दूसरे की छः दुधारु गायों का एक वर्ष तक पालन करे तो उनमें से एक गाय का दूध स्वयं पिये, (यही उसके लिए वेतन है)। यदि वह दूसरे की एक सौ गौओं का पालन करे तो साल भर में एक गाय और एक बैल मालिक से वेतन के रूप में ले ले। यदि उन पशुओं के दूध आदि बेचने से धन प्राप्त हो तो उसका सातवाँ भाग वह अपने वेतन के रूप में ले, परन्तु पशु विशेष का बहुमूल्य सींग और खुर बेचने से जो धन प्राप्त हो, उसका १६वाँ भाग ही उसे ग्रहण करना चाहिए।"[1]

व्यवसायिक नीति

उस समय राष्ट्रीय उन्नति के लिए आवश्यक था कि व्यवसायों वर्ग को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया जाय। राजा के लिए व्यवसाय, व्यापार तथा कृषि की उन्नति हेतु हर प्रकार की नोतियों को अपनाने का निर्देश था।[2] राजा का यह परम कर्तव्य होता है कि वह अधिक धन उत्पन्न करने वालों को भोज आदि सम्मान देकर प्रोत्साहन दें। वस्तुओं के आयात तथा निर्यात के समय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के लगाये जाने का उल्लेख भी किया गया है।[3]

---

१. षण्णामेकां पिवेद् धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत्।
लब्धाश्च सप्तमं भागं तथा शृंगे कलां खुरे।।

—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ६०, श्लोक २५

सस्यांना सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः।
न च वैश्यस्यकामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति।।

—वही, श्लोक २७

२. अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोमिषु भारत।
प्रभावयन्ति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषि तथा।।
तस्मांगोमिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद्विचक्षणः।
दयावान्प्रमन्तश्च करान सम्प्रणयन् मृदून।

× × ×

न ह्यतः सदृशं किश्चिद्धनमस्ति युधिष्ठिर।

—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ८७, श्लोक ३८, ३९, ४०

३. धनिनः पूजयेन्नित्यं यानाच्छादनभोजनः।
अंग मेतन्महद्राज्ये धनिनोनाम भारत।।

—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ८८, श्लोक २९-३०

करारोपण

आधुनिक युग में राज्य के द्वारा विभिन्न व्यवसायों से कर वसूल करने के नियम प्रतिपादित कर दिये गये हैं। प्राचीन काल में भी चाहे वह वस्तु उत्पादन का भाग हो अथवा कृषि उत्पादन का भाग हो, कर के ही रूप में राज्य द्वारा प्राप्त किया जाता था। महाभारत में कहा गया है कि "कर राजा की एक प्रकार की मजदूरी होती थी, प्रजापालक होने के नाते कर उसे पुरस्कार के रूप में प्रदान किया जाता था। अर्थात् उसका वेतन का सार्वजनिक रूप में भुगतान किया जाता था।"[1] इस युग में राजा और प्रजा के बीच सुरक्षात्मक आवश्यकताओं को ही आधार बनाया गया था। वही सुरक्षात्मक व्यवस्था आज के युग में भी बेरोजगारी, भुखमरी, शत्रु आदि से रक्षा के रूप में चली आ रही है।

करारोपण के नियम

कर लगाने के सम्बन्ध में कहा गया है कि "राजा को चाहिए कि वह परिस्थितियों को देखते हुए कर वसूले। जैसे भौंरा धीरे-धीरें, फूल एवं वृक्ष का रस लेता है, वृत्त को काटता नहीं, जैसे मनुष्य बछड़े को कष्ट न देकर धीरे-धीरे गाय को दुहता है, उसके थनों को कुचल नहीं डालता, उसी प्रकार राजा कोमलता के साथ ही राष्ट्र रूपी गौ का दोहन करे, उसे कुचले नहीं। वह थोड़ा-थोड़ा कर लेकर फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ावे और उस बढ़े हुए कर को वसूल करे। उसके बाद समयानुसार फिर उसमें थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करते हुए क्रमशः बढ़ाता रहे। ताकि किसी को विशेष भार न जान पड़े।"[2]

करारोपण के पूर्व राज्य को यह अधिकार होता था कि वह उत्पादन के लिए लोगों को अनुमति प्रदान करे। महाभारत में इस बात पर जोर दिया गया है कि भली-भाँति विचार करने के बाद कर लगाना चाहिए। देश, काल तथा परिस्थितियों

---

१. बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेम लिप्सेथा वेतनेनधनागमम् ॥

—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ७१, श्लोक १०

२. मधु दोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इवपादपम् ।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्चन विकुट्टयेत् ॥
अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत् ।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत् ॥

—महाभारत शांतिपर्व, अध्याय ८८, श्लोक ४, ७

के अनुकूल ही कर लगाना उचित होता है।[१] कर वसूल करने वाले को कर लेने के समय, वसूलने के अनुपात का पूरा लेखा-जोखा रखने के लिए वह पूरा जिम्मेदार होता था। आर्थिक नियमों के प्रतिपादन हेतु व्यय का नियंत्रण आवश्यक था। राजा कर लगाते समय प्रजा का सदैव ध्यान रखता था।[२] एक स्थान पर कहा गया है कि 'यदि राजा के खजाने में कमी हो, तो वह केवल उन ब्राह्मणों से कर ले सकता है, जो ऋत्विज, राज पुरोहित तथा मन्त्री हो।'[३]

भूमि कर

प्राचीन काल में भूमि ही उत्पादन का प्रमुख साधन थी। प्रारम्भ में तो कृषि-उत्पादन संभव और प्रचलित था, किन्तु बाद में बहुत से कच्चे तथा पक्के पदार्थों का उत्पादन किया जाने लगा। फलतः जो भूमि जिस व्यक्ति के अधिकार में होती और उसमें जितना उत्पादन किया जाता, उसी के आधार पर 'कर' देना अनिवार्य हो गया था। प्राचीन आचार्यों ने भूमि कर के भुगतान के अलग-अलग नियमों का उल्लेख किया है। महाभारत में १।६ से १।१० भाग तक भाग कर भुगतान हेतु निर्धारित किया गया है।[४]

---

१. न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत्।
आनुपूर्वेण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि ॥
—महाभारत शांतिपर्व अध्याय ८७, श्लोक १२

२. यथा यथा न सीदेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः।
फलंकर्म च सम्प्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ॥
—महाभारत शांतिपर्व अध्याय ८७, श्लोक १६

३. एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशोमहीपतिः।
ऋते ब्रह्म समेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च ॥
—महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय ७६, श्लोक ८

एक अन्य स्थान पर करारोपण के नियम इस प्रकार से बताये गये हैं—
कालं प्राप्त मुपादद्यान्नार्थं राजा प्रसूचयेत् ॥
अहन्यहनि संदुह्यान्महीं गामिव बुद्धिमान् ॥
यथा क्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनोति मधुषट्पदः।
तथा द्रव्यमुपादाय राजाकुर्वीत संचयम् ॥
नार्थमल्पं परिभवेन्नावमन्येत् शात्रवान्।
बुद्ध्या तु बुद्ध्येदात्मानंन चाबुद्धिष विश्वसेत् ॥
—महाभारत, शांतिपर्व अ० १२०, श्लोक ३३-३४-३६

४. बलि षष्टेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्
.... ॥
—महाभारत, शांतिपर्व अ० ७१ श्लोक १०

राजा को किस स्थिति में और कैसे कर लगाना चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन महाभारत में किया गया है। सामान्य तौर पर जिन नियमों का उल्लेख किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) राजा को लोभी नहीं होना चाहिए। उसे अपना तथा दूसरों का हित समान रूप से समझना चाहिए।[१]

(२) राजा को प्रजा पर उतना ही कर का भार लादना चाहिए, जिससे उसे कष्ट न हो।[२]

(३) राजा तभी कर लेने का अधिकारी हो सकता है, जब वह आर्थिक तथा प्रशासनिक दृष्टि से प्रजा की रक्षा करे।[३]

(४) राजा को एक मधुमक्खी की भाँति होना चाहिए, जो बिना पौधों को कष्ट दिए हुए शहद इकट्ठा करती है अर्थात् थोड़ा-थोड़ा करके कर लेना चाहिए।[४]

(५) आवश्यकता पड़ने पर यदि कर बढ़ाये जायँ तो थोड़ा-थोड़ा कर बढ़ाना

---

१. नोच्छिद्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया।

—महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय ८७ श्लोक १८

२. प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियोलभते फलम्।
वत्सौपमन्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना॥
भृतो वत्सो जातबलः पीड़ां सहतिभारत।
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धोयुधिष्ठिर॥
राष्ट्रमप्यति दुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्॥
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृपः॥

—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ८७ श्लोक २०, २१, २२

३. संजातमुपजीवन्स लभते सुमहत् फलम्।
आपदर्थं च निर्यात धनं त्विह विवर्धयेत्॥२३॥—वही शान्तिपर्व ८७, २३

४. ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा सम्प्रीत दर्शनः।
प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिरवादिनम्॥

—महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ८७। १९

चाहिए अर्थात् जैसे-जैसे सम्पत्ति में वृद्धि हो वैसे-वैसे कर आरोपित किया जाना चाहिए।[1]

(६) करोरोपण उचित स्थान और उचित समय पर किया जाना चाहिए।[2]

(७) करोरोपण उत्पादन, लागत, लाभ आदि का विचार किये बिना नहीं करना चाहिये।[3]

करों की चोरी

आज के समान महाभारत काल में भी कभी-कभी लोग निश्चित कर अदा न कर उसकी चोरी कर लिया करते थे या उसे छिपा लिया करते थे। अथवा कर दाता स्वयं को अपनी-अपनी सम्पत्ति को राज्य के बाहर छिपा देते थे। तत्कालीन समाज में इस प्रकार करों का भुगतान न करने के अनेक प्रमाण तथा उदाहरण प्राप्त होते हैं।[4] इन अपराधों को रोकने के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।

शिल्प कला पर कर

अन्य लोगों की तुलना में शिल्पकारों पर कम कर लगाने की व्यवस्था थी। कहा गया है कि विभिन्न प्रकार की शिल्प कलाओं के उत्पादन में शिल्पकारों को

---

१. मधु दोहं दुहेद्राष्ट्र भ्रमराइवापदपम्।
वत्सोपेक्षी दुहेच्चैवस्तनांश्चन् विकुट्टयेत ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ८८ श्लोक ४

२. अल्पेनाल्प देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततोभूयस्ततो भूयः क्रम वृद्धि समाचरेत् ॥
दमयन्निव दम्यानिशश्वद् भारं विवर्धयेत्।
मृदुपूर्वं प्रयत्ने पाशानभ्यहारयेत् ॥

—महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ८८ श्लोक ८

३. न चारस्थाने नचाकाले करांन्तेभ्यो निपातयेत्।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथा कालं यथा विधि।

—महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ८७ श्लोक १२

४. षडेतान् पुरुषो जह्यादिभन्ना नावभिवार्णवे।
अप्रवक्तारम् आचार्यन् अनधीयानमृत्विजम् ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ॥
ग्रामकामं च गोपालं बन कामंच नापितम् ॥

—महाभारत, शांतिपर्व अध्याय ५६, श्लोक ४४-४५

काफी मात्रा में कच्चा पदार्थ लगाना पड़ता है। अतएव निर्धारित शर्तों के अनुकूल ही शिल्पकारों पर कर लगाया जाना चाहिए।[1]

जनसंख्या

इस युग में जनसंख्या वृद्धि एवं उत्पादन के अनुपात की कोई गणना नहीं की जाती थी। उस समय एक बड़ी जनसंख्या थी, जो कृषि एवं व्यवसायों में लगी रहती थी। महाभारत के युद्ध में १८ हजार अक्षौहिणी सेना का उल्लेख प्राप्त होता है। जब इतनी भारी संख्या में सेना हो सकती है, तो फिर जनसंख्या कितनी अधिक रही होगी। वैदिककाल में संतानोपत्ति में कोई बाधा न थी और न कोई रोक टोक थी। प्रत्येक व्यक्ति सन्तान की कामना से स्त्री के साथ संभोग करता था, इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से आचार-नियम प्रतिपादित किये जा चुके थे। उन्हीं के अनुकूल रोग आचरण करते थे।[2]

ऋण तथा व्याज

ऋण तथा व्याज लेने की प्रथा का काफी प्रचलन हो गया था। क्योंकि राजाओं के लिये जुआ का खेलना निषिद्ध नहीं था। और वे जुए में धन के साथ अपनी स्त्री तक को हार बैठते थे। ऐसी स्थिति में वे ऋण ग्रस्त भी हो जाते थे। कभी-कभी राजागण ऋणग्रस्त होकर अपना राज्य तक खो देते थे, जब राजाओं की यह स्थिति थी तो प्रजा की बात ही क्या थी? समाज का अधिकांश धनी वर्ग श्रमिकों को ऋण ग्रस्त कर उन्हें अपने अधिकार में रखना चाहता था।

व्याज पर रुपया उठाने की एक परिपाटी बन गई थी और कितने धन पर कितना व्याज दिया जाना चाहिए इसका एक निश्चित नियम था जो आर्थिक व्यवस्था का आवश्यक अंग बन गया था। इस समय लोग व्याज को त्याग का प्रतिफल मानने के साथ-साथ धन की वृद्धि का एक साधन मानते थे। ऋण की कल्पना पाँच प्रकार से की गई है, जिससे मुक्त होने का प्रयास लोग करते थे।[3]

---

१. उत्पत्ति दानवृत्ति च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत्।
शिल्पं प्रति करान्नेवं शिल्पिनः प्रतिकारयेत्॥

—महाभारत १२-३७

२. यात्रार्थं भोजनं येषां सन्तानाय च मैथुनम्।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यति तरन्ति ते॥

—महाभारत शांतिपर्व, अध्याय ११०, श्लोक २२

३. देवतातिथि भृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा।
ऋणवान् जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत्॥

इस प्रकार रामायण तथा महाभारत में वर्णित आर्थिक विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह युग वैदिक युग से काफी भिन्न रहा। इसमें राज्य की समस्त क्रियाओं में आर्थिक क्रियाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया जिसके फलस्वरूप वार्ता शास्त्र का स्वरूप तो वही रहा किन्तु कृषि कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि का काफी विस्तार हो गया। इस काल में एक राज्य नहीं अपितु अनेक राज्य बन गये थे। उनके पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धों में काफी वृद्धि हुई थी। रामायण में केवल राम के जीवन को लेकर सामाजिक स्तर पर आर्थिक क्रियाओं तथा विचारों का वर्णन है। जबकि महाभारत में कौरव और पाण्डवों के परस्पर विवाद से राज्य के नष्ट होने आदि के विचार आर्थिक विचारों पर आधारित है। इसके अतिरिक्त हम यह भी कह सकते हैं कि यह युग उपनिषदों में वर्णित आध्यात्मिकता से नितान्त भिन्न था।

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञ कर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्ध दानेन नृणामभ्यर्चनेन च॥
वाचाशेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च।
यथावद भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत कर्मआदितः॥

—शान्तिपर्व, अ० २६२, श्लोक ८-९-१०

अध्याय ७

सूत्र तथा जातक ग्रन्थों में आर्थिक विचार

अध्याय ७

सूत्र तथा जातक ग्रन्थों में आर्थिक विचार

सूत्र ग्रन्थों की रचना दो भागों में की गई है। प्रथम गृह्य सूत्र दूसरे श्रौत सूत्र। गृह्य सूत्रों में गार्हस्थ्य से सम्बन्धित सभी नियमों का प्रतिपादन मिलता है, जब कि श्रौत सूत्रों में केवल वैदिक यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं का जिक्र किया गया है। पारस्कर गृह्य सूत्र में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के षोडश संस्कारों का विवेचन है। जबकि गौतम, बौधायन, विष्णु आदि ने अपने सूत्रों में यज्ञों से सम्बन्धित नियमों का प्रतिपादन और विवेचन किया है। अतः प्रासङ्गिक रूप से ही उनमें आर्थिक सिद्धान्तों की चर्चा मिलती है।

सूत्र काल में भारतीय सामाजिक व्यवस्था अच्छी तरह निखर गई थी। समाज चारों वर्णों में विभक्त होकर एक स्थायी और अपरिवर्तनशील रूप ग्रहण कर चुका था। समाज में उद्योग-धन्धों, कला-शिल्प और व्यापार-वाणिज्य की पूरी प्रतिष्ठा कायम हो चुकी थी। नगर श्रेष्ठि ही राजा का आय-व्यय सहायक होता था और वह राजा को आवश्यकता और अवसर पड़ने पर वित्तीय सहायता भी प्रदान करता था। समाज पर नगर श्रेष्ठि एवं व्यापारी वर्ग की एक प्रकार की प्रभुता भी स्थापित हो चुकी थी।

सूत्रकालीन समाज

वेद तथा स्मृतिकालीन समाज के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह काल केवल नियमों के प्रतिपादन का काल था, किन्तु सूत्र काल में नियमों का व्यवहारिक जीवन में प्रयोग होने लगा था। दूसरे शब्दों में सूत्रों की परम्परा का स्रोत वेद के मन्त्र हैं, किन्तु समयानुकूल उनके कार्यान्वयन में विशेष अन्तर आया। उस समय धर्म एवं अर्थ का एक ऐसा सम्बन्ध जुड़ गया था, कि उसे किसी भी स्थिति में अलग नहीं किया जा सकता था। अतएव धार्मिक परम्परा के साथ ही आर्थिक जीवन, आर्थिक विचार जुड़ते गये।

धर्म सूत्रों का मुख्य वर्ण विषय आचार, विधि, नियम और क्रिया 'संस्कार' है। ये धर्म सूत्र कभी-कभी गृह्य सूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों के भी क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। गृह्य सूत्रों का ध्येय, गृह-यज्ञ, प्रातः सायं पूजन, पके हुये भोजन की बलि, वार्षिक यज्ञ, विवाह, पुंसवन, जात कर्म, उपनयन एवं दूसरे संस्कार छात्रों एवं स्नातकों के नियम, मधुपर्क और श्राद्ध कर्म का वर्णन करना तथा इनकी विधियों

को स्पष्ट करना है। इस प्रकार गृह्यसूत्रों का स्पष्ट सम्बन्ध घरेलू जीवन तथा व्यक्तिगत जीवन से है।

गृह्य सूत्रों में सामाजिक एवं धार्मिक जीवन

प्राचीन परम्परा के आधार पर समाज को कई जातियों में विभक्त कर न( ) किसी एक मुख्य लक्ष्य का द्योतक था। प्रत्येक जाति पृथक्-पृथक् गुण, कर्म के आधार पर विभक्त कर दी गई थी। गृह्यसूत्रों में इसके व्यवहारिक जीवन में काफी स्थिरता आ गई और सम्पूर्ण आर्थिक जीवन के सभी पक्ष नियमों से आबद्ध हो गये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायिक एवं मिश्रित जातियों का अभ्युदय हो गया, जिसके फलस्वरूप समाज की एक नई रचना हो गई। तत्कालीन सामाजिक जीवन की आधारशिला वर्ण व्यवस्था थी। कर्म या आचार के अनुसार वर्णों के उत्कर्ष या अपकर्ष के नियम प्रचलित थे। वर्ण विषयक सहिष्णुता जीवनोपयोगी वस्तुओं के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में लागू की जाती थी। आत्मपोषण के लिये आवश्यक वस्तुयें किसी भी वर्ण से ग्रहण की जा सकती थी। उदाहरण के लिए सन्यासी किसी भी वर्ण के व्यक्ति से भिक्षा ग्रहण कर सकता था। इसी प्रकार ब्रह्मचारी के लिये भी सभी वर्णों के गृहस्थों से भिक्षा लेने का नियम था। गौतम सूत्र में कहा गया है कि यदि किसी निर्धारित साधन से वृत्ति न चले तो शूद्र से भी जीवन निर्वाह की वस्तु ली जा सकती है।[१] इसी प्रकार से हमें तत्कालीन समाज की अनेक सामाजिक एवं धार्मिक गतिविधियों का विवरण सूत्र तथा जातक ग्रन्थों में प्राप्त होता है, जिनमें से कुछ का अध्ययन यहाँ पर किया जा रहा है।

इस काल में आर्थिक जीवन के पहलुओं का संकुचित स्वरूप पूरी तरह निखर गया था। व्यापार, व्यवसाय आदि के नियमों को वर्ण क्रम पर ही आधारित रखा गया था किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के कर्मों में उनके जीविकोपार्जन के नियमों में काफी परिवर्तत आ गया था। जैसे चूड़ा कर्म, उपनयन संस्कार आदि से सम्बन्धित नियमों के संशोधित स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। सूत्र ग्रन्थों के अध्ययन से हमें समाज की विभिन्न अवस्थाओं का पता चलता है। उस समय प्रत्येक वर्ण के विद्योपार्जन के लिए अलग-अलग नियम, वैवाहिक व्यवस्था तथा कर (भेंट उपहार) प्रणाली का वैज्ञानिक स्वरूप प्रचलित था।

---

१. 'वृत्तिश्चेन्नान्तरेण शूद्रात्।'

—गौतम प्रश्न २, अध्याय ८ सूत्र ५

'पशुपालक्षेत्रकर्षककुलसंगतकारयितृपरिचारिकाभोज्यन्ना:'।

—गौतम प्रश्न २, अध्याय ८ सूत्र ६

इस युग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के अतिरिक्त जिन जातियों का उदय हुआ वह थी 'चांडाल' तथा 'मिश्रित' (वर्ण संकर) जाति। विधि संस्कार न किये जाने पर जिन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था वे जातियाँ चांडाल के नाम से पुकारी जाती थी। मिश्रित जाति का सामान्य अर्थ वर्णसंकर से है। वर्णसंकर-जाति वह जाति बनी, जिनके जन्म से ही पैतृक विभेद रहा।[1] इस प्रकार की जातियों के लिए चिन्तकों ने अलग से नियम प्रतिपादित किये जों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातियों के लिए पहले से बनाये गए नियमों से भिन्न थे।

प्राग् गृह्यसूत्र अथवा श्रौत मूत्र

श्रौत सूत्रों में जातियों की प्रथायें पूर्व क्रम के अनुसार कुछ भिन्न प्रतीत होती हैं। आचार्य पाणिनि शूद्रों का विभाजन दो भागों में करते हैं। (१) निर्वासित, (२) अनिर्वासित। पूर्व की भाँति इस काल में भी शूद्रों की उपेक्षा और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन जातियों के उत्थान हेतु प्रेरणा प्रदान करने के उल्लेख मिलते हैं। शूद्रों को सन्यास के नियमों से अलग रखा गया और शेष जातियों के नियमों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

वर्णाश्रम

वर्णाश्रम धर्म का शुभारम्भ वेद काल में ही हो चुका था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सूत्रों में भी प्रत्येक आश्रमों के सम्बन्ध में अलग-अलग नियम बताये गये हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में किस प्रकार गुरु के पास विद्या का अर्जन करना चाहिए, तत्पश्चात् गृहस्थ आश्रम में धनोपार्जन, वानप्रस्थ एवं सन्यास में धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने की अनेक विधियों आदि का पूरा-पूरा विवेचन किया गया है। वर्णाश्रम धर्म के सारे नियम आर्थिक नियमों पर आधारित थे, क्योंकि नियमित रूप से धनोपार्जन करने, उसे व्यय करने आदि की विधियाँ तभी सफल हो सकती थीं, जब वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन किया जाय।

गौतम धर्म सूत्र में आश्रमों के पूर्व नामों में कुछ परिवर्तन मिलता है। यथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु, वैखानस आदि। इन आश्रमों का महत्व भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से है। प्रत्येक आश्रम सामाजिक व्यवस्था के किसी न किसी पहलू से जुड़ा था। गौतम ने गृहस्थ आश्रम को ही सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है।[2]

---

१. वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पंचमें वाऽऽचार्याः।

—गौतम प्रश्न १, अध्याय ४ सूत्र १८

२. ऐक्याश्रम्यंत्वाचार्याः। प्रत्यक्ष विधानाद् गर्हस्थस्यैव।

—गौतम १, ३, ३५

सूत्र ग्रन्थों में वर्णित चारों आश्रमों के अध्ययन से पता चलता है कि आश्रमों का विचार आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही किया गया था। किन्तु कालक्रम अथवा व्यवस्था की दृष्टि से इन चारों प्रकार के आश्रमों के सम्बन्ध में आचार्यों के अलग-अलग मत रहे। आचार्य गौतम का मत है कि वेद का अध्ययन पूरा कर लेने वाले ब्रह्मचारी को किसी भी आश्रम को स्वीकार करने की छूट होती है। वह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, सन्यासी या वानप्रस्थ का जीवन आरम्भ कर सकता है।[१] किन्तु इन सभी आश्रमों में से गृहस्थ आश्रम ही उत्पत्ति स्थान है, क्योंकि गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य आश्रमों में सन्तान उत्पत्ति की व्यवस्था नहीं है।[२] इसी प्रकार वसिष्ठ, बौधायन आदि के सूत्रों में भी आश्रम सम्बन्धी नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है।

चार पुरुषार्थों का सिद्धान्त

सूत्र ग्रन्थों की रचना ही चार पुरषार्थों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) पर आधारित है। पूर्ववर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर ही इन इन चारों पुरुषार्थों को भी विभक्त किया गया है। जीवन निर्वाह के लिये धन की प्राप्ति नैतिक आचरण के लिये धर्म, सृष्टि के विकास हेतु (सन्तान की कामना से) काम, एवं परलोक प्राप्ति अथवा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति के लिये मोक्ष के उपायों का वर्णन प्राप्त होता है। वसिष्ठ के अनुसार श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए धर्म की आवश्यकता है, धर्म के आचरण से ही 'अर्थ' की प्राप्ति होती है।[3] इसी प्रकार काम सूत्र में राजवृत्ति के लिये 'अर्थ' का होना आवश्यक बताया गया है।[४] क्योंकि उसी के द्वारा ही प्रजा पालन संभव है। फलतः इस युग में अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के लिये आर्थिक क्रियाओं की प्रधानता रही है।

राजा

प्रारम्भिक संस्कृत साहित्य में राजा के सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख किया जा

---

१. तस्याऽऽश्रमाविकल्पमेके ब्रुवते।

—गौतम प्रथम प्रश्न, अध्याय ३-1

२. तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम्।

—गौतम प्रथम प्रश्न, अध्याय ३-३

३. अथातः पुरुषनिःश्रेयसार्थं धर्मजिज्ञासा।

—वसिष्ठ १-१

४. एषां समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान्। अर्थश्चराज्ञः।
तन्मूलत्वाल्लोकयात्रायाः॥

—कामसूत्र, १,२,१५,१६

चुका है। सूत्र काल में सम्राट् तथा राजाओं के बारे में पर्याप्त सामग्री मिलती है। उससे यह पता चलता है कि राज्यों का काफी अधिक विस्तार हो चुका था। राज्य की विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु राजा एक परिषद् की नियुक्ति करता था। यज्ञादि क्रियाओं को सम्पन्न करने में उनका प्रमुख योगदान होता था। तत्कालीन रहन-सहन तथा सामाजिक स्तर से स्पष्ट होता है कि इस समय की भी स्थिति, ऋग्वेद, महाकाव्य काल आदि के समय की सी थी। गौतम ने राजा के कर्म बताते हुये कहा है कि अभिषिक्त राजा का (अन्य द्विजातियों ब्राह्मण और वैश्य की अपेक्षा) प्रमुख धर्म है सभी प्राणियों की रक्षा का कार्य। इसके अतिरिक्त न्यायपूर्वक दण्ड देना भी राजा का धर्म हैं।[1] जीविका के लिए उद्योग करने में असमर्थ ब्राह्मणों का पालन-पोषण भी राजा को करना चाहिये। जो ब्राह्मण पहले कर से मुक्त किये गये हों उनसे कर नहीं लेना चाहिये।

कृषि एवं भूमि

सूत्रों में पृथ्वी अर्थात् 'भूमि' को उत्पादन क्षेत्र के रूप में माना गया है। उत्पादन क्षेत्र से तात्पर्य है, वह स्थान जो प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक वस्तुओं का उत्पादन करने की शक्ति रखता हो। गौतम, बोधायन, जैमिनि, आपस्तम्भ आदि अनेक सूत्र ग्रन्थों में भूमि सम्बन्धी विवेचन किया गया है, किन्तु सभी सूत्रकारों ने पृथ्वी अथवा भूमि को उत्पादन क्षेत्र माना है। आचार्य पाणिनि ने कृषि की वृद्धि के हेतु अपनाये जाने वाले विभिन्न साधनों का वर्णन किया है।[2]

भूमि को सामान्यतः दो भागों में विभक्त किया गया था—

(१) वह भूमि जो उत्पादन के योग्य होती अर्थात् उत्पादक क्षेत्र, (२) ऊसर भूमि, जिसमें कुछ भी पैदा नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त बन्जर भूमि

---

१. राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्व भूतानाम् ॥

—गौतम–प्रश्न अध्याय १-७

२. मुण्डमिश्रश्लक्ष्ण लवणं व्रतवस्त्र हल कलवृत तूस्तेभ्योणिचि।

—पाणिनि अष्टाध्यायी—अध्याय ३ पाद १ सूत्र २१

हल सुकरयोः भुवः।

—वही, अध्याय ३ पाद २, सूत्र १८३

हल सीराट्ठक्। हालिकः सैरिकः।

—वही अध्याय ४, पाद ४ सूत्र ८१

मत जन हलात्करण जल्पकर्षेषु।

—वही अध्याय ४, पाद ४ सूत्र ९७

का भी विवरण प्राप्त होता है, जिसे गोचर भूमि कहा गया है। अर्थात् पशुपालन के लिये बड़े-बड़े चरागाहों को बनाया जाता था। इस प्रकार पाणिनि ने जिस कृषि व्यवस्था का वर्णन किया है, वह एक परिपक्व कृषि व्यवस्था कही जा सकती है।[1]

भूमि के स्वामित्व का सिद्धान्त

भारत में भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में अनेक विचारकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। कोलब्रुक का मत है कि विश्वजित् आदि कुछ यज्ञों में ऐसा विधान है कि जिस यजमान के कल्याण के लिये यज्ञ किया जाता है, वह अपनी समस्त सम्पत्ति पुरोहितों को दान कर देता है। यह प्रश्न किया जाता है कि क्या कोई बड़ा राजा अपनी भूमि, जिसमें पशुओं के चरने की जगह, राज मार्ग और जलाशय आदि है, दान कर देगा ? क्या कोई सार्वभौम सम्राट समस्त पृथ्वी दान कर देगा ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि न तो राजा को पृथ्वी पर और न कुमार को भूमि पर किसी प्रकार का स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार प्राप्त होता है। युद्ध में विजय प्राप्त कर राजत्व का अधिकार प्राप्त किया जाता है और शत्रु के घरों तथा खेतों पर अधिकार किया जाता है। धर्मशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि पुरोहितों की सम्पत्ति को छोड़कर राजा और समस्त सम्पत्ति का स्वामी है। व्यवहारतः पृथ्वी राजा की नहीं अपितु सभी लोगों की मानी गई है, और सब लोग परिश्रम करके उसके फलों का भोग करते हैं। जैमिनि का मत है कि भूमि समान रूप से सब लोगों की है, इस लिए भूमि का कोई खण्ड, दान स्वरूप किसी व्यक्त को दिया जा सकता है, परन्तु राजा न तो समस्त पृथ्वी को दान कर सकता है, और न कोई कुमार अपना प्रान्त दान कर सकता है। केवल जो घर और खेत आदि क्रय करके अथवा किसी प्रकार के और साधनों से प्राप्त किये गये हों, वे ही दान किये जा सकते हैं।[2] इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म शास्त्रालंकार नीलकंठ माधवाचार्य, ने भट्टदीपिका

---

१. उष सुषिमुल्कमधोरः।

—पाणिनि अष्टाध्यायी अध्याय ५ पाद २ सूत्र १०७

गोचरसंचरवहव्रजव्यजापण निगमाश्च।

—वही, अध्याय ३ पाद ३ सूत्र ११९

२. जैमिनि के जिस सूत्र से कोलब्रुक का अभिप्राय है वह इस प्रकार है—न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्।

कोलब्रुक वृत्त—मिसलेनियस' ६, ७, ३,

एसेज पहला खंड पृ० ३२०-३२१। मीमांसा दर्शन का सबसे बड़ा और मान्य भाष्य शबर का है, और इस सम्बन्ध में उसका मत भी वही है, जो कोलब्रुक का है।

आदि में भूमि के स्वामित्व के कुछ अन्य आधारों का भी वर्णन किया गया है।[१]

कृषि तथा पशुपालन

श्रौत सूत्रों में विपणन करने की प्रक्रिया का तो उल्लेख नहीं प्राप्त होता, किन्तु गायों के उधार लेन-देन का विवरण कई स्थानों पर मिलता है। इन सूत्रों में गायों का आदान-प्रदान वस्तु विनिमय के रूप में हुआ करता था। तीन जातियों के द्वारा पशुपालन करने का उल्लेख मिलता है। यज्ञों में हजारों गायों को दे देने का भी विधान बताया गया है।

श्रौत तथा गृह्य दोनों प्रकार के सूत्रों में कृषि की प्रधानता का विवरण मिलता है।[२] कृषि के लिये निर्मित विभिन्न प्रकार के यन्त्रों तथा रासायनिक विधाओं के द्वारा अधिकाधिक उत्पादन करने की चेष्टा की जाती थी। जिस प्रकार कृषि वृत्ति का साधन था उसी प्रकार गायों को भी सम्पत्ति के रूप में माना गया है जिसका उपभोग यज्ञ दान आदि के रूप में करने के नियम बताये गये हैं। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में पशु-पालन सम्बन्धी वर्णन मिलता है।[3]

आय के साधन

राष्ट्र के सम्बर्द्धन हेतु आवश्यक होता था कि राजा अपने कोश में वृद्धि करे। उत्पादित वस्तुओं से कर प्राप्त करना आय का प्रमुख श्रोत था। गौतम के अनुसार राजा को कुल उत्पादन का १।६, १।८, अथवा १।१० भाग कर के रूप में प्राप्त करना चाहिये।[४] उत्पादन के १।६ भाग का निर्धारण प्राचीन हिन्दू सामाजिक सिद्धान्त के अन्तर्गत निर्धारित किया गया था। भूमि कर का निर्धारण तो बहुत पहले

---

१. देखिये—व्यवहार मयूख (दायनिर्णय)
माधवाचार्य वृत्त न्यायमाला (आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज पृ० ३५८)

२. वैश्यो वैश्यवृत्तिर्वा कृष्यर्थं परक्षेत्रं परिगृह्य यद्युत्थानां यत्नं कृषिविषयं न कुर्यात्। तद्भावाद्यादि फलं न स्यान्तत एतस्मिन्निमित्ते स कर्षकः समृद्धश्चेन्तस्मिन् भागे यत्फलं भवितदपहार्योपहारयितव्यो राज्ञा क्षेत्र स्वामिनो दाप्यः।
—आपस्तम्बीय धर्मसूत्रम् प्रश्न २, पटल ११, कण्डिका २८ सूत्र १

३. यदि पशुपः पशूनवरूध्य पालयितुं गृहीत्वा भय स्थानेषु विसृज्योपेक्षया मारयेन्नाशयेद्वा। नाशनं चोरादिभिर अपहरणम्। तस्मिन्सति स्वामिभ्यः पशूनवसृजेत्प्रत्यर्पयेत्पश्चभावेमूल्यम्।
—आपस्तम्बीयधर्मसूत्रम् प्रश्न २, पटल ११ कण्डिका २८ सूत्र ६

४. राज्ञो बलिदानं कर्षकैर्दशमष्टमं षष्ठंवा ॥

से ही किया जा चुका था। कहीं-कहीं पर सम्पत्ति का १।५ भाग भी कर के रूप में पशुओं तथा सोने आदि पर भी देने का विधान बताया गया है।[१] इसके अतिरिक्त व्यापारियों से १।२०,[२] तथा फल-फूल औषधि शहद आदि से १।६ भाग ग्रहण करने के निर्देश थे।[३] व्यवसाइयों के इस कर के अलावा प्रत्येक माह में बाजार से कम मूल्य पर एक वस्तु राजा को प्रदान की जाती थी। जो भी वर्ग कुछ देने में असमर्थ होते थे, उन्हें राजा का कुछ न कुछ कार्य अवश्य करना पड़ता था।

प्रायः सभी सूत्रकारों ने कर प्राप्ति का उल्लेख अपने सूत्र ग्रन्थों में किया है। वसिष्ठ ने भी उत्पादन का १।६ भाग राज्य कोश में कर के रूप में देने का आग्रह किया है। इसी प्रकार बौधायन भी १।६ भाग को ही कर के रूप में देने का वर्णन करते हैं।[४] करों की वसूली में राजा को यह पूरा अधिकार होता था कि वह किससे कर ले और किससे कर न ले। वैसे तो समाज के हर व्यक्ति को कर देना आवश्यक था किन्तु कुछ लोग ऐसे होते थे, जिनसे राजा कर नहीं ग्रहण करता था।

करों से मुक्ति

सामान्यतः सभी उत्पादन वस्तुओं पर कर लगाया जाता था। और सभी वर्ग के लोगों को उसका भुगतान करना पड़ता था, किन्तु कुछ लोग कर से मुक्तभी कर दिये जाते थे। जिन लोगों को कर से मुक्त किया जाता था, उनमें श्रोत्रिय ब्राह्मण, महिलायें, रोग ग्रस्त तथा शुद्र नौकर आदि होते थे।[५] वसिष्ठ के अनुसार नदी,

---

१. पशु हिरण्योरत्येके पंचमोभागः ।।

२. विंशति भागः शुल्कः पण्ये ।।

३. मूल फल पुष्पौषधमधुमान्सतृणेन्धनानां षष्टः ।

—गौतम सूत्र-प्रश्न २ अध्याय १ सूत्र २४, २५, २६, २७

४. खड्भागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम् ।

—बौधायन-अध्याय १० सूत्र १

उपधानेऽष्टावष्टौ पादेष्टकाश्चतुर्भागीयानां पक्षाग्रयो निदृध्यात् ।।

— आपस्तम्ब धर्म सूत्र-पटेल ४ खंड ११ सूत्र १०

५. ता आत्मनि चतुर्दशभिः पादैर्यथायोगमुपदध्यात् ।

—आपस्तम्ब खण्ड ११ चतुर्थपटल सूत्र १७

विभृयाद्ब्राह्मणान्श्रोत्रियान् ।

निसत्साहांश्च ब्राह्मणान्

अकरांश्च

उपकुर्वाणांश्च

—गौतम प्रश्न २, अध्याय १ सूत्र ९-१०, ११, १२

जंगल, पहाडी क्षेत्रों में कार्य करने वाले, शिल्पकार, श्रोत्रिय आदि जो केवल जीविका निर्वाह भर के लिये पैदा करते थे, उन्हें भी कर से मुक्त कर दिया जाता था।

व्यापार

पण्य सिद्धि या व्यापार की सफलता के लिये ईश्वर से प्रार्थनायें की जाती थी। सूत्र ग्रन्थों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, ईषान् आदि की व्यापारिक वृद्धि सम्बन्धी प्रार्थनायें की गई हैं। जीविकापार्जन की खाद्यान्न वस्तुओं तथा फलों आदि का बाजारों में क्रय विक्रय किया जाता था, जिसके नियम बनाये गये थे। किन्तु व्यापारिक प्रणाली केवल उपर्युक्त वस्तुओं पर ही निर्भर न थी, बर्तन, अस्त्र, शस्त्र, कागज आदि के विभिन्न उद्योगों की भी स्थापना की जा चुकी थी और उनका व्यापारिक सम्बन्ध न केवल राष्ट्रीय अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर था। इसके साथ-साथ कताई, बुनाई जैसे कुटीर उद्योगों का भी प्रचलन था, जिसकी बनी वस्तुयें दूर-दूर तक भेजी जाती थीं।

पाणिनि ने व्यापारियों के विभिन्न नियमों का उल्लेख किया है। उस समय के व्यापारी 'वणिक्' कहलाते थे। मद्र देश में व्यापार करने वालों को मद्र वणिज कहा जाता था।[१] वे अपनी इच्छा के अनुसार व्यापार करते और जितनी पूँजी होती, उतना ही विनिमय किया करते थे। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार करने वाले लोगों का अनेक प्रकार से पाणिनी ने उल्लेख किया है जिससे तत्कालीन व्यापारिक समृद्धि का पता चलता है।

उद्योग तथा विदेशी व्यापार—इस युग में रेशम तथा कपास के उत्पादन तथा विस्तृत व्यापार के कारण वस्त्रोद्योग की प्रधानता रही। भारतीय व्यापारियों तथा पश्चिमी एशिया से पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध कायम था। शिल्पकार, कलाकार तथा श्रमिक बिना किसी अन्य वर्ग पर आश्रित हुए ही पर्याप्त मात्रा में मजदूरी प्राप्त कर लेते थे। कुछ उद्योग धंधे ग्रामीण क्षेत्रों मे तथा उससे परिष्कृत शहरी क्षेत्रों में पाये जाते थे। अतएव ग्रामीण क्षेत्रों की अधिकांश जनसंख्या उद्योग

---

१. प्रेवणिजाम। तुला प्रग्राहेण वाचरति वणिक्'

—पाणिनि अष्टाध्यायी-अध्याय ३, तृतीया पाद सूत्र ५२

गन्तव्यपण्यं वाणिजे। मद्रवाणिजः। गोवाणिजः।

—वही-अध्याय ६, द्वितीय पाद सूत्र १३

वस्त्र क्रयविक्रयाट्ठन

—वही-अध्याय ४, चतुर्थ पाद, सूत्र १३

वेतनादिभ्यो जीवति

—वही-अध्याय ४, चतुर्थ पाद सूत्र १२

धन्धों का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये ग्रामों से शहर की ओर आती थी। सूत्र ग्रन्थों में अनेक प्रकार की धातुओं के क्रय-विक्रय का उल्लेख मिलता है।[१] इससे स्पष्ट है कि लोगों के विचार उद्योगों एवं व्यापार के दिशा में काफी जागरूक थे।

व्यापारिक मार्ग

पाणिनि ने एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाली मुख्य सड़कों का उल्लेख किया है। कात्यायन भी विभिन्न प्रकार के मार्गों का जिक्र करते हैं। उत्तरापथ, जङ्गलपथ, स्थलपथ, वारिपथ आदि अनेक मार्गों का विवरण प्राप्त होता है। बुद्ध साहित्य में अजापथ, संकुपथ आदि का भी उल्लेख किया गया है। पाणिनि देवपथादिगण के अन्तर्गत, वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, कारिपथ, अजापथ, संकुपथ, राजपथ, सिंहासन आदि का विवेचन करते हैं। इन्हीं मार्गों के द्वारा राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्पन्न किये जाते थे। पाणिनि ने देवपथ के अतिरिक्त उत्तरापथ का वर्णन किया है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का द्योतक है।[२]

व्यापार पर कर

बाजार में ले जाने वाली वस्तुओं का 'शुल्क' भुगतान करना पड़ता था। शुल्क एकत्रित करने वाले मकान को 'शुल्क गृह' कहा जाता था जो भी वस्तुयें बाजार से बाहर जातीं अथवा बाहर से बाजार में आती थीं, उन वस्तुओं पर निर्धारित शुल्क लगाया जाता था। यह आय खजाने को भेज दी जाती थी। पाणिनि ने देश के पूर्वी भागों में 'टैक्स' तथा 'लेबी' देने की प्रक्रिया का वर्णन किया

---

१. लौहं लोह विकारभूत कांस्यादि भोजनपात्रं भस्माभिः परिमुष्टं सत्यप्रयतं भवति तत्र भस्मना कांस्यमम्लेन ताम्रं राजतं शकृता सौवर्णमद्भिरित्यादि स्मृत्यन्तर-वशा द्दष्टव्यम् ॥

आपणः पण्यवीथिस्तत्र क्रीतं लब्धं वापणीयं तच्च कृतान्नं नाश्नीयात्।

—आपस्तम्बीय धर्मसूत्रम्-प्रश्न १, पटल ५ कण्डिका १७ सूत्र ११-१४

२. तद्गच्छति पथिद्वतयोः। स्त्रुघ्नं गच्छति स्त्रौघ्नः पन्था दूतो वा।

—पाणिनि अष्टाध्यायी, अध्याय ४ तृतीयपाद सूत्र ८५

भविष्यति मर्य्यादावचनेऽवरस्मिन्। योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलि पुत्रान्तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्र सक्तून पास्यामः।

—अध्याय ३, तृतीय पाद सूत्र १३६।

है ।[१] वहाँ पर व्यापार में ही नहीं अपितु एक सिक्का प्रति मकान की दर से भी कर वसूल किया जाता था और उसी प्रकार प्रति हल की दर से भी वसूली की जाती थी । गौतम ने कारीगरों, शारीरिक श्रम पर जीविका निर्वाह करने वाले, नौका एवं गाड़ी चला कर जीविका निर्वाह करने वालों के लिये भी बताया है कि उन्हें कर देने के स्थान पर महीने में एक दिन राजा के घर काम करना चाहिये ।[२] उनके अनुसार व्यापारी को भी कर देने के अतिरिक्त राजा के घर एक दिन प्रति माह अपनी विक्रय की एक वस्तु को कम मूल्य पर देने का भी नियम था ।[3]

वर्णाश्रम एवं कर

वर्ण तथा वर्णाश्रम का सम्बन्ध आर्थिक व्यवस्था से होने के कारण सभी आश्रम के लोगों पर कर का प्रभाव पड़ता था । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र किसी भी वर्ण अथवा आश्रम का क्यों न हो राष्ट्र की रक्षा हेतु उसे कर देना आवश्यक था ।[४]

---

१. तदस्मिन्वृद्धयायलाभ शुल्को यदादीयते ।
पन्चास्मिन वृद्धिः आयः, लाभः शुल्कः,
उपदा वा दीयते, पन्चकः । शतिकः, शत्य साहस्त्रः ।
—पाणिनि अष्टाध्यायी अध्याय ५, पाद १ सूत्र ४७
ठगाय स्थानेभ्यः । शुल्क शालाया आगतः, शौल्क शातिकः ।।
—वही, अध्याय ४ पाद ३, सूत्र ७५
कार नाम्नि च प्राचां हलादौ ।
—वही, अध्याय ६ पाद ३, सूत्र १०

२. शिल्पिनोमासि मास्येकैकं कर्म कुर्युः
स्तेनाऽऽत्मोपजीविनो व्याख्याताः
नौचक्रीतवन्तश्च ।
भक्त तेभ्यो पद्यात् ।।

३. पण्य वणिग्भिरर्थापचयेनदेयम् ।
—गौतम अध्याय १ प्रश्न २ सूत्र ३१, ३२, ३३, ३५

४. चतुर्वेधं विकल्पी च अंगविद्धर्म पाठकः
आश्रमस्था स्त्रयो विप्राः पर्ण देवा दशावराः
—बौधायन प्रश्न १ अध्याय १ सूत्र ८
गर्भादिस्संखया वर्षणां तदष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् ।
—बौधायन प्रश्न १ अध्याय २ सूत्र ८

विनिमय

वस्तुओं के विनिमय हेतु भी नियम प्रतिपादित किये गये थे। ब्राह्मणों के लिये जिन वस्तुओं का विक्रय वर्ज्य बताया गया है, उनका पारस्परिक विनिमय किया जा सकता था। जैसे रसों—(तेल, घी, गुड़ आदि) पदार्थों का विनिमय किया जा सकता है। पशुओं का विनिमय भी पशुओं से ही किया जाना चाहिये। नमक तथा बनाये हुए भोजन का विनिमय वर्जित है।[१] तिल का भी विनिमय नहीं करना चाहिए। वस्तु विनिमय के यह नियम वैदिक परम्परा के ही आधार पर बनाये गये थे।

व्यापार का केन्द्र बाजार होता था। अर्थात् वहीं पर लोग विभिन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे। किसी भी वस्तु के मूल्य का निर्धारण मांग और पूर्ति के आधार पर किया जाता था। पाणिनि ने विनिमय में प्रयुक्त सोने, चांदी तथा तांबे के सिक्कों का उल्लेख किया है। इन्हीं के माध्यम से राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी चलाये जाते थे। सामान्यतः वस्तुओं के क्रय करने में जिन सिक्कों का प्रयोग किया जाता था वे 'निष्क', विशंतिक, मानमुद्रा अथवा पद के नाम से कहे जाते थे।[२]

क्रय-विक्रय

विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय नियमों के आधार पर किया जाता था। उदाहरण के लिये ब्राह्मण आपत्ति काल में वैश्य, क्षत्रिय, शुद्र आदि वर्णों के व्यवसाय से अपनी जीविका चला सकता था, किन्तु वैश्य वृत्ति के समय कुछ वस्तुओं की बिक्री का निषेध था। गन्ध (चन्दन आदि) रस (तेल, घी, नमक, गुड़ आदि) का बना हुआ भोजन (लड्डू आदि), तिल सन के बने पदार्थों, रेशमी वस्त्र, मृग चर्म और चटाई आदि गौतम के अनुसार नहीं बेचनी चाहिए। इसके अतिरिक्त लाक्षा आदि रंगों से रंगे हुए धोबी द्वारा धोये हुए वस्त्र वैश्य वृत्ति वाले ब्राह्मण को नहीं बेचना

---

१. रसानां रसै
पशुनांच
न लवणकृतान्नयोः
तिलानं च

—गौतम सूत्र प्रश्न १ अध्याय ७ सूत्र १६, १७, १८, १९

२. समर्थानां प्रथमाद्वा

—पाणिनि अष्टाध्यायी—अध्याय ४ पाद १ सूत्र ८२

असमासे निष्कादिभ्यः

—वही, अध्याय ५ पाद १ सूत्र २०

चाहिए ।[1] क्रय-विक्रय का यह कार्य बाजार में होता था । पाणिनि के अनुसार जहां पर बहुत से लोग क्रय-विक्रय हेतु एकत्र हों वह बाजार कहलाता है ।[2]

गौतम के अनुसार दास, दासी, वन्ध्या, गाय, बछिया तथा गर्भ गिरा देने वाली गाय का विक्रय वैश्य वृत्ति वाला ब्राह्मण कभी न करे । कुछ आचार्यों का मत है कि 'भूमि, धान, जौ, बकरी, ब्याई हुई गाय, और बैल का भी विक्रय न करना चाहिए ।[3] इस प्रकार से आचार्यों द्वारा क्रय-विक्रय में भी अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये थे ।

श्रमिक तथा मजदूरी

सूत्रकालीन युग में अनेक प्रकार के उद्योग प्रचलित थे, जिनमें कुशल एवं अकुशल दोनों प्रकार के श्रमिक कार्य करते थे । पाणिनि अकुशल श्रमिकों का वर्णन करते हुये कहते हैं कि वे विभिन्न प्रकार के कार्य करते थे और उन्हें कर्मकार कहा जाता था । दूसरे प्रकार के कुशल श्रमिक वे होते थे, जिन्हें शिल्पकार के नाम से पुकारा जाता था । एक तो वे श्रमिक होते जिनके दैनिक वेतन पर काम कराया जाता था और दूसरे वे होते थे । जिन्हें वेतन पर रखा जाता था । वेतन पर कार्य करने वाले श्रमिकों को वैतनिक कहते थे । कृषि कर्म करने वाले तथा शिल्पकार दोनों प्रकार के श्रमिक उत्पादन के आधार पर मजदूरी प्राप्त करते थे ।[4] कहीं-कहीं तो मजदूरी निर्धारित थी और

१. गन्ध चन्दनादिः । रस तेल घृत लवण गुणादिः वृतान्तं मोदकापूपादि तिन्ताः प्रसिद्धा । शाणं शण विकारो गोण्यादिः क्षोमं क्षुमोदभूतं पट वस्त्र विशेषः । अजिनं चर्म कटादि । एतान्यविक्रेयाणि शाण क्षौमयोर्विकार निषेधात्प्रकृतेरप्रतिषेधः रक्त लक्षादिनां निर्णितं रजकादिना धौतं । एवं भूति अपि वाससां अदण्ये ।

—गौतम अध्याय ७ मूत्र ९।१०

२. व्यवहृपणोः समर्थयोः ।

—पाणिनि अष्टाध्यायी—अध्याय २ पाद ३ सूत्र ५७

तदस्य पण्यम् ।

पाणिनि अष्टाध्यायी—अध्याय ४, चतुर्थपाद सूत्र ५१

३. पुरुषवशाकुमारी वेहतश्च नित्यम् ॥
भूमिव्राहियवाजाव्यश्चऋषभधेन्वनडुहश्चैके ॥

—गौतम प्रश्न १ अध्याय ७ सूत्र १४-१५

४. कर्मणि भृतौ

— पाणिनि अष्टाध्यायी अध्याय ३ पाद २ सूत्र २२

श्रमिक कार्य करने के बाद उसे प्राप्त करता था ।[१] सूत्रों में अधिकांश स्थानों पर एक माह में वेतन या मजदूरी का भुगतान करने का विवरण प्राप्त होता है ।[२]

पूंजी तथा लाभ

आचार्य पाणिनि पूंजी तथा लाभ में स्पष्ट भेद निरूपित करते हैं । विनियोजित पूंजी को मूल्य और उस मूल्य से अर्जित सम्पत्ति का एक हिस्सा लाभ कहा जाता था । दूसरे शब्दों में किसी भी वस्तु का मूल्य वस्तु के उत्पादक मूल्य तथा लाभांश का भाग है । पाणिनि ने मूल्य तथा पूंजी के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है ।[3] काम सूत्र में भी विद्या, भूमि, सोना, पशुधन आदि को पूंजी के रूप में बताया गया है ।[४] उस समय लोग अपनी पूंजी में वृद्धि करने हेतु प्रयत्नशील रहते थे ।

व्यक्तिगत सम्पत्ति

व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सूत्रकारों के मत प्राप्त होते हैं । गौतम के अनुसार 'कोई भी व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति, स्वयं खरीदी हुई वस्तु, भाइयों के बंटवारे से प्राप्त धन, स्वयं पायी हुई, किसी की खोई हुई वस्तु का स्वामी होता है । अपने कर्म से उपार्जित धन वैश्य शूद्र की अधिसम्पत्ति होता है । पाई गई वस्तु राजा जा धन है । अपने ६ कर्मों में रत रहने वाले ब्राह्मण को मिली हुई वस्तु की सम्पत्ति होती है । १६ वर्ष से कम आयु वाले बालक के धन की उसके वयः प्राप्ति

संमाननोत्सं जमाचार्यकरणज्ञान भृति विगण नव्ययेषुनियः ।

—वही, अध्याय १, पाद ३ सूत्र ३६

१. परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् । शनाय शतेन व परिक्रीतः

—वही—अध्याय १ पाद ४ सूत्र ४४

२. धमधीष्टो भृतो भूतो भावी मासिकोध्यापकः ।
मासीकः कर्मकरः । मासिको व्याधिः । मासिकः उत्सवः ।

—वही अध्याय ५ पाद १ सूत्र ८०

३. नौवयोधर्म विषमूल मलमीतानुलाभ्यस्नार्यतुल्य प्राप्य वध्यानाम्य सम समित संमितेषु

—पाणिनि अष्टाध्यायी, अध्याय ४ पाद ४ सूत्र ९१

सोऽस्यां शवस्न भृतयः ।

—वही अध्याय पाद १ सूत्र ५६

४. विधा भूमि हिरण्य पशुधान्य भाण्डोपस्कर
मित्रादीनामर्जन मर्जितस्य विवर्धनमर्थः ।।

—काममूत्र अधिकरण १ अध्याय २ सूत्र १

एक राजा को रक्षा करनी चाहिए।" इसी प्रकार वैश्य तथा शुद्र के बारे में भी बताया गया है।[1]

सम्पत्ति का बंटवारा

सम्पत्ति का बंटवारा करने के नियमों का प्रतिपादन करते हुए गौतम कहते हैं कि 'पिता की मृत्यु के बाद पुत्र उसकी सम्पत्ति प्राप्त करे अथवा पिता के जीवन काल में भी माता के रजोदर्शन आयु समाप्त होने पर इच्छानुसार विभाजन करे अथवा सभी सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त हो और वह शेष लोगों का पिता के तुल्य भरण पोषण करे। विभाग से धर्म की वृद्धि होती है। ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का २०वां भाग एकदन्त पंक्ति वाले एक नर और मादा पशु जैसे कोई और दो दन्त पंक्ति वाले पशुओं से जुती हुई गाड़ी तथा एक बैल अतिरिक्त मिलता है।[2] इसी प्रकार परिवार के सभी सदस्यों को सम्पत्ति का विवरण किस प्रकार किया जाय इसका पूरा-पूरा उल्लेख सूत्र ग्रन्थों में किया गया है।

व्याज

सूत्र ग्रन्थों में व्याज के लेन-देन तथा उसके दर निर्धारण के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया गया है। गौतम तथा वशिष्ठ २० कार्षापण पर पाँच मास की दर पर ब्याज का निर्धारण करते हैं। सुवर्ण आदि पर गौतम ने ऊँची दर पर ब्याज का निर्धारण किया है।[3] सामान्यतः सूत्रों में ६ प्रकार की व्याज बतायी

---

१. स्वामी रिक्थ क्रय संविभाग परिग्रहाधिगमेषु ॥
ब्राह्मण स्याधिकं लब्धं ॥
क्षत्रियस्य विजितं ॥
निर्दिष्टिं वैश्य शुद्रयोः ॥
निध्यधिगमो राजधनम् ॥
ब्राह्मणस्याभिरूपस्य ॥
अब्राह्मणो व्याख्याता षष्ठंलभेतेत्येके ॥
—गौतम सूत्र—प्रश्न २ सूत्र ३८, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४

२. उर्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं भजेरन ॥
निवृन्ते रजसि मातुर्जीवतिचेच्छति ॥
सर्व वा पूर्वजः स्वेतरान्विभृत्यात्पितृवत् ॥
—गौतम प्रश्न ३ पृ० २७५ सूत्र १, २, ३

३. कुसीद वृद्धिर्धर्म्या विशंति पंचमाषिकी मासम् ॥
नाति संवत्सरी मेके ॥
चिरस्थाने द्विगुण्यं प्रयोगस्य ॥
—गौतम सूत्र प्रश्न २ सूत्र २६, २७, २८

गयी है। (१) संयुक्त ब्याज, (२) कालिक ब्याज, (३) अनुबन्धित ब्याज, (४) कायिक ब्याज, (५) दैनिक ब्याज, (६) प्रतिज्ञा पत्र पर लिखित ब्याज।

गौतम का मत है कि 'धर्म सम्मत ब्याज प्रति मास बीस कार्षापण पर पाँच मास होता है। किन्तु कुछ आचार्यों का मत है कि १ वर्ष हो जाने पर ब्याज नहीं लेना चाहिए। जितने समय में मूलधन दूना हो जाय उतने समय तक ही ब्याज लेना धर्मसम्मत है। किन्तु वसिष्ठ का यहाँ पर मत है कि सोने में १।२ तथा धान्य में १।३, वृक्ष मूल फल में १।८ भाग ब्याज लेना चाहिए। गौतम के मतानुसार जितने समय में बन्धक रखी हुयी वस्तु का ऋणदाता भोग करे, उस ऋण पर कोई ब्याज नहीं होता। ऋणी के धन लौटाने की इच्छा करने पर यदि (ऋणदाता) ब्याज के लोभ से धन न ले अथवा राजा ऋणी को धन लौटाने से रोक दे तो (उस समय से) ब्याज की वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार चक्रवृद्धि ब्याज का भी विवरण दिया गया है।[1]

द्यूत तथा ऋण

द्यूत तथा ऋण की परम्परा इस काल में भी पूर्वतः विद्यमान थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी अधिकांश लोग आवश्यकतानुसार ऋण ग्रहण किया करते और उसका सूद अर्थात् ब्याज देते थे। सूत्रों में ऋण भुगतान करने की प्रक्रिया कई किस्तों में बतायी गयी है।

त्रिपिटक तथा जातक

राज्य तथा आर्थिक जीवन

राज्य तथा आर्थिक प्रणाली दोनों एक दूसरे के परिपूरक थे। उस समय न तो एकाधिकार ही था और न पूंजी का संचयन। इन ग्रन्थों में मूल्यों का निर्धारण तथा लाभ आदि के नियमों का भी विस्तृत विवेचन प्राप्त नहीं होता जबकि अर्थशास्त्र में तत्सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया गया है। जातकों तथा सूत्रों में हमें आय, उत्पादन पर कर, शुल्क तथा चुंगी आदि का विवरण अथवा संकेत मात्र प्राप्त होता है। एक स्थान पर सामयिक करों को भी लगाने की बात कही गयी है। गौतम सूत्र में राजा को प्रजा के द्वारा दी जाने वाली भेंट, श्रमिक, कलाकार

---

१. चक्र काल वृद्धिः।
कारिता, कायिका शिखाधिभोगश्च॥
कुसीदं पशुयज लोभक्षेत्रशदवाह्येषु नाति पञ्चगुणम्॥
—गौतम प्रश्न २ अध्याय ३ सूत्र ३१, ३२, ३३

शिल्पकार आदि के बारे में पर्याप्त विवेचन किया गया है। धर्म सूत्रों में हमें करों के सम्बन्ध के अधिक जानकारी प्राप्त होती है। अतएव जातकों एवं त्रिपिटक ग्रन्थों में कथाओं के आधार पर ही आर्थिक विचारों का परिज्ञान किया जाना संभव है।

धन वैभव

जातकाल की आर्थिक समृद्धि का पता व्यवसाइयों की वर्णित कहानियों से चलता है। सोने, चाँदी का प्रयोग तथा उच्च वर्ग के लोगों की विलासिता से भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय समाज कितना समृद्धिशाली था। जातकों में सम्पत्ति का उपभोग करने से सम्बन्धित अनेक कहानियाँ उपलब्ध होती हैं। धार्मिक कार्यों में धन का उपभोग करना, भिक्षुओं को बाँटने आदि की अनेक जातक कथायें तत्कालीन वैभव का उल्लेख करती हैं।[१]

धन की लिप्सा

पूर्व ग्रन्थों की भांति जातकों में भी 'धन' की लिप्सा का उल्लेख मिलता है। कई कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें धन का लोभ किया गया किन्तु उनके अनुसार अन्त में उसका परिणाम बुरा भुगतना पड़ा है। सुवर्ण हंस जातक मे वर्णित यह कथा कि "सुवर्ण हंस द्वारा सोना दिये जाने से धनी स्त्री, धन से सतुष्ट नहीं हो सकी और अन्त में उस सुवर्ण हंस का ही बध कर दिया।"[२] स्पष्ट करती है कि मनुष्यों को धन से अधिकतम संतुष्टि नहीं हो पाती।

उत्पादक वस्तुओं का वितरण

सेट्ठि वणिज जातक से हमें सूचना मिलती है कि उस समय स्थानीय उत्पादनों को वड़े-वड़े शहरों में भेज दिया जाता था या उन्हें बाजार तथा कस्बों में थोक विक्रेता खरीद लिया करते थे। वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण माँग और पूर्ति के आधार पर किया जाता था।[३] व्यापार-वाणिज्य का उस युग में काफी विकास

---

१. महासेट्ठि ! त्वं पच्छिमकालं न चित्तेसिपुत्तधीतरो न ओलोकेसि, समणस्स ते गोतमस्स सासने बहुधनं विप्पकिण्णं सो त्वं अति वेल धन विस्सज्जनेन वा वणिज्जकम्मान्तानं अकरणेन वा समण गोतमं निस्साय दुग्गतो जातो।

—खदिरंग जातक-जातकट्ठकथा त्रिपिटिकाचार्य भिक्ष धर्म रक्षित-पृष्ठ १६४

२. सुवर्णहंस जातक, की पृष्ठ ८८।

३. वणिजो पाति हत्थेन गहेत्वाय सुवण्णपति भविस्सतीति परिवत्तेत्वा पाति पिट्ठियं सूचिया लेखं कड्ढित्वा सुवण्ण भावं ञात्वा इमासं किन्चिअदत्वाव इमं पाति हरिस्सामिति-अयं किं च अग्घति ?

—सेट्ठिवणिज जातकं-जातकट्ठकथा पृ० ७८

हो चुका था। श्रेष्ठि वर्ग, छोटे व्यवसायी, कृषक, श्रमिक, कलाकार सभी पण्य वस्तुओं का उत्पादन रचना एवं विनिमय करके व्यापार वाणिज्य में सहयोग प्रदान करते थे।

आय के स्रोत

जातकों में राष्ट्र सम्वर्द्धन हेतु आय से विभिन्न प्रकार के साधनों का उल्लेख मिलता है :—

(१) उत्पादन का कुछ भाग राजा को कर के रूप में प्रदान किया जाता था। उत्पादन के मापक को 'द्रोनमापक' कहते थे।

(२) वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कर लगाया जाता था।

(३) शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं पर कर लगता था।

(४) शहर के मुख्य द्वार पर बाजार में बेचने हेतु आने वाली तथा बाजार से ले जाने वाली वस्तुओं पर कर लगाया जाता था।

(५) आकस्मिक भेंट राजा को दी जाती थी।

जातकों में शिल्पकारों (कलाकारों) पर किसी प्रकार का कर लगाये जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। महाउमग्ग एवं सुरुसी जातकों में आय प्राप्ति के अनेक साधनों का विवरण प्राप्त होता है।

उद्योग

जातकों में विभिन्न प्रकार के उद्योगों तथा तत्सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया गया है, बुनाई, स्वर्णकार तथा धातुकार, बढ़ईगीरी, बर्तन बनाने वाले आदि अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धों का प्रचलन उस समय था। इन उद्योगों को बढ़ावा देने के लिये संघों का स्वरूप बन चुका था, गण, युग, व्रत, संघ आदि का उल्लेख पाणिनि सूत्र में किया जा चुका है। उद्योगों के स्थानीयकरण पर विशेष ध्यान रखा जाता था। कच्चे पदार्थों की सुलभता तथा आवागमन के साधनों को ध्यान में रखकर उद्योगों की स्थापना की जाती थी। चीन-पट्ट, कम्बल वस्त्र आदि का उल्लेख तत्सम्बन्धी उद्योगों का द्योतक है।[1]

---

१. तदा बोधि सत्तो पब्बतोनाम राजा हुत्वा
अमच्च गणपरिवुतो सत्थु सन्तिकं गत्वा धम्म-
देसनं सुत्वा बुद्ध पमुखं भिक्खुसंघं निमन्तेत्वा
महादानं पवत्तेत्वा पत्तुण्णं चीन पट्टं कोसेयं
कम्बलं दुकूलानि चैव सुवण्णपट्टकं दत्वा
सत्थु सन्तिके पब्बजी।

—दूरे निदानं २४ भगवाकोणागमणोजातकट्ठकथा, पृष्ठ ३३.

व्यापार

उस समय व्यापारिक एवं व्यवसायिक दृष्टि से काफी उन्नति हो चुकी थी। विदेशी व्यापार, क्षेत्रीय तथा स्थानीय व्यापार, ग्रामीण तथा शहरों के बीच में व्यवसाय अथवा व्यापार आदि का पूरी तरह से प्रचलन था। विभिन्न देशों के बीच व्यापार करने वाले व्यापारी एक समूह बनाकर व्यापार करते थे। डाकुओं द्वारा उत्पन्न की जाने वाली परेशानी तथा व्यापारियों को होने वाली अनेक कठिनाइयों का विवेचन भी जातकों में किया गया है। महाउमग्ग जातक, सांख्य जातक, गन्धार जातक आदि अनेक जातकों में व्यापारिक एवं व्यवसायिक नियमों के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख किया गया है। राइसडेविड्स अपनी पुस्तक 'बोधकालीन भारत' (Buddhist India) में व्यापार का उल्लेख करतेहुए कहते हैं कि हाथ की बनी वस्तुओं के व्यापार के अतिरिक्त नदियों के माध्यम से माल को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता था।[1]

जातकों में ऐसी भी कथायें मिलती हैं कि व्यापारीगण स्त्री-विशेष द्वारा भी छले जाकर कर धन को गवां बैठा करते थे। नावों द्वारा व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान को माल ले जाते थे, जिनकी नावें टूट जाती थीं, वे कभी-कभी अपरिचित स्त्रियों द्वारा वंचन के शिकार हो जाते थे। वण्णुपथ जातक में व्यापारियों द्वारा क्रय-विक्रय करने तथा उनके लाभ का उल्लेख मिलता है।[2]

महापुरिसे पनदस सहस्सीलोकधातुं उन्नादेत्वाअरुणुग्ग
मनवेलाय सब्बञ्ञुतञाणं।

—५८ सम्बोधियापत्ति पृष्ठ ५६।

1. "Besides the peasantry and the Handicraftsmen there were merchants who carried goods either up and down the great rivers; or along the coasts in boats, or right across the country in carts, travelling in caravans."

—T. W. R. Hys Davids Buddhist India, p. 98

२. ते तत्थ भण्डं विक्किणित्वा द्विगुणच्तुग्गुणं लाभं लभित्वा अन्तनोवसनट्ठानमेव अगमंसु
वण्णुपथजातकं-जातकट्ठकथा-त्रिपिटिकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित, पृष्ठ ७६
सतेहि कण्डं आदाय जनपदं गत्वा वणिज्जं कत्वा लद्धलाभा पुन वाराणसिं आगमिसुं। —कूटाणिज जातकं-जातकट्ठ कथा पृष्ठ २८४।

व्यापारिक मार्ग

जातकों (अर्थात् ६०० ई०पू० से पूर्व) में विभिन्न प्रकार के व्यापारिक मार्गों का उल्लेख किया गया है, उत्तर-दक्षिण-दक्षिण, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण-पूर्व, पूर्वी पश्चिमी आदि अनेक मार्गों का विवरण प्राप्त होता है। जिनसे स्पष्ट होता है कि व्यापारिक समृद्धि के लिये यातायात-साधनों का पर्याप्त प्रबन्ध था।[1]

विनिमय

विनिमय की प्राचीन पद्धति प्राय: अब तक लुप्त हो चुकी थी और सरकार द्वारा निर्धारित सिक्के विनिमय का माध्यम बन गये थे। बौद्ध काल में विभिन्न प्रकार के सिक्कों का प्रयोग प्रारम्भ नहीं हुआ था, ताँबे तथा कर्षपण का उल्लेख प्राप्त होता है। राइस डेविड्स के अनुसार सोने के सिक्कों का भी प्रचलन इस समय तक न था। विनिमय में सोने-चाँदी को सिक्कों के रूप मे नहीं किन्तु विनिमय माध्यम के रूप में अवश्य प्रयोग किया जाता रहा है।[2]

मूल्य निर्धारण के नियम

जातकों के अनुसार राजा किसी भी वस्तु को क्रय करने के लिये एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति करता था, जिसे 'अंगरखा' कहा जाता था। उसके द्वारा वस्तुओं के क्रय करने का मूल्य निर्धारित कर दिया जाता था।

मूल्य निर्धारण का यह कार्य आर्थिक स्थिरता बनाये रखने के लिए किया जाता था। मूल्य का यह निर्धारण बाजार अथवा स्थान को ध्यान में रख कर किया जाता था। फलतः इस समय वस्तुतः क्रय शक्ति तथा विक्रय शक्ति में परस्पर समा-

---

१. देखिये विस्तृत रूप में Rhys Davids. Buddhist India, P. 103, 104.
नोट—विशेष जानकारी हेतु देखिये—एन०सी० बन्धोपाध्याय, इकानामिक लाइफ एण्ड प्रोगेस इन ऐन्शियेण्ट इन्डिया।

2. The older system of traffic by barter had entirely passed away never to return. The later system of a currency of standard and token coins issued and regulated by Government authority had not yet arisen......No silver coins were used. The references to gold coins are late and doubtful...... —Rhys Davids-Buddhist India, p. 100.

नता होती थी ! जातकों के अनुसार उक्त राज्याधिकारी (अंगरखा) विभिन्न वस्तुओं पर 'लेवी' लगाने का भी कार्य करता था।[१]

श्रमिक

जातकों में अधिकांश श्रमिक स्वतंत्र रूप से मजदूरी करने की स्थिति में बताये गये हैं, जिन्हें कर्मकार कहा जाता था। कर्मकार स्वयं अपनी मजदूरी को तय करते, परन्तु विवाद की स्थिति पर किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा भी मजदूरी तय होती थी। मजदूरी पर कार्य करने वाले श्रमिकों का उल्लेख पाणिनि ने किया है, जिसका उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है। जातकों में दैनिक, मासिक तथा वार्षिक मजदूरी वाले श्रमिकों का अनेकशः जिक्र किया गया है।

दास

बौद्ध साहित्य के पूर्व अस्वतंत्र श्रमिकों का भी उल्लेख किया गया है अर्थात् जातकों तथा धर्म सूत्रों में ऐसे श्रमिकों का भी विवरण प्राप्त होता है, जो अस्वतंत्र (परतंत्र) रह कर कार्य करते थे। इन्हें प्रायः दास नाम से अभिहित किया जाता था। राजाओं तथा सेठों के घर में 'दास' के रूप में लोग कार्य करते थे। इस युग के दासों की परम्परा में जो सबसे महत्वपूर्ण बात हो गई थी, वह यह थी कि दासी का पुत्र दास कहलाता था और वह दास के ही रूप में कार्य किया करता था। इसका दूसरा नाम परिचारक एवं परिचारिका के रूप मे भी लिया गया है। कटाहक जातक में 'दास' के कर्म से सम्बन्धित कहानी का जिक्र मिलता है।[२] विदुर पंडित जातक में हमें चार प्रकार के दासों का विवरण मिलता है।

---

1. 'In the sixth century B. C. there is only an official called the valuer, whose duty it was to settle the price of goods ordered for the place which is a very different thing......These are all collected together in the article referred to....and the general result seems to be that though the Kahapana would be worth at the present value of copper, only five sixths of a penny, its purchasing power then was about equivalent to the purchasing power of a shilling now."

—Rhys David, Buddhist India. p. 100-101.

२. कटाहक जातक —भदन्त आनन्द कोसल्यायन जातक —खंड २, पृष्ठ ५८

(१) नाबालिग दास (दासों के बच्चे), (२) बिक्री किये गये दास.
(३) आत्मसमर्पित दास, (४) न्याय के लिये बिके दास।

अधिकांश श्रमिक नौकर के रूप मे अर्थात् दैनिक या मासिक वेतन पर कार्य करते थे। इन दासों अथवा नौकरों को परिवार का अंग समझा जाता था। और उसी रूप में उनसे व्यवहार किया जाता था। उर्ग जातक में दास तथा उसकी दास बालिका के साथ परिवार के सदस्य जैसा बरताव होते हुए पाया जाता है। मालिक को अपने दास पर पूरा भरोसा होता था और वह हर कार्य उसकी जिम्मेदारी पर छोड़ देता था। इन ग्रन्थों में दासता को किसी भी वर्ग अथवा जाति के प्रतिबन्धों से मुक्त बताया गया है। नाम सिद्धि जातक में मजदूरी प्राप्त कर वृत्ति चलाने का विवरण प्राप्त होता है।[1]

राज्य श्रमिक

बौद्ध ग्रन्थों में अनेक प्रकार के राज्य श्रमिकों का भी उल्लेख किया गया है। मगध के राजा अजातशत्रु द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर में विभिन्न प्रकार के श्रमिकों की सूची प्रस्तुत की गई है।[2] प्रस्तुत सूची में निम्न प्रकार के श्रमिकों का वर्णन मिलता है—

हथवाल, घुड़सवार, रथकार, शस्त्रकार, नौ प्रकार के दास, भोजन पकाने वाला, नाई, अन्नानागार का नौकर, मालाकार, धोबी (कपड़ा धोने वाला), बर्तन बनाने वाला, क्लर्क, लेखाकार आदि।

सामान्य श्रमिक

उपर्युक्त सभी प्रकार के श्रमिक राजा की सेवा में नियुक्त किये जाते थे।

---

१. अथ नं आचरियो अवोच-गच्छ तात्! जनपद चारिकं चरित्वा अत्तनो अभिरुचितं एकं मङ्गलंनामं गहेत्वा एहि,

—नाम सिद्धिजातक-जातकट्ठकथा पृष्ठ २८२।

2. "What in the world is the good of your renunciation, of joining an order like yours? Other people (and here he gives a list) by following ordinary crafts get comfortable life in this world, and keep their families in comfort. Can you, Sir, declare to me any such immediate fruit visible in this world of the life of a recluse?

—R. W. Rhys Davids, Buddhist India, p. 88.

नोट—सूची के लिये देखिये—बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ८८, ९०-९६।

इसके अतिरिक्त सामान्यतः जनता की सेवा हेतु नियुक्त निम्नलिखित श्रमिकों की सूची भी हमें प्राप्त होती है।

(१) लकड़ी का काम करने वाले, धातुकर्मवेत्ता, पत्थर का काम करने वाले, जुलाहे, चर्मकार, बर्तन बनाने वाले (घरेलू प्रयोग के लिये), हाथीदाँत का काम करने वाले, रंगाई करने वाले, मछवाहे, कसाई, शिकारी-भोजन पकाने वाले (सामान्यतः) नाई, मालाकार, नाविक, टोकरी बनाने वाले, रंगाई का कार्य करने वाले आदि श्रमिक पाये जाते थे।

ब्याज

वैश्य (श्रेष्ठि) प्राचीन पद्धति के अनुसार इस युग में भी जरूरतमन्द लोगों को उधार, धन दिया करते थे। उनके द्वारा किये गये त्याग के प्रतिफल के रूप में उधार लेने वालों को ब्याज के रूप में अतिरिक्त धनराशि देना पड़ता था। यद्यपि कितना ब्याज लिया जाता था, इसका सही तथ्य प्राप्त नहीं होता, किन्तु १८ प्रतिशत की दर पर धन दिया गया था, ऐसा उल्लेख मिला है।[1]

बौद्धकालीन भारत एक आर्थिक समृद्धि का युग था। गौतम जैसे विचारकों ने जहाँ एक ओर धर्म की व्याख्या की वहीं अर्थ को भी छोड़ा नहीं। उसे समाज का एक प्रमुख अंग मान कर वे आर्थिक विचारों को नई दिशा देते रहे। आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी में आर्थिक विचारों की सूचना प्राप्त होती है। इस युग में कृषि का विकास काफी अधिक हो चुका था। उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से अनेक प्रयत्न किये जाते। इसके साथ ही इस युग में हमें व्यापार के नियमों से सम्बन्धित परिष्कृत विचार देखने को मिलते हैं। अधिकांश सूत्रों तथा जातकों में वर्णित ये आर्थिक विचार प्रगति की भूमिका अदा करते हैं। आगे चल कर यही विचार स्मृतियों में नियम के रूप में परिणत हो गये।

---

1. 'The rates of interest are unfortunately never stated. But interest itself is mentioned very early, and the law books give the rate of interest current at a some what later date for loans on personal security as about eighteen percent per annum. —Rhys Davids–Budhnist India, p. 101.

अध्याय ८

स्मृतियों में आर्थिक विचार

अध्याय ८

स्मृतियों में आर्थिक विचार

स्मृति साहित्य विचारों का भन्डार है। इसका उद्देश्य था मनुष्य को आचार व्यवहार-व्यवस्था की शिक्षा देना। दूसरे शब्दों में मुनियों ने इन स्मृतियों में आधार-भूत वैदिक सिद्धान्तों को क्रियात्मक और व्यवहारिक रूप दिया है। स्मृतियों में जिन तीन विषयों का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है उनमें प्रथम आचार है, जिसको प्रधानता दी गई है। इनमें चार वर्ण और आश्रमों का जो विभाजन किया गया है तथा उनके जो कर्तव्य एवं कर्म बतलाये गये हैं, उनका एकमात्र लक्ष्य सामाजिक सुव्यवस्था और व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक क्षमता का क्रमिक विकास है। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय को उसकी प्रवृत्ति, योग्यता और क्षमता के अनुसार ही काम करने की अनुमति दी है। समाज की व्यवस्था निर्बाध रूप से सचालित हो सके, यही उनका एकमात्र उद्देश्य है।

स्मृतियों का दूसरा विषय व्यवहार भी है। समाज में रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति को नित्य-प्रति अन्य मनुष्यों के सम्पर्क मे आना पड़ता है। उसे आवश्यकतानुसार दूसरों से लेन-देन, क्रय-विक्रय करना पड़ता है। जमीन, जायदाद, वाद-विवाद, खान-पान आदि से सम्बन्धित अनेक प्रकार के आचार-व्यवहार करने पड़ते हैं।

समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि राजा, शासक, राज्याधिकारी या पंचायत आदि जनता को सत्य व्यवहार पर स्थिर रहने की प्रेरणा दें और उसके ठीक-ठीक पालन कराने के लिये पुरस्कार और दन्ड की भी व्यवस्था करें। याज्ञवल्क्य स्मृति[1] में राजा या शासक का सर्वप्रधान कर्तव्य प्रजा

१.

पुण्यात् षड्भागमादत्त न्यायेन परिपालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात् प्रजानाम् परिपालनम्॥
चाटुतस्कर दुर्व्वन्तमहासाहसिकादिभिः।
पीड्यमानाः प्रजाः रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषतः॥

—याज्ञवल्क्य स्मृति, श्लोक ३३५-३६

के पालन तथा सुरक्षा की यथोचित व्यवस्था करना माना गया है। मनुस्मृति[1] में कर्तव्य-अकर्तव्य आदि विचारों की विषद् व्याख्या की गई है।

वर्ण विभाजन

स्मृतियों में वर्ण विभाजन सृष्टि के आदि काल से ही माना गया है। ब्रह्मा जी ने स्वयं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि के कर्मों को निर्धारित किया है। 'ब्राह्मणों के लिये पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना ये छः कर्म निश्चित किये गये हैं। क्षत्रियों के लिए संक्षेप में प्रजाओं की रक्षा, दान, यज्ञ करना, पढ़ना, विषयों में आशक्ति का न होना ये पाँच कर्म निश्चित किये गये हैं। पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, रोजगार करना, रुपया देना और कृषि कराना ये वैश्यों के कर्म हैं।[2] इसके अतिरिक्त शूद्रों के लिए इन सभी लोगों की सेवा सुश्रूषा करने और इनकी मजदूरी कर जीविकोपर्जन करने का विधान है।

---

१. यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा राजेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्चा परिपन्थिनः
मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सो चिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सवान्धवः
—मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक ११०-११

२. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच॥
विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।
पशुनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च॥
वणिक्ययं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्॥
एतेषामेववर्णानां शुश्रूषामनसूयया।
—मनुस्मृति, अध्याय १,८८,८९-९०-९१

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्यशूद्राः
—वशिष्ठ स्मृति श्लोक ४७

ब्राह्मणाः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चेति वर्णाश्चत्वारः
—विष्णु स्मृति-सवर्णाश्रम वृत्ति धर्म वर्णनम् श्लोक १

राजा की उत्पत्ति

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्मृतियों में भी वही विचार पाये गये हैं। जो वेद में हैं। मनु का कहना है कि 'इस संसार में जब राजा के न रहने से सर्वत्र भय-हाहाकार मचने लगा, तो इस जगत के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया। ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठों देवताओं का सारभूत अंश लेकर राजा को उत्पन्न किया है।''[1] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि राजा को समाज में अलौकिक स्थान पर ऐश्वर्य प्राप्त था और प्रजा पालन करना उसका प्रथम कर्तव्य था।

अर्थचिन्तन

स्मृतियों में अर्थ को प्रधानता दी गई है। उनके अनुसार सतत प्रयत्नशील रह कर लोगों को धनोपार्जन कराना चाहिए। स्मृतियों में संचित धनराशि को बढ़ाने की भी प्रेरणा प्रदान की गई है। मनु का कथन है कि 'जो पदार्थ (भूमि, रत्न आदि) प्राप्त न हो उसे पाने की इच्छा करे, जो सम्पत्ति जीत कर लाया हो, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षित धन को बढ़ाने की चेष्टा करे और बढ़ा हुआ धन सुपात्रों में बाँट दे। बगुले की तरह धन लेने की चिन्ता करे, सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िये की भांति अवसर पाकर शत्रु को मार डाले और (बलवान शत्रु के बीच घिर जाने पर) खरहे की तरह निकल भागे।'[2]

---

१. अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य-राजानमसृजत्प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैवमात्रा निर्हृत्यशाश्वती॥
—मनुस्मृति, अध्याय ७ श्लोक ३, ४

राजमन्त्री सदःकार्याणि कुर्यात-
—वशिष्ठ स्मृति, श्लोक ३२६

प्रजा परिपालनं वर्णाश्रमाणां स्वे-स्वे धर्मेव्यवस्थापनम्।
राजा च जांगलपशव्यं शस्योपेत देशमाश्रयेत्॥
वैश्यशूद्रपादश्च तत्र धन्वनृमहीवारि वृक्ष गिरि।
दुर्गाणामन्यतमं दुर्गमाश्रयेत्। तत्र ग्रामाध्यक्षानपि कुर्यात्।
—विष्णु स्मृति, राजधर्माः श्लोक १-९

२. अलब्धं चैव लिप्सेत्, लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत्॥
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्।
—मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक ९९, १०६

चार पुरुषार्थों का सिद्धान्त

प्राचीन उपभोग का विचार चार पुरुषार्थों के सिद्धान्त पर आधारित रहा है। समाज में विभिन्न प्रकार की उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं का उपभोग अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष के साधनों पर ही निर्भर रहा करता था। मनु का कहना है कि 'कोई धर्म और अर्थ को, कोई केवल धर्म को अथवा कोई केवल अर्थ को ही कल्याण कारक मानते हैं, किन्तु वास्तव में अर्थ, धर्म और काम ये तीनों ही कल्याण को देने वाले हैं।'[1] विभिन्न स्मृतिकारों ने इसी प्रकार अपने मतों का विवेचन एवं प्रतिपादन किया है।

धन की प्रशंसा एवं कर्तव्य

प्राचीन वैदिक काल से ही अर्थचिन्तन के साथ-साथ धन की प्रशंसा करने की परम्परा रही है। इसका प्रमुख कारण यही था कि धन मानव जीवन का एक प्रमुख अंग बन चुका था। इसके बिना कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती थी। अर्थ का उपार्जन करना प्रत्येक वर्ग का कर्तव्य हो गया था। विचारकों का मत था कि किसी को भी अपने कर्तव्य में एक क्षण भी नहीं चूकना चाहिए। यही कारण था कि समाज को चार वर्णों में विभक्त कर सबके पृथक्-पृथक् कर्तव्य निर्धारित किये गये थे।[2]

वैभव एवं समृद्धि

इस युग में सम्पत्ति एवं धन वैभव के कारण, धन का उपभोग करने वाले लोगों में दो श्रेणियां बन गयी थीं। एक श्रेणी उनकी थी जो परिश्रम करके धनोपार्जन करते थे और उस धन का उपयोग जीविका निर्वाह में करते थे। इन वर्गों का शोषण करके अपने पास पुष्कल धन एवं प्रभूत सम्पत्ति एकत्र कर लेने वाला एक दूसरा वर्ग भी था जो अपने वैभव का उपयोग विलासिता के लिये करता था। जन सामान्य का जीवन स्तर वैदिक युग की तुलना में उच्च था और सामान्य जन अपने जीवनयापन के लिये आवश्यक सामग्री जुटा लेता था। परन्तु एक ऐसा वर्ग सत्ता सम्पन्न हो चुका

---

१. धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एवच।
अर्थ एवेह वा श्रेयः त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥

—मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक २२४।

२. तेषाञ्च धर्माः ब्राह्मणस्याध्यापनं क्षत्रियस्य शस्त्रनिष्ठता वैश्यस्य पशुपालनं शुद्रस्य द्विजाति शुश्रुषा। ब्राह्मणस्य यजन प्रतिग्रहौ क्षत्रियस्य क्षितित्राणं कृषि गोरक्षवाणिज्य कुसीदयोनिपोषणानि वैश्यस्य, शुद्रस्य सर्व शिल्पानि।

—विष्णु स्मृति, सर्ववर्णाश्रम वृत्तिधर्मवर्णनम् श्लोक १, ३, ४।

था जो स्वयं कुछ भी शारीरिक श्रम नहीं करता था, परन्तु अधिकांश धन-वैभव अपनी मुट्ठी में कर लेने में सफल हो गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी अपने कर्मों के आधार पर जीवन निर्वाह करते थे। समाज के कुछ ऐसे भी वर्ग थे, जिन्हें सामाजिक प्रतिबन्धों से मुक्त कर दिया गया था।

मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा वैश्य से खेती वाणिज्य, महाजनी और गाय बैल आदि पशुओं का पालन और शुद्रों से द्विजातियों की सेवा कराये।[1] इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि दो मास से ऊपर की गर्भिणी स्त्री, ब्रह्मचारी, वान-प्रस्थ, सन्यासी और ब्राह्मण इन लोगों से नदी पार उतारने का शुल्क नहीं लेना चाहिए।

तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के अनुशीलन के स्पष्ट हो जाता है कि चार वर्णों के ही आधार पर समाज का सारा कार्य-व्यापार चलता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्यों और मौलिक अधिकारों का पता था। शास्त्रों द्वारा निश्चित सीमाओं और मर्यादाओं का उल्लंघन करना सर्वथा निषिद्ध था।

अर्थोपार्जन

मनुस्मृति में जीवन निर्वाह हेतु धन उत्पादन करने के वे सभी मार्ग बताये गये हैं, जो कि प्राचीन काल से प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त उनका धीरे-धीरे विकास होता रहा और धीरे-धीरे वे उत्पादन के मौलिक सिद्धान्त बन गये।

उत्पत्ति की प्रक्रिया तो सृष्टि के सृजन से सम्बद्ध है। आचार्य मनु ने सृष्टि का उत्पादन, उत्पादन का कारण, उत्पादन के साधन, सृष्टि का विभिन्न अंगों में विभाजन तथा उससे सम्बन्धित नियमों का उल्लेख किया है। धन का सृष्टि से सम्बन्ध तथा उसके उत्पादन, वितरण और उपभोग के नियमों का संगठन बाद में किया गया है।

भूमि सम्बन्धी विचार

तत्कालीन विचारकों ने 'भूमि' का उत्पादन क्षेत्र अथवा अनुत्पादक क्षेत्र के रूप में उल्लेख किया है। प्राकृतिक वस्तुओं का आधार भूमि ही थी। उसी का परिवर्तित रूप 'प्रकृति' के रूप में आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने लिया है। स्मृतियों में भूमि को कई भागों में विभक्त किया गया है। कृषिजन्य भूमि, गोचर भूमि, ऊसर भूमि आदि। गोचर भूमि के बारे में कहा गया है कि "गांवों के चारों ओर १०० धनुष् (एक धनुष् = चार हाथ) या तीन चार बार लाठी फेंकने से जितनी दूर तक जा सके,

---

१. वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।
पशुनां रक्षणं चैव दास्यं शुद्रं द्विजन्मनाम्॥

—मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक ४१७

उतनी ही जगह, गोचर के लिये छोड़ दें। नगर के समीप इसकी तिगुनी भूमि गोचर के लिये रखे।''[१]

सिचाई का महत्व

स्मृतियों में कृषि के उत्पादन में वृद्धि करने के लिये सिचाई की व्यवस्था का वर्णन है। यद्यपि कृषि की अधिकांश सिचाई वर्षा पर निर्भर करती थी, फिर भी लोग कुंए, तालाब, आदि की व्यवस्था सिंचाई की दृष्टि से करते थे। आज की योजनाओं की तरह उस समय कोई भी योजना तैयार नहीं की जाती थी। तत्कालीन लोगों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों के विवरण से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि ये लोग उत्पादन बढ़ाने के लिए कितना अधिक प्रयत्नशील थे। इस सम्बन्ध में लिखित एवं लघु शंख स्मृति में लोगों के विचार देखने को मिलते हैं।[२]

मनु ने सिंचाई के साधनों को नष्ट करने वालों के लिये कठोर नियम बताये हैं। उनका कहना है कि 'तालाब को किसी प्रकार से नष्ट करने वाले को जल में डुबा कर मार डाले अथवा कोई कड़ा दण्ड देकर मार डाले। यदि वह नष्ट की हुई वस्तु को दुरुस्त कर दे तो उसे एक उत्तम साहस का दण्ड है। इसके अतिरिक्त जो सर्वसाधारण के उपकारार्थ बने हुए तालाब के जल को खराब करे या ले लेवे अथवा तालाब में जल आने के रास्ते को बन्द करे तो राजा उसे प्रथम साहस का दन्ड दे।'[3]

---

१. धनुः शतं परिहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः।
शम्पयापातास्त्रयोवापि त्रिगुणों नगरस्यतु ॥

—मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक २३७

२. इष्टा पूर्ते तु कर्तव्ये ब्राह्मणेन प्रयत्नतः।
इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्तेः मोक्षमवाप्नुयात्।
एकाह मपि कर्तव्यं भूमिष्ठं उद्कंशुभम्।
कुलानि तारयेत सप्त यत्र गौवि-तृषीभवेत् ॥
वापी कूप तड़ागानि देवतायतनानि च।
पतितान्युद्धरे यस्तु स पूर्तफलमश्नुते ॥

—लिखित स्मृति श्लोक १, २, ४

३. तड़ाग भेदकं हन्वादप्सुशुद्धबधेन वा।
यद्वापि प्रतिसंकुर्याद्दाप्यस्तुत्तमसाहसम् ॥
यस्तु पूर्व निविष्टस्य तड़ागस्योदकं हरेत्।
आगमं वाप्ययांभिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम्।

—मनुस्मृतिः अध्याय ६, श्लोक २७६-२८१

पशुपालन

पशुपालन प्राचीनम उद्योग अथवा लोगों की जीविका का साधन था। स्मृतियों में पशुपालन सम्बन्धी अनेक नियम बताये गये हैं। स्मृतिकारों का कहना है कि गाय आदि पशुओं के पालन करने वाले और उनके स्वामियों के बीच किसी प्रकार का व्यक्तिक्रम होने पर जो विवाद उपस्थित होता है उसका भी समाधान किया जाना चाहिए। दिन में पशु को चराते समय अगर कोई उपद्रव पशु को हो जाय तो उसकी जिम्मेंदारी चरवाहे पर है और शाम को मालिक के यहाँ बांध देने पर अगर पशु का कोई अनिष्ट हो जाय तो उसकी जवाबदेही मालिक के ऊपर है। यदि दिन रात पशु चरवाहे के यहाँ ही रहे, तो उसका उत्तरदायी वही होता है[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि पशुपालन सम्बन्धी विचारों के इस युग तक काफी प्रौढ़ता आ चुकी थी।

उत्पादन के नियम

खाद्यान्न तथा उद्योग धन्धों के द्वारा लोग नाना प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करते थे। उस समय के लोगों ने भी भूमि को दो भागों में विभक्त कर दिया था—(१) ऊसर भूमि, (२) उपजाऊ भूमि। मनुस्मृति में विद्या का उपदेश किसे देना चाहिए और किसे न देना चाहिए' जहाँ धर्म एव धन न हो और न हो वैसी सेवा ही हो वहाँ विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसी जगह उपदेश को हुई विद्या सुन्दर बीज को ऊसर भूमि में बोने की तरह निष्फल होतीं है। वेदाध्यापक को अपनी विद्या के साथ मर जाना श्रेष्ठ है, किन्तु घोर आपत्ति में भी विद्या को ऊसर भूमि में बोना नहीं चाहिए। विद्या के इन नियमों में ऊसर भूमि का जो वर्णन किया गया है, उससे पता चलता है कि तत्कालीन लोगों को उत्पादन के नियमों का ज्ञान था। वे इस बात को जानते थे कि उसर भूमि में किसी भी वस्तु की उत्पत्ति संभव नहीं है।[2]

---

१. पशुषु स्वामिनां चैव पालानां य व्यतिक्रमे।
विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्वत: ।।
दिवा वक्तव्यता पालं रात्रौ स्वामिनितद्गृहे।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालोवक्तव्यतामियात।
—मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक २२९-२३०

२. धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रुषा वापि तद्विधा।
तत्र विद्यान वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ।।
विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनाभिरिणेवपेत् ।।
—मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक ११२-११३

उत्पादन लागत—

वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने जिस प्रकार उत्पादन लागत के महत्त्व को समझा है। प्राचीन विचारकों ने उससे कुछ कम समझने की चेष्टा नहीं की थी। मनु-स्मृति में इसका विश्लेषण उचित ढंग से किया गया है। मनु के अनुसार राजा को व्यापारियों की स्थिति को समझ कर, जिससे उन्हें घाटा न पड़े, कर लेना चाहिए। उत्पादन लागत के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुये आचार्य मनु कहते हैं। व्यापारी के माल की खरीद व बिक्री तथा उसके खाने-पीने का पूरा खर्च, माल के हिफाजत में जो खर्च हुआ, इन सब बातों को विचार कर लेवे, जिससे राजा और व्यापार तथा कृषि आदि करने वाले व्यवसाइयों को लाभ हो। जिस प्रकार जोंक, और भ्रमर अपना भक्ष्य थोड़ा-थोड़ा खाते हैं, उसी प्रकार राजा को थोड़ा-थोड़ा ही वार्षिक कर लेना चाहिए।[1]

इस प्रकार करों के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था देकर मनु ने स्पष्ट कर दिया कि पहले उत्पादन लागत को भली-भाँति समझ कर ही कर आदि की वसूली होनी चाहिये। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भी इस बात का पूरा ध्यान रखा हैं, कि जनता पर उतना ही कर लागू होना चाहिए, जितना उसकी आय को दृष्टिगत रखते हुए उचित हो।

उत्पादन के साधनों का विकास

मनुस्मृति में कृषि उद्योग तथा करों के सम्बन्ध में इतना अधिक ध्यान केवल इसलिए दिया गया था कि उस युग में कृषि ही जन समाज का प्रधान उद्योग था, जीवन यापन का यही आधारभूत साधन था और सम्पूर्ण समाज अपनी समृद्धि के के लिए मूलतः कृषि पर निर्भर था। तत्कालीन उद्योगधन्धों का आधार भी मूलतः कृषि कर्म था। राजा की आय का एक मात्र स्रोत कर था, जिसे वह कर्षकों तथा उद्योगपतियों, व्यवसाइयों तथा वणिकों से वसूल करता था। मनु तथा अन्य स्मृति-कारों को यह चिन्ता थी कि कृषि तथा उद्योग का कार्म सुव्यवस्थित रूप से चलता

---

१. क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजोदापयेत्करान्॥
यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततंकरान्॥
यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाऽल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्रज्ञाब्दिकः करः॥

—मनुस्मृति, अध्याय ७ श्लोक १२७, १२८, १२६,

रहे, राजा तथा कर देने वाली प्रजा में किसी भी प्रकार मनोमालिन्य और विद्वेष न हो कृषि तथा उद्योग का विकास निरन्तर होता जाय।

सारे स्मृतिकारों, विशेषतः मनु को यह चिन्ता थी कि कृषि तथा उसके सभी अंगों के विकास हेतु लोगों को प्रयत्नशील रहना चाहिए। उस समय न केवल एक सीमित समाज में अपितु सम्पूर्ण राज्य में कृषि के विकास हेतु चिन्ता व्याप्त थी। भूमि के विभाजन सम्बन्धी अनेक नियमों का उल्लेख मनुस्मृति में किया गया है।[१]

उपयोग के नियम

लोगों को अपने जीवन निर्वाह के लिये कितने प्रकार का अन्न संग्रह करना चाहिये, किस प्रकार से उसका उपभोग हो, आदि के सम्बन्ध में उस समय अनेक नियम बनाये गये थे। ब्रह्मचारी गृहस्थ तथा वानप्रस्थ सभी के लिये धन का उपभोग करने के अलग-अलग नियम बताये गये हैं। उदाहरण के लिए वानप्रस्थ के लिये कहा गया है कि वह "खेत का उपजाया हुआ अन्न, या किसी का दिया हुआ भी न खाय। गांव में भी जो फल मूल उत्पन्न हुए हों, उन्हें क्षुधार्त होने पर भी नहीं खाना चाहिये। उसे एक महीने या ६ माह से अधिक एक वर्ष के जीवन निर्वाह योग्य अन्न संचित करना चाहिए।"[२] इसी प्रकार अन्य आश्रमों के लिये भी उपयोग के नियम स्मृतियों में वर्णित है।

---

१. सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥
सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥
—मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक २४५-४६

पांशु वर्षे दिशां दाहे सन्ध्यानीहारभीतिषु।
धावतः पूतिगन्धे शिष्टे च गृहमागते ॥
देशेऽशुदावात्मनि च विद्युत्स्तनित संप्लवे।
भुक्त्वार्द्र पाणिरम्भोऽन्तरर्द्धरात्रेऽति मारुते ॥
विप्राहि क्षत्रियात्मानो नावलया कदाचन।
आभृत्योः श्रियमाकांक्षेन्न कश्चिन्मर्म्मणि स्पृशेत ॥
—याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय श्लोक १५०, १४९, १५३

२. न फलकृष्टमश्नीपादुत्सृष्टिमपि केनचिद्।
न ग्राम जातरन्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥
सद्यः प्रक्षालको वास्यान्मास संचयिकोऽपिवा।
षण्मासा निचयो वा स्यात्समानिश्चय एव वा ॥
—मनुस्मृति अध्याय ६ श्लोक १६-१८

वितरण

प्राचीन आर्थिक व्यवस्था में धन के वितरण की समस्या अत्यन्त जटिल थी। समाज के विभिन्न वर्गों में धन को वितरित करने से अनेक नियम थे। प्राचीन अर्थ-शास्त्रियों ने मजदूरी, लाभ, ब्याज, लगान, कर गरीबों की सहायता आदि से सम्बन्धित समस्याओं पर पर्याप्त विचार किया था। उस समय के समाज में धन का वितरण असमान था। सभी वर्ग के लोगों में यह समान रूप से वितरित नहीं किया जाता था। मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि "जिसके पास अपने भृत्यों की वृत्ति के लिये तीन वर्ष या उससे अधिक दिनों के भरण-पोषण हेतु धन हो, वह सोम यज्ञ कर सकता है।"[1] उस समय जो वर्ण ऐसे यज्ञों को सम्पन्न करते थे, उनके धन का संग्रह होता था।

मनुस्मृति में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि कुसूल धान्यक (अर्थात् इतना अन्य इकट्ठा करे, जिससे तीन वर्ष या उससे भी अधिक समय तक घर का खर्च चल सके) अथवा कुम्भी धान्यक अर्थात् एक वर्ष के खर्च योग्य अन्य संचित करे। अश्वास्तनिक (उतना ही अन्य संग्रह करे जो अगले दिन के लिये न बचे) इस प्रकार का गृहस्थ होना चाहिए।[2]

फलतः जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि होती गई तथा भूमि से अधिकाधिक उत्पादन करक की ओर लोग उन्मुख हुए, साधनों मा विकास अपने आप होता गया। सिंचाई, खाद आदि के साथ-साथ लोग पूंजी का भी अधिकाधिक विनियोजन कृषि कार्यों में रहने लगे। इसी पृष्ठभूमि में अनेक प्रकार के औद्योगिक साधनों का जन्म हुआ और व्यापार, वाणिज्य एवं व्यवसाय में वृद्धि हुई।

विनिमय का माध्यम

विनिमय के लिये वस्तुविनिमय के अतिरिक्त धातु मुद्राओं का प्रचलन था।

---

१. यस्य त्रैवार्षिक भक्तं पर्याप्तं भृत्य वृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातु मर्हति॥

—मनुस्मृति अध्याय ११, श्लोक ७

२. कुसूल धान्यको या स्यात्कुम्भी धान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥

—मनुस्मृति अध्याय ४ श्लोक ७

त्रि वार्षिकाधिकान्नो यः सतु सोमं पिवेद्द्विजः।
प्राक्सौमिकाः क्रिया कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेत्॥

—याज्ञवल्क्य स्मृति, अध्याय १, १२४

'ऋण' के लेन-देन आदि में उनका प्रयोग किया जाता था। मनुस्मृति में लोक व्यवहार में ताँबा, सोना, चाँदी आदि के प्रयोग का उल्लेख किया गया है। यह भी बताया गया है कि उपर्युक्त धातुओं की मुद्राओं की माप किस प्रकार से निर्धारित की गई थी। उसमें कहा गया है कि "जाली झरोखे के भीतर पड़ने वाली सूर्य की किरणों में जो छोटे-छोटे धूलि कण दिखाई देते हैं, वैसे एक धूलि कण का मान परिमाण में प्रथम है और उसे त्रसरेणु कहते हैं। परिमाण में 'आठ त्रसरेणुओं की एक लिक्षा, उन लिक्षाओं का एक राजसर्षप और तीन राज सर्षपों का एक गौर सर्षप होता है।[१]

मूल्य निर्धारण

मनु के अनुसार राजा को क्रय-विक्रय की दर तथा बाजार में बिकने वाली वस्तुओं के मूल्य को निर्धारित कर देना चाहिए। लेकिन दर तथा मूल्य निर्धारण के समय व्यापारियों के लाभ, हानि तथा उत्पादन-लागत का अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए। "बाहर से आई चीजों तथा अपने देश की चीजों को कितने दिनों तक रखने से कितना लाभ होगा, नफा लेकर बेचने पर कितनी वृद्धि होगी, उन वस्तुओं की रक्षा करने में कितना खर्च होगा—इन सब बातों को भलीभाँति विचार करके सभी बिकने वाली वस्तुओं की दर ठीक कर दे, जिससे खरीदने और बेचने वाले के मन में किसी प्रकार का दुःख न हो। पाँच-पाँच दिन पीछे या एक-एक पक्ष

---

१. जालान्तर गते भानौ यत्सुक्ष्मं दृश्यतेरजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणु प्रचक्षते ॥
त्रसरेणवोऽष्टो विज्ञेयालिक्षैका परिमाणतः।
ता राजसर्षपस्तिस्त्रस्ते त्रयो गौर सर्षपः ॥
—मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक १३२-१३३, १३८

जालस्थार्कमरीचि गतं रजस्त्रसरेणु संज्ञकम्
तदष्टकं लिख्या। तत्त्रयं राजसर्षपः तत्त्रयं
गौर सर्षपः। तत्षटकं यवः। तत्त्रयं कृष्णलम्।
तत्पञ्चकं माषः। तद्द्वादशकमक्षार्द्धम्।
अक्षार्द्धमेव सचतुमाषिक सुर्वणः। चतुसुवर्णको
निष्कः द्वे कृष्णले समधृतेरूप्यमाषकः
तत्षोऽशकं धरणम्। ताम्रकार्षिकः कार्षपणः
पणानां द्वेशते सद्धे प्रथमः साहसः स्मृतः।
मध्यमः पंच विज्ञेयः सहस्त्रंत्वेव चोत्तमः ॥
—विष्णु स्मृति, धन संख्यावर्णनम्

पर व्यापारियों की वस्तुओं की दर का निश्चिय किया करे। सोना तोलने तथा अनाज तोलने के बटखरे वजन में पूरे हैं या नहीं, राजा प्रति छठे मास जांच किया करे।"[1]

बाजार का संगठन

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वस्तुओं के क्रय-विक्रय तथा उनके उपयोगी, अनुपयोगी होने की जांच प्रायः राजा द्वारा की जाती थी। दोषी पाये जाने वाले व्यापारियों को जुर्माना किया जाता था। मनु ने वस्तुओं को दूषित करने वाले के प्रति जुर्माना करने का आदेश दिया है। 'निर्दोष द्रव्यों को दूषित करने, रत्नादिकों को तोड़ने और मणियों को ठीक-ठीक न छेदने से प्रथम साहस का दण्ड दिया जाना चाहिये। जो व्यक्ति एक ही दाम पर किसी वस्तु को किसी को कम या किसी को अधिक दे, उसे प्रथम साहस या मध्यम साहस का दण्ड मान्य होगा।'[2]

इसके अतिरिक्त मनु ने ठगी तथा चोर की परिभाषा बताते हुए कहा है कि 'बेचने की अनेक वस्तुओं के मूल्य की तौल आदि में जो ठगे, वे प्रत्यक्ष बंचक हैं। सेंध लगाकर चोरी करने वाले अथवा जंगल में रह कर जो पराया धन अपहरण करता है, उसे गुप्त बंचक जानना चाहिये। इसके अतिरिक्त घूस लेने वाले, डरा कर धन लेने वाले, ठग, जुआरी, दूसरों की मंगल कामना से जीने वाले, पाप को छिपा कर साधु-वेष में जीवन निर्वाह करने वाले भी उसी की श्रेणी में आते हैं।

सामूहिक संगठन

प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था में सामूहिक संगठनों का अत्यधिक महत्त्व था। वैदिक काल से ही समाज की रचना के साथ-साथ इनका महत्व बढ़ता गया।

---

१. आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥
पञ्चरात्रे, पंचरात्रे पक्षे पक्षेऽथवागते।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घ संस्थापनं नृपः ॥
तुलामानं प्रतिमानं सर्वं चस्यात्सुलक्षितम्।
षटसु षटसु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥

—मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक ४०१, ४०२, ४०३

२. अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणिनामपवेधे च दण्डः प्रथम साहस ॥
समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपिवा।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यम मेव वा

—मनुस्मृति, अध्याय ९, श्लोक, २८६, २८७

मनुस्मृति में कहा गया है कि 'धर्मज्ञ राजा, जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणीधर्म तथा कुलधर्म की समीक्षा करके उनके अनुकूल ही अपने धर्म की व्यवस्था करे।'[1] श्रेणी, कुल, गण, युग आदि वर्गों के समूहों का आर्थिक विकास में प्रमुख स्थान रहा है। संघों का जन्म तो आदिम काल में ही हो गया था।[2]

महाजनी

स्मृतियों में बिना किसी शर्त के सम्पत्ति अथवा सिक्कों का उधार लेना अथवा बिना किसी प्रकार के ब्याज के उस धन को वापस करने की प्रणाली इस बात को सिद्ध करती है, कि उस समय महाजनी प्रणाली का प्रचलन था। किन्तु आज की जैसी किसी संस्था का निर्माण नहीं हुआ था। प्राचीन महाजन आधुनिक शाखा अधिकारियों की भाँति काफी मात्रा में धन रखते थे और इसके आदान-प्रदान से ही उन्होंने अपना व्यवसाय चला रखा था। धीरे-धीरे व्यापार के साथ-साथ विनिमय प्रणाली में काफी परिवर्तन हुआ और वह समाज का एक प्रमुख अंग बन गयी।[3]

ऋण

ऋण लेने के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के नियम बनाये गये थे। मनुस्मृति में कहा गया है कि 'कर्जा लेने वाले से धन वापस दिलवा देने के लिये महाजन की प्रार्थना पर राजा उसका निमित्त धन कर्जदार से दिलवा दे। कर्जदार से जिन-जिन उपायों के द्वारा महाजन अपना धन पा सके उन उपायों के द्वारा धन को प्राप्त कर लें।' इस प्रकार से अनेक नियमों के द्वारा ऋण के लेन-देन की चर्चा की गई है।[4]

---

१. जाति जानपदान्धर्मा श्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥
—मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक ४१

२. कुलानां हि समूहस्तु गणः सम्प्रकीर्तितः
—याज्ञवल्क्य-अध्याय २, २३०

३. कुलजे वृत्त सम्पन्न धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः
—मनुस्मृति, अध्याय ८ श्लोक १७९

देखिये—नारद स्मृति अध्याय २ श्लोक ५ भी।

४. अधर्मणार्थ सिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ।

ब्याज

ऋण के लेन-देन में ब्याज के लेने के नियम बनाये गये थे। किस परिस्थिति में मनुष्य 'ऋण' ले सकता है और किससे कितनी ब्याज लेनी चाहिये, स्मृतिकारों ने इसका पूर्ण उल्लेख किया है। मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि "वशिष्ठ ने धन बढ़ाने के निमित्त जितना ब्याज लेने को कहा है, ब्याज पर जीने वाला उतना ही ब्याज ले, अर्थात् महीने में १०० रुपये का अस्सीवाँ भाव १।) सूद ले। अथवा श्रेष्ठ धर्म का स्मरण करने वाला प्रतिसैकड़ा दो पण मासिक ब्याज ले। क्योंकि दो पण तक मासिक ब्याज लेने वाला पाप का भागी नहीं होता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों से क्रम से दो, तीन, चार और पाँच पण प्रति सैकड़े मासिक ब्याज ले। यदि कोई खेत आदि उपकारी वस्तु बन्धक रखकर कर्ज ले तो महाजन का अलग ब्याज न मिलकर खेत की उपज ही ब्याज में मिलेगी। बहुत समय बीत जाने पर भी गिरवी की चीज दूसरे को दी नहीं जा सकती और न उसे बेचा ही जा सकता है।"[१]

मनु का कहना है कि यदि एक साथ ही सूद और मूल धन लिया जाता है तो मूल धन के दूने से अधिक ब्याज नहीं लेना चाहिये। अनाज, पेड़ों के फल, ऊन और बैल, घोड़े आदि कर्ज लेने पर उनके दामों के पाँच गुने से ज्यादा ब्याज नहीं लेना चाहिये। निश्चित ब्याज की दर से अधिक ब्याज नहीं लेना चाहिये।

यथैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः
तैस्तैरूपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥

—मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक ४७, ४८

अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासिसम्बन्धके ।
वर्ण क्रमाच्छतं द्विस्त्रिश्चतुः पंचकमन्यथा ।
गृहीता तु क्रमादाप्यो धनिनामधमर्णिकः ।
दत्वा तु ब्राह्मणायैव नृपतेस्तनन्तरम ॥

—याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहाराध्याय
ऋणदान प्रकरणम् श्लोक २५

१. वसिष्ठ विहितां वृद्धि सृजेद्वित्तविवर्द्धिनीम् ।
अशीति भागं गृह्णीयान्मासाद्वाधुर्षिकः शते ॥
द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ।

—मनुस्मृति—अध्याय ८, श्लोक १४०-१४१

अधिक ब्याज लेने को कुसीद कहते हैं। प्रतिशत पाँच से अधिक ब्याज न लेना चाहिये। अतिवार्षिक (प्रत्येक मास या दूसरे या तीसरे मास में ब्याज लेने का नियम करके वर्ष के भीतर ही ले लेना चाहिये, वर्ष के बाद अधिक ब्याज बढ़ाकर ब्याज न लेना चाहिये। पहले से न देखा, ब्याज जैसे ब्याज पर ब्याज-सूद दर सूद (चक्र वृद्धि) मासिक नियम न करके कुछ दिनों में ब्याज बढ़ा लेना (काल वृद्धि) मेहनत मजदूरी के रूप में ब्याज लेना (कायिक) और कष्ट देकर ब्याज बढ़वा लेना (कारिक)—ऐसा ब्याज न लेना चाहिये।''[१]

जनसंख्या

जनसंख्या के सम्बन्ध में इसके पूर्व भी बताया जा चुका है कि लोग पुत्र जन्म को अथवा सन्तति वर्द्धन को अधिक महत्व देते थे। स्मृतियों में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'जो सन्तानोत्पत्ति की उपेक्षा करता है वह राष्ट्रद्रोही एवं पापी है जो पुरुष मासिक धर्म के पश्चात् अपनी स्त्री के समीप नहीं जाता वह महान् पापी होता है।' नारद स्मृति में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि 'स्त्रियों का जन्म केवल सन्तान उत्पत्ति के लिये हुआ है।'[२]

स्त्रियों की दशा

स्त्रियों की सबसे अधिक जिम्मेदारी आय व्यय के बारे में उचित दृष्टि रखकर गृह कार्य संचालित करना रही है। स्त्री के स्वतन्त्र रहने पर निषेध प्रकट किया गया है। ''बालिका हो या युवती या वृद्धा स्त्री को स्वतन्त्रता पूर्वक घर का काम नहीं करना चाहिये। स्त्री बाल्यकाल में पिता के, यौवन काल में पति तथा पति के परलोक होने पर पुत्रों के आधीन होकर रहे। कभी स्वतन्त्र होकर न रहे। पिता, पति या पुत्र से पृथक रहने की इच्छा न करे क्योंकि इनसे अलग रहने वाली

---

१. कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥
कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्तानसिद्ध्यति।
कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥
नाति सांवत्सरीं वृद्धिं न चा दृष्टां पुनर्हरेत्।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥
—मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक १५१, १५२, १५३

२. अपत्यर्थं स्त्रियः सृष्टाः
—नारद स्मृति—अध्याय १२, श्लोक १९

स्त्री दोनों कुलों (पति-पिता) को निन्दित करती है।"[1] इसी प्रकार अन्य स्मृतियों में भी स्त्रियों की स्थिति की चर्चा की गई है।

दास प्रथा

प्रारम्भ से ही भारतीय धर्मशास्त्र में दासों का उल्लेख किया गया है। सेवक अथवा नौकर के रूप में उनकी नियुक्ति की जाती थी और उन्हें कठिन से कठिन कार्य करने के लिये बाध्य किया जाता था। मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि "जो दास समाज में निन्दनीय, क्रूर कर्मी, निषिद्ध कर्म करने वाला, बूढ़ा, अन्त्यज के रूप में हो उसे किसी भी प्रकार के मामले में साक्षी नहीं रखना चाहिये।"[2] अर्थात् इनके कार्य हेतु अलग-अलग नियम प्रतिपादित किये गये थे। उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त दासों से तो कार्य के बनने की सम्भावना नहीं की जाती थी, परन्तु जो सचमुच कार्य सम्पादन के योग्य समझे जाते थे, उन्हें वह कार्य सौंपा जाता था।

व्यक्तिगत सम्पत्ति

व्यक्तिगत सम्बन्धी अधिकार का उल्लेख तो वैदिक काल से ही प्राप्त होता है, किन्तु उस सम्पत्ति के लिये विचारकों ने अलग-अलग विधान बनाये थे। अक्सर लोग दूसरों की सम्पत्ति को अपहृत करने का प्रयास करते थे। राजा का यह कर्त्तव्य होता था कि वह इस बात का पता लगाये कि वास्तव में धन किसका है। मनु का कहना है कि जिस धन का स्वामी नष्ट हो गया हो, राजा उस धन को तीन वर्ष तक अपने पास रखे। यदि तीन वर्ष के भीतर उस धन का अधिकारी आ जाय तो उसे दे दे। अधिकारी न मिलने पर तीन वर्ष के बाद राजा उस धन को आप ले ले। जो कोई कहे कि यह मेरा धन है, तो उसे उस धन के सम्बन्ध में भली भाँति छानबीन करनी

---

१. बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि, योषिता।
न स्वातन्त्र्येण, कर्तव्य किंचित्कार्यं गृहेष्वपि॥
बाल्ये पित्रुर्वशे तिष्ठत्पाणि ग्राहस्य यौवने॥
पुत्राणां भर्तरि प्रेते, न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

—मनुस्मृति अध्याय ५, श्लोक १४७, १४८

२. नाध्यधीनी न वक्तव्योन दस्युर्न विकर्मकृत्।
न वृद्धो न शिशुर्नको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः
स्त्रियाप्य संभवे कार्यं बालेन स्थविरेणवा।
शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा॥

—मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक ६६, ७०

चाहिए। यदि वह उस धन के रूप में और संख्या आदि सब बताये, तो वह उस धन का स्वामी है और उसको लेने के योग्य है।[1] नारद स्मृति में भी उक्त सिद्धान्त ही स्वीकृत है।[2]

राजस्व के सिद्धान्त

राजस्व के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के आय के श्रोतों का अध्ययन करने के पश्चात् उनका वास्तविक महत्व अपने आप समझ में आ जाता है। किन्तु केवल इन विचारों से ही प्राचीन कालीन अर्थ व्यवस्था का पूरी तरह से अध्ययन नहीं किया जा सकता। इनके द्वारा केवल सामान्य रूप से वर्णित सामाजिक समस्याओं की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। सिद्धान्तों को समझना कठिन हो जाता है। प्राचीन अर्थशास्त्री प्रायः वित्तीय व्यवस्था से सम्बद्ध मुख्य रूप से आय प्राप्ति के साधन, कर देने के नियम, करों में छूट एवं मुक्ति और राज्य की स्थिति ठीक न होने पर आर्थिक दुर्व्यवस्था आदि के महत्व पर प्रकाश डालते हैं।

यहाँ पर उक्त तत्वों का परीक्षण मनुस्मृति, महाकाव्यों तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में वर्णित विचारों के आधार पर किया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय अर्थशास्त्र के प्रणेता आचार्य कौटिल्य भी इन विचारों से अछूते नहीं रहे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वैदिक काल में राजस्व के सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसके पश्चात् के विद्वानों ने तत्कालीन वर्णित आर्थिक विचारों को आधार मानकर सिद्धान्तों तथा विभिन्न प्रकार के नियमों का प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध में प्रमुख विचारकों के सिद्धान्त इस प्रकार से पाये जाते हैं।

मनु का कर सिद्धान्त

मनु ने अपनी मनुस्मृति में जिन कर सम्बन्धी विचारों, नियमों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, उनका किसी अन्य पूर्व के भारतीय ग्रन्थ में पाना असम्भव है। मनु ने प्रायः कर के नियमों को निम्न तत्वों के आधार पर रखने का प्रयास किया है।

---

१. प्रनष्ट स्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत्॥
ममदेमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि।
संवाद्य रूप संख्यादीनस्वामी तद्द्रव्यमर्हति॥
—मनुस्मृति-अध्याय ८ श्लोक ३०-३१

२. राजगामी निधिः सर्व सर्वेषां ब्राह्मणादृते
—नारद-(कन्डेश्वर के विवाद रत्नाकार में उध्दृत पृष्ठ ६४३)

उनके अनुसार सामाजिक परिस्थितियों को भलीभाँति समझकर राजा को विभिन्न प्रकार के करों को नियमित रूप से निश्चित कर देना चाहिए जिससे स्वयं तथा कार्य करने वाले व्यक्ति के बीच में कोई व्यवधान न उत्पन्न हो सके और उस व्यक्ति को अपने किये गये कार्य का पुरस्कार भी प्राप्त हो सके।[१]

उक्त नियम का समावेश जब चुंगी तथा शुल्क के साथ में किया जाता है, तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजा ने क्रय-विक्रय की क्रियाओं पर विचार करने के पश्चात् व्यापारियों के लिये कर अथवा शुल्क निर्धारित किया है। व्यापारी अथवा व्यवसायी के सम्बन्ध में विचार करने से तात्पर्य उस विषय से है, जिसमें उसे माल के एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में शक्ति (धन) का उपयोग करना पड़ता है। जैसे यातायात की दूरी, सामान ले जाने की असुविधायें, मार्ग का अन्य व्यय, आवागमन के लिये ले जाये गये व्यक्ति के द्वारा किया गया खर्च—इन सबका राजा के द्वारा पूर्ण रूप से निर्णय किये जाने के बाद करों का निर्धारण किया जाना चाहिए। इतना ही नहीं वस्तु की सुरक्षा का भी खर्च उसी के साथ सम्बद्ध रहता है।[२]

राजा भी इसी प्रकार प्रजा से कर इत्यादि सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में ग्रहण करता है जैसे कि बछड़ा और मधुमक्खियाँ अपने भोजन को सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं से भी ग्रहण कर लेते हैं।[3] जहाँ कहीं राजा के द्वारा अधिक कर लगाये जाने की प्रक्रिया दिखायी पड़ती है वहाँ पर मनु का कड़ा विरोध है। मनु के अनुसार "राजा को अत्यधिक कर के द्वारा न तो अपनी जड़ को काटना चाहिए और न अधिक लालच के द्वारा अन्य व्यक्तियों (प्रजा) को कष्ट देना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि मनु अधिक कर लगाने के पक्के विरोधी थे।[४] किन्तु वह आवश्यक वस्तुओं पर कर लगाने के पक्ष में थे।

---

१. यथाफलेन युज्येत राजाकर्ता च कर्मणाम्
तक्षावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान्। —मनु० ७-१२८

२. पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धैन्य द्रोणस्तु मासिकः॥ —वही ७-१२६
क्रय विक्रय मध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्। —वही ७-१२७

३. यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।
—मनुस्मृति, अध्याय ७ श्लोक २९

४. नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषाचाति तृष्णया।
उच्छिन्दव्ह्यात्मनो मूल मात्मनं तांश्च पीड्येत्॥ —मनु० ७-१३९

मनुस्मृति में मुख्यत: आय प्राप्ति के साधनों का विवेचन वस्तुओं पर आधारित है। जैसे भूमि, पशु, वृक्ष, गोश्त, शहद, मक्खन, मसाले, औषधि की जड़ी बूटियाँ, भोजन में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ जैसे फूल, जड़, फल, पत्ती, घास, गन्ने की जड़, मिट्टी के बर्तन, पत्थर के बने सामान आदि के द्वारा आय प्राप्त होती थी। यात्री कर का प्रयोग सामान्य रूप से किया जाता था, जो यात्रियों को सहन करना पड़ता था, किन्तु इसका प्रयोग सामान्य श्रमिकों के ऊपर नहीं किया जाता था। मनुस्मृति में कहा गया है कि कारीगर, काश्तकार और शूद्र (दास) जो दैनिक मजदूरी पर कार्य करते थे उन्हें राजा का एक सप्ताह में एक दिन कार्य करना आवश्यक था।[१]

कर देने के नियमों के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिये मनुस्मृति में बताये गये तत्सम्बन्धी आधारभूत तत्वों को जानना आवश्यक है। मनु के अनुसार—१-वृद्धि का १।१५ भाग पशुओं पर कर के रूप में दिया जाता था, १।८, १।६, १।१२ भाग फसलों पर तथा १।६ वृक्षों पर कर का भाग देना पड़ता था। प्राय: जंगल में उत्पन्न की गई वस्तुओं पर इन्हीं नियमों के आधार पर लगाये जाते थे। इसके साथ ही पत्थर की निर्मित वस्तुओं पर भी राजा के द्वारा कर लगाया जाता था।[२] राज्य के द्वारा अनाज पर १।८ तथा सोने तथा पशुओं पर १।२० भाग कर के रूप में ग्रहण किया जाता था, जिसका कुल जोड़ १ कर्षापण है।[3] इसी प्रकार खाली सवारी उतारने का खेवा पण, भार उतारने का आधा पण, पशु और और स्त्री को पार उतारने का चौथाई पण और बिना बोझ के पुरुष का खेवा एक पण के चौथाई का आधा हिस्सा देना चाहिए।[४]

---

१. कारुकांश्छिल्पिनश्चैव शुद्रांश्चात्मोपजीविन:
एकैकं कारयेत्कर्म मासि-मासि मही पति:।
—मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक १३८

२. पंचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशु हिरण्ययो:
धान्यानामष्टमो भाग: षष्ठो द्वादश एव वा
पत्र शाकतृणानां च कर्मणा वै दलस्य च
मृन्मयानां च माण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च
—मनुस्मृति, अध्याय ७ श्लोक १३०, १३२

३. धान्येऽष्टयं विशां शुल्कं विशं कार्षयणावरम्।
कर्मोपकरणा: शुद्रा: कारव: शिल्पिनस्तथा।।
—मनुस्मृति-अध्याय १० श्लोक १२०

४. पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणतरे।
पादं पशुश्च योषिश्च पदार्धं रिक्तक: पुमान्।।
—मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक ४०४

करों का विधान

उत्पादन लागत के परीक्षण से राजा यह अनुमान लगा लेता था कि कहाँ पर कैसा और कितना कर लगाया जाना चाहिये। मनु के अनुसार राजा को व्यापारियों से पशु और सोने के लाभ का छठा, आठवां और बारहवां भाग लेना चाहिये, पेड़, मांस, मधु, घी, गन्ध, औषधि रस, फूल, फल, कन्द मूल, पत्ते, साग, तृण, चमड़ा, बाँस के बर्तन, मिट्टी और पत्थर के बर्तन, इन सब के लाभ का छठां भाग लेना चाहिए।[1]

आजकल की भाँति करों से मुक्त होने के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया था। कुछ प्रमुख वर्ग के लोगों से तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था में कर ग्रहण नहीं किया जाता था। जैसे ब्राह्मण (श्रोत्रिय) तथा श्रमिक आदि को कर से छूट प्रदान की जाती थी। तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था में तो यहां तक प्राविधान मिलता है कि जिसकी ओर राजा संकेत कर देता उसे श्रोत्रिय ब्राह्मण को अपना एक दिन का वेतन प्रदान करना पड़ता था, श्रोत्रिय, शब्द से तात्पर्य यह है कि वह ब्राह्मण जो श्रौत यज्ञ में भाग लेते थे। अर्थात जो श्रौत सूत्र की ऋचाओं (मंत्रों) को कहने में कुशल होते थे, ऐसे व्यक्तियों को कर देने से मुक्त रखा जाता था।[2]

मैक्समूलर ने एक स्थान पर कहा है कि केवल श्रोत्रिय ब्राह्मण मात्र को करों से मुक्त करना तत्कालीन सामाजिक रचना में एक पक्षीय न्याय करना था। सम्पूर्ण ब्राह्मण वर्ग से इसका कोई सम्बद्ध दृष्टिगत नहीं होता। उस समय वर्ग विशेष की दृष्टि से तीन प्रकार के लोगों को कर से मुक्त किया गया था—अंधा, मूर्ख तथा विकलांग जो लोग दूसरों पर आश्रित रह कर यायावर की भांति इधर-उधर घूमते थे, साथ ही उनकी उम्र ७० वर्ष की होती थी अथवा जो श्रोत्रिय लाभ पर ही जीविका चलाते थे। उन व्यक्तियों से राजा न तो किसी प्रकार का दबाव डाल कर 'कर' वसूल सकता था और न अन्य किसी प्रकार के उपायों से कर देने के लिए उन्हें बाध्य कर सकता था।[3]

---

१. आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्प मूल्य फलस्यच॥ मनु ७. १३१

२. क्रय विक्रय मध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्॥

—मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक १२७

३. म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्
न च क्षुधास्यसंसीदेच्छोत्रियो विषये वसन्

—मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक १३३

राज्य की वित्तीय आवश्यकताओं के बढ़ जाने पर, जो अतिरिक्त कर लगाये जाते थे उसका भी उल्लेख मनु ने किया है। क्षत्रिय वर्ग के लोगों को निश्चित किये गये समय के अनुसार अपनी फसल के उत्पादन का १/४ भाग राष्ट्र को कर के रूप में प्रदान करना पड़ता था। यदि कोई करदाता अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता था तो उसे अपराधी समझकर दण्डित किया जाता था।[1]

इसके अतिरिक्त अधिकतम कर लगाने की प्रथा का जल्लेख मनुस्मृति में नहीं प्राप्त होता। मनु ने अपने सिद्धान्तों को एक सामान्य राष्ट्र की वास्तविक आर्थिक स्थिति और व्यवस्था पर आधारित किया है। उनके सिद्धान्तों में विशेषकर भाग और अंश का उल्लेख मिलता है, किन्हीं अन्य प्रसाधनों का विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता। यद्यपि समय के अनुसार राजा को करों के लगाने अथवा कम करने का अधिकार था किन्तु मनु ने सामाजिक कल्याण में तत्पर शांतिमय तथा वर्द्धमान् राज्य कल्पना के आधार पर ही इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक काल में सिद्धान्तों का अस्पष्ट प्रारूप दिखाई पड़ता है, मनु जैसे विचारकों ने आगे चल कर उसे एक सुस्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

करों का चोरी पर दण्ड

यदि कोई व्यापारी राजा से कर को छिपाना चाहता हो तो वह राष्ट्र को क्षति को पहुँचाने वाला समझा जाता था। मनु के अनुसार जो व्यापारी कर देने के डर से दूसरे रास्ते पर जाय, असमय में क्रय-विक्रय करे, अधिक कर देने के अभिप्राय से विक्रय वस्तु का परिणाम झूठा बतावे, तो जितना कर उसने झूठ बोल कर बचाया हो राजा उसका आठ गुना दण्ड करे।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि करों की चोरी करने वालों के विरुद्ध शासन द्वारा कड़ी कार्यवाही की जाती थी। तत्सम्बन्धी मामलों को अदालत में भी ले जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

अन्धो जड़: पीठ सर्पी सप्तत्या स्थविरंश्च य:
श्रोत्रियेषुप कुर्वंश्च न दाप्या: केनचित्करम्।

—मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३९४

१. चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि।
प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्विषात्प्रतिमुच्यते ।।

—मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक ११८

२. शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी।
मिथ्यावादी चसंख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ।। —मनु ८, ४००

मनु के अलावा अन्य स्मृतिकारों ने भी करों के विधान का वर्णन किया है। प्रायः उन स्मृतिकारों के विचार मनु के विचारों से मिलते-जुलते हैं, किन्तु फिर भी थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है ।[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृतियों में सम्पूर्ण आर्थिक विचारों को नियमों से अनुबन्धित करके ही बताया गया है। मनु ने सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक सभी प्रकार के विचारों से सम्बन्धित नियमों को व्यवहार में लाने का आदेश दिया है। इसके पूर्व सिद्धान्तों का जन्म नहीं हुआ था, किन्तु मनु ने राजा तथा राज्य के अधिकारों के विस्तृत विवेचन के साथ-साथ 'कर' के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। मनु को यदि एक अर्थशास्त्री की संज्ञा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इसी प्रकार सभी स्मृतिकारों ने आर्थिक विचारों पर प्रकाश डाला है। विशेपतः मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम का विशेष योगदान रहा है। इन स्मृतिकारों ने राज्य और समाज से संबन्धित सभी आर्थिक विचारों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर राजा और प्रजा, शासन और समाज को सुचिन्तित मर्यादाओं में बांध दिया।

---

१. राज्ञे बलिदानं कर्णकैर्दशमष्टम षष्ठं वा।
पशु हिरण्योऽरव्येके पञ्चाशद्भागं विंशति भाग शुल्कः।
—गौतम स्मृति—वर्णानाम वृत्तिकथनम्

अध्याय ६

पुराणों में आर्थिक विचार

अध्याय ६

पुराणों में आर्थिक विचार

पुराणकालीन समाज को प्रौढ़ावस्था की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि पुराणों के समय तक सामाजिक और आर्थिक विचार पूर्णतया परिपक्व हो चुके थे, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। वैदिक काल की तुलना में पुराण काल की सामाजिक स्थिति काफी सुदृढ़ और परिष्कृत हो चुकी थी। इस काल मे भी लोग शास्त्र विधि के अनुसार ही अपने-अपने कर्मों को सम्पादित करते थे। तत्कालीन सामाजिक रहन-सहन, खान-पान, पहनावा आदि के अध्ययन-अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि लोग समाज को ऊँचा उठाने के लिये प्रयत्नशील थे। राज्य का अपना एक अलग-अस्तित्व तो था ही, किन्तु उसके अनेक विभाजन हो चुके थे। फलतः अलग-अलग राजा राज्य करते थे। उनमें परस्पर स्पर्धा की भावना व्याप्त थी और वे एक दूसरे के राज्य तथा सम्पत्ति के अपहरण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे।

वर्ण व्यवस्था

पूर्व धर्मग्रन्थों की भाँति पुराणों में भी समग्र समाज को चार वर्णों में विभक्त कर दिया गया था और उन्हीं के अनुकूल समस्त आर्थिक क्रियायें सम्पन्न की जाती थीं। इन चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा तथा चरण से मानी गई। विष्णु पुराण में इसका उल्लेख किया गया है।[1] यह चातुर्वर्ण विभाजन सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार तथा विधायक है। चारों वर्ण के लोग अपने-अपने कर्तव्यों से एक दूसरे को अनुगृहीत करते हैं।[2] यहाँ पर भी

---

१. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम
पादोरूवक्ष स्थलतो मुखतश्च समुद्गताः ॥
—विष्णु पुराण १।६।६ भाग १ पृ० ७६

२. आजीवं तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
क्षत्रविट शूद्रधर्मेण जीवन्नेव तु शूद्रजात् ॥
कृषि वाणिज्य गौरक्ष्य कुसीदं च द्विजश्चरेत।
—अग्निपुराण ९७।१।२ पृ० २७७

वही पूर्व वर्णित श्रम विभाजन का सिद्धान्त लागू होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के पृथक-पृथक कार्यों पर सारी अर्थव्यवस्था निर्भर करती थी।

जाति परिवर्तन

पुराणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अतिरिक्त जाति परिवर्तन का भी उल्लेख मिलता है जो इसके पूर्व नहीं था। ब्राह्मण, मत्स्य, विष्णु, वायु आदि पुराणों में इसका विवरण प्राप्त होता है। इससे जाति प्रथा की शिथिलता की सूचना मिलती है। इस जाति प्रथा के परिवर्तन से सम्पत्ति के बँटवारे, एवं आर्थिक व्यवस्था के संचालन में भी काफी परिवर्तन हो गया था।[1] पैतृक सम्पत्ति का वास्तविक अधिकारी कौन हो, यह उस समय की एक जटिल समस्या थी।

आश्रम व्यवस्था

पुराणों में वर्णित आश्रम व्यवस्था आर्थिक ढाँचे की समुन्नित का प्रमुख स्रोत थी, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास इन चारों आश्रमों में धनोपार्जन करने के अलग-अलग उपाय थे। ब्रह्मचारी, भिक्षा माँगकर, गृहस्थ, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि कर्म कर, तथा वानप्रस्थी एवं सन्यासी भिक्षा वृत्ति पर जीवनयापन करते थे। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था में आश्रमों का महत्वपूर्ण स्थान पौराणिक युग में भी रहा है।[2]

स्त्री दशा

पुराणों में स्त्रियों का आर्थिक व्यवस्था के निर्धारण में कुछ कम स्थान न था। इनकी समाज में जहाँ एक ओर प्रतिष्ठा थी, वहीं दूसरी ओर गृहस्थी में रहकर आय-व्यय सम्बन्धी कार्य करने की पूरी जिम्मेदारी थी। पुराणों में स्त्रियों के लिये पैतृक सम्पत्ति के अधिकार का भी विवरण प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में एक स्थल पर कन्या तथा उसके पैतृक धन पर प्रकाश डाला गया है।[3] कन्या के प्रभाव से

---

१. तच्च पुत्रत्रितयमपि पश्चाद्विप्रतामुपजगाम ॥
—विष्णु पुराण चतुर्थ अंश, अध्याय १९ श्लोक २६। भाग २ पृ० ९७

२. वर्ण धर्मः सविज्ञेयो यथोपनयनं त्रिषु।
यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य पदार्थः संविधीयते।
उक्त आश्रम धर्मस्तु भिन्न पिण्डादिको यथा।
उभयेन निमित्तेन यो विधिः सम्प्रवर्तते ॥
—अग्निपुराण ६८।२।३

३. स्वल्पमेतत्कारणं यदयं गान्दिन्यां श्वफल्केनाक्रूरोजनितः।
सुमहांश्चायमनावृष्टि दुर्भिक्षमारिकाद्युपद्रवप्रतिषेधकारी प्रभावः·· ······

राज्य में पड़ा दुर्भिक्ष तक दूर हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियों को आर्थिक व्यवस्था कायम रखने का पूरा अधिकार होता था और वे सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था को नियंत्रित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थी।

अन्न की महत्ता

वायु पुराण में प्राण और अपान दोनों का आत्मा से तादात्म्य स्थापित किया गया है। एक में अन्तरात्मा तथा दूसरे में वहिरात्मा का सन्निधान उद्घोषित है। किन्तु ऐसा भी विवेचित है कि प्राण और अपान दोनों की प्रतिष्ठा अन्न के कारण है। अन्नाभाव मृत्यु का कारण है। अन्न ब्रह्म है, जो प्रजा सृष्टि का मूल्य है।[1] विष्णु पुराण में अन्न को बल का कारणभूत वर्णित किया गया है। वह शरीर में स्थित पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु चारों तत्वों में वृद्धि लाता है। यह प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान की पुष्टि कर अव्याहत सुख प्रदान करता है। अन्न का समीकरण विष्णु से किया गया है।[2]

किमत्रानुष्ठेयमन्यथा चेद्ब्रवीम्यहं तत्केवलाम्बरतिरोधानमन्विश्यन्तो
रत्नमेते द्रक्ष्यन्ति अतिविरोधो नक्षेम इति संश्चिन्त्य तमखिलजगत्कारण भूतं
नारायणमाहाक्रूरः ॥

—विष्णु पुराण ४।१३।१३२-१४० । भाग २ पृ० ७७-७८

१. द्वावात्माना वुभौवेता प्राणापान वुदाहृतो।
तयोः प्राणोऽन्तरात्मास्यवाह्योपानोऽत उच्यते।
अन्नं प्राणस्तथापानं मृत्युर्जीवित्तम् एव च
अन्न ब्रह्म च विज्ञेयं प्रजानां प्रसवस्तथा।

—वायु पु० १५।११-१३ भाग १ पृ० १९६

२. अन्नं वलाय में भूमेरपामग्न्यनिलस्य च।
भवत्येतत्परिणतं ममास्त्वव्याहतं सुखम् ॥
प्राणापान समानानामुदानव्यानयोस्तथा।
अन्नं पुष्टिकरं चास्तु ममाप्यव्याहतं सुखम् ॥
विष्णुरन्ता तथैवान्नं परिणामश्च वै तथा।
सत्येन तेन मद्भुक्तं जीर्यत्वन्नमिदं तथा।

—श्री विष्णु पुराण, अंश ३, अध्याय ११, श्लोक ९१।९२।९५। भाग १ पृ० ४२८-२९

वार्ता

पूर्व ग्रन्थों की भाँति पुराणों में भी आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन, वार्ताशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है। इनमें वार्ता विषयक चर्चा अनेक स्थलों पर प्राप्त होती है।[१] पुराणों में वार्ता शब्द का सामान्य अर्थ कृषि से उत्पादित वस्तुओं से लिया गया है। विष्णु पुराण में वर्णित है कि जब मनुष्यों ने वार्ता का उपाय किया उस समय विभिन्न प्रकार के अनाज उत्पन्न हुये।[२] वायु और ब्रह्म पुराण के अनुसार जन समूह की वृत्ति के स्थापनार्थ ब्रह्मा ने पृथ्वी के दोहन द्वारा बीजों को उत्पन्न कर उनके वार्ता की व्यवस्था सम्पन्न की।[3]

वार्ता के अन्तर्गत पौराणिक विचारकों ने भी कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं। विष्णु पुराण में वार्ता को विद्या शब्द से अभिहित कर इसके अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य एवं पशुपालन का ही उल्लेख किया गया है।[४]

कृषि के प्रति पौराणिक प्रवृत्ति

कृषि के अधिकतम विकास के लिये तत्कालीन लोग प्रयत्नशील रहते थे।

---

१. वार्तोपायं ततश्चक्रु:.....।

—विष्णु पुराण १।६।२० भाग १. पृष्ठ ८०

त्रैतायुगे चापकर्षा द्वितीयाः संप्रवर्तनम्।

—वायु पुराण—१।१००

द्वापरेष्वभिवर्तन्ते मतिभेदस्तथा नृणाम्।
मनसा कर्मणा वाचा कृच्छाद्वार्ता प्रसिध्यति

—मत्स्य पुराण, १४४।२४.

२. प्रतिकारमिमं कृत्वा शीतादेस्ताः प्रजाः पुनः
वार्तोपायं ततश्चक्रुर्हस्तसिद्धिं च कर्मजाम्।

—विष्णु पुराण १।६।२० भाग १ पृ० ८०

३. ततः सः तासां वृत्यर्थं वार्तोपायंश्चकारह

—वायु पुराण ८।१५३ भाग १ पृ० १२९

४. कृषिर्वणिज्या तद्वच्च तृतीयं पशुपालनम्।
विद्याह्येका महाभाग वार्ता वृत्ति त्रयाश्रया।।

—विष्णु पुराण—५, १०, २८ भाग २ पृ० १८४

विष्णु पुराण में जुते हुए खेतों में मूत्रोत्सर्ग करना पाप माना गया है।[1] यही नहीं अनेक पुराणों में खेत को क्षति पहुँचाने वाले को अपराधी की संज्ञा दी गयी है। मत्स्य पुराण में राजा को कृषि का संरक्षक माना गया है। इन विचारों से स्पष्ट है कि पुराण काल में विचारकों ने आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से अनेक प्रकार के नियमों का प्रतिपादन किया था। उनका उद्देश्य कृषि को समुचित व्यवस्था कर उत्पादन में वृद्धि करना था।

कृषि करने के साधन

उस समय कृषि करने का प्रमुख साधन हल था। इसे पुराणों में हल, लांगल और फाल शब्दों के नाम से पुकारा गया है। पौराणिकों का विचार था कि हल से उत्खनित मिट्टी को शौच कर्म के प्रयोग में नहीं लाना चाहिये।[2] पुराणों में खेत की जुताई का सम्बन्ध सर्वत्र हल से नहीं किया गया है, यह बात सही है। इसका कारण पुराणों में दिये गये उद्धरणों का प्रासंगिक स्वरूप माना गया है। वायु एवं अग्नि पुराण में उस अतीत का उल्लेख किया गया है, जब कि अनाज स्वाभाविक रूप में कृषि आदि की योजना के बिना ही प्राप्त होते थे।[3]

सिंचाई

कृषि की सिंचाई के लिये लोग वर्षा के अतिरिक्त कुएँ, नहर, तालाब, आदि की व्यवस्था करते थे। समयानुकूल फसल को पानी देकर उसे समृद्धिशाली बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। मत्स्य पुराण में खेत की सिंचाई की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'युद्ध में घायल होने के बाद पुनरुत्थित होने वाले मय के अनुचरों की

---

१. न कृष्टेशस्यमध्ये वा गोव्रजे जनसंसदि
न वर्त्मनि न नद्यादितीर्थेषु पुरुषर्षभ ॥
—विष्णु पुराण ३।११।११ भाग १ पृ० ४१७

२. हलोत्खाता च पार्थिवः
—विष्णु पुराण ३।११।१६ भाग १ पृ० ४१८

३. (क) अफालकृष्टा ओषध्यो ग्राम्यारण्यास्तु सर्वशः
वृक्षाः गुल्मलता वल्ली वीरुधस्तृण जातयः
—वायु पुराण ८।१५० भाग १ पृ० १२६

(ख) हलमष्टगवंधर्म्यं षड्गवं जीवितार्थिनाम्।
चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं धर्म घातिनाम्।
—अग्नि पुराण ५७।४ पृ० २७७

उपमा कुम्हलाये हुए पौधों से दी गई है, जो सींचने पर हरे-भरे हो उठते है ।[1] इससे इस बात का पता चलता है कि पानी के अभाव में सूखने वाले पौधों को पानी देकर पुनर्जीवित करना आवश्यक था ।

पशुपालन

पुराणों के अनुसार लोक पितामह ब्रह्मा ने वैश्य के लिये जीविका रूप से मुख्यतया पशुपालन कर्म का विधान किया है ।[2] इन्द्र ने स्तुति क्रम में लक्ष्मी को गोष्ठ (गोशाला) में निवास करने की प्रार्थना की है । कृष्ण ने नन्द आदि गोपों को गोपालन की ही उत्तम वृत्ति बतलायी है । इससे स्पष्ट है कि प्राचीन परम्परा का पालन पौराणिक काल में भी हुआ और पशुपालन की अपनी एक अलग महत्ता रही । पशुपालन, विशेषतः गोपालन की अत्यन्त व्यापक, सार्वभौम और लोकप्रिय परम्परा तत्कालीन समाज में थी ।

वाणिज्य तथा व्यापार

वाणिज्य समाज का एक प्रमुख अंग बन चुका था । वैदिक काल से लेकर आज तक यह परम्परा बराबर चलती आ रही है । पौराणिक मत में वाणिज्य का आविर्भाव मानवीय समाज के उस सम्वर्द्धनशील स्तर पर हुआ, जब कि वैन्य के शासनाधिरूढ़ होने के साथ-साथ अराजकता, अव्यवस्था तथा सामाजिक विक्षोभ का अन्त हुआ था ।[3] पुराणों में भी 'वाणिज्य' का कार्य वैश्य को ही सौंपा गया है ।[4] अन्य वर्णों के लिये वाणिज्य कर्म का निषेध है । अनेक पुराणों में क्रय विक्रय को वैश्य

---

१. उत्तिष्ठन्ति पुनर्भोमा सस्याइवजलोक्षिताः

—मत्स्य पुराण, १३६।४८

२. पशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिं च मनुजेश्वरः ।
वैश्याय जीविकां ब्रह्मा ददौ लोक पितामह ॥

—श्री विष्णु पुराण, ३।८।३० भाग १ पृ० ४०४

३. न सस्यानि न गोरक्षं न कृषिनं वणिक्पथः ।
वैन्यात्प्रभृति मैत्रेय सर्वस्यैतस्य सम्भवः ॥

—विष्णु पुराण १।१३।८४ भाग १ पृ० १५४

४. पशु पाल्यं च वाणिज्यं कृषिं च मनुजेश्वरः
वैश्याय जीविका ब्रह्मा ददौलोक पितामह ॥

—विष्णु पुराण ३।८।३० भाग १ पृ० ४०४

वैश्यानेव तानाहुः कीनाशानवृत्ति साधकान् ।

—वायु पुराण ८।१५७ भाग १ पृ० १३०

की जीविका बताया गया है। ब्राह्मण के लिये वाणिज्य-कर्म करना निषिद्ध है।[१] विष्णु पुराण का कथन है कि आपत्तिकालीन अवस्था में ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्य के कर्म का अनुसरण कर सकते हैं। पुनः सामर्थ्यवान् होने पर उन्हें इसका त्याग कर देना चाहिए।[२]

उद्योग

पुराणकाल में उद्योग धंधों का विकास अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था। कुशल तथा अकुशल श्रमिक नाना प्रकार के उद्योगों में लगे हुये थे। शिल्पकला की प्रधानता का पुराणों में विस्तृत विवेचन किया गया है। उनमें एक ओर शिल्प को सहज कर्तव्य माना गया है, दूसरी ओर कुछ पुराणों में शिल्पी अथवा कारीगरों को अमर्यादित एवं अप्रतिष्ठित निरूपित किया गया है। इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि उद्योग धंधों के विकास में सहायक होने के कारण आर्थिक संघटन में शिल्पियों का विशेष स्थान था, भले ही उनकी सामाजिक स्थिति शोचनीय रही हो।[3]

उत्पादन

पुराणों में कृषि तथा तत्सम्बन्धी उत्पादनों का पर्याप्त विवेचन मिलता है। उस समय भी लोग धान, जव, गेहूँ, तिल, कंगनी, मटर, मसूर, मूंग आदि अनेक

---

१. पशुपाल्यं च वाणिज्यं कृषिचैवविशाददौ
शिल्पाजीवं भृतिश्चैव शूद्राणां व्यदधात् प्रभुः
—वायु पुराण ८।०६३ भाग १ पृ० १३१

२. क्षात्रं कर्म द्विजस्योक्तं वैश्यं कर्म तथापदि।
राजन्यस्य च वैश्योक्तं शूद्रकर्म न चैतयोः
—विष्णु पुराण ३।८।३८ भाग १ पृ० ४०५

३. कर्ता शिल्प सहस्त्राणां त्रिदशानां च वर्द्धकी।
भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतांवरः॥
—विष्णु पुराण १।१५।१२० भाग १ पृ० १८०

मृत्पिण्डस्तु यथा चक्रे चक्रवातेन पीड़ितः।
हस्ताभ्याम् क्रियमाणस्तु विश्वत्वमुपगच्छति॥
—वायु पुराण १४।१८ भाग १ पृ० १८०

प्रसाद भवनोद्यान प्रतिभाभूषणादिषु।
तड़ागाराम कूपेषु स्मृतः सोमवर्धकिः॥
—मत्स्य पुराण ५।२८

प्रकार की फसलों को उगाना अच्छी तरह से जानते थे। सामाजिक क्रियाओं के अनुकूल विभिन्न प्रकार के उत्पादनों का विभाजन कर दिया गया था। तत्कालीन लोग ग्राम तथा वन से सम्बन्धित खाद्यानों का उत्पादन करते थे। उत्पादन में वृद्धि लाने के लिये कृषि की जुताई, भूमि को समतल करने आदि की अनेक विधियों का परिज्ञान उस समय के लोगों को था। विभिन्न पुराणों में अनाजों के प्रकारों का उल्लेख मिलता है।[1]

विनियम

प्राचीन काल (वेदकाल) में वस्तु विनिमय को अधिक प्रधानता दी गई थी, किन्तु पुराणों के समय तक निष्क तथा सुवर्ण, आदि के सिक्कों का प्रचलन काफी हो गया था। निष्क के बारे में विष्णु, वायु, और मत्स्य पुराणों में उल्लेख किया गया है। विष्णु पुराण में एक स्थान पर यह जिक्र आता है कि द्यूत क्रीड़ा में बलभद्र तथा रुक्मिणी ने अनेक निष्कों की बाजी लगाई थी।[2] वायु और ब्राह्मण पुराणों का कथन है कि निष्क का अपहर्ता व्यक्ति नरकगामी होता है।[3] इसी पुराण में सहस्त्र निष्कों

---

१. व्रीह्यश्च यवाश्चैव गोधमाश्चाणवस्तिला: ।
प्रियंङ्गु वोह्यु दाराश्च कोरदूषा: सचीनका: ।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावा: सकुलत्थका: ।
आढ्क्यश्चणकाश्चैव शणा: सप्तदश स्मृता:
इत्येता ओषधीनां तु ग्राम्यानां जातयो मुने ।
ओषध्यो यज्ञियान्चैव ग्राम्यारण्यांश्चतुदर्श
× × ×
ग्राम्यारण्या: स्मृता ह्येता औषध्यस्तु चतुदर्श
यज्ञ निष्पत्तये यज्ञस्तथासां हेतुरुत्तम:
—विष्णु पुराण अंश १ अध्याय ६ श्लोक २१-२६ भाग १ पृ० ८१
जज्ञिरे तानि बीजानि ग्राम्यारण्यास्तु ता: पुन: ।
औषध्य: फलपाकन्ता: सप्त सप्तदशस्तुता:
व्रीह्यश्च यवाश्चैव गोधूमा अणवस्तिला:
प्रियंगवो ह्यु दाराश्च कारूषाश्च सचीनका:
—वायु पुराण ८ श्लोक १४३, १४४ भाग १ पृ० १२८

२. तत्पुत्रश्च ऋतुपर्ण: योऽसौ नल सहामोऽक्षहृदयज्ञोऽभूत् ।
—विष्णु पुराण ४।४।३७ भाग २ पृ० १८

३. काण्डकर्ता कुलालश्च निष्कहर्ता ।
—वायु पुराण १०।१।१६

के दान का भी उल्लेख मिलता है। जिस स्थल पर वायु और ब्राह्मण पुराणों ने निष्क का प्रयोग किया है, वहीं पर विष्णु पुराण ने सुवर्ण शब्द को प्रयुक्त किया है।[1] इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि निष्क तथा सुवर्ण दोनों धातु के सिक्कों का प्रयोग विनिमय के लिये किया जाता था।

क्रय-विक्रय

वस्तुओं के क्रय-विक्रय के मूल्य के रूप में किसी द्रव्य या मुद्रा का प्रयोग होता था, अथवा अन्य वस्तुओं का, इस विषय का पुराण में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। उस काल में राज कर अथवा राज शुल्क का भी विवरण है। अधिक मात्रा में शुल्क लेने के विधान की कटु आलोचना की गई है, जब राज कर की मात्रा, अधिक और असह्य हो जाती थी तब प्रजा पीड़ित होकर अन्य देशों में पलायन कर जाती थी। वह पर्वत कंदराओं में भाग कर निवास करती थी।[2]

श्रमिक

पुराणों में विभिन्न प्रकार की शिल्पकारी तथा कलाकृतियों का उल्लेख मिलता है, मन्दिरों की पच्चीकारी, मूर्तियों का निर्माण, अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का विवरण प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रमिक विभिन्न प्रकार के कार्यों में रत अपनी मजदूरी प्राप्त कर अर्थोपार्जन करते थे। अग्नि पुराण में एक स्थान पर शस्त्रों का उल्लेख मिलता है जिससे इस बात का पता चलता है कि शस्त्रों के बनाने में निपुण श्रमिक भी बड़ी तत्परता से कार्यरत थे।[3]

कर

पुराणों में भी कर सम्बन्धी नियमों का विवेचन प्राप्त होता है। अग्निपुराण के अनुसार अपने देश में उत्पादित वस्तुओं के कुल मूल्य का १।२० भाग कर के रूप में

---

१. अथ निष्क सहस्त्राणां फलं प्राप्नोति।

—वायु पुराण ८०।१६

२. विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेत्रे यच्चनदीयते।
विक्रीयासंप्रदानं तद्विवादपदमुच्यते।
क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं क्रेतान बहुमन्यते।
क्रत्वा मूल्यं तुयः पण्यं दुष्क्रीतं मन्यते क्रयी।

—अग्निपुराण—१०२।२०-२१ पृ० ४६८

३. तत्र शस्त्रास्त्र संपत्या द्विविधं परकीर्तितम्।
ऋजुमाया बिभेदेन भूयोद्विविधमुच्यते॥

अग्निपुराण अध्याय १०० श्लोक १। पृ० ४५७

लिया जाना चाहिये। विदेशों में आयात अथवा निर्यात की जाने वाली उत्पादन के कुल मूल्य के आधार पर करारोपण करने का नियम है। इसी प्रकार पशुओं तथा सोने के वास्तविक मूल्य का १।५ ५।६ भाग कर के रूप में लिया जाना चाहिए। औषधि, फल, फूल, जड़, पत्ती, लकड़ी, बर्तन आदि की वस्तुओं पर वास्तविक मूल्य का १।६ भाग राजा को देने का नियम बताया गया है। ब्राह्मणों से कर लेने का कोई भी विधान नहीं है।[१]

पुराणों में विवेचित आर्थिक विचारों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इनमें सामाजिक परिवर्तन के काफी प्रमाण मिलते हैं। इसके पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जाति का ही उल्लेख है, किन्तु इस युग में अनेक जातियाँ उत्पन्न हो गई और आर्थिक स्थिति का भी विस्तार हो गया। इस समय तक जनसंख्या में भी काफी वृद्धि हो गई थी। किन्तु आर्थिक विचारों में कोई मौलिक नवीनता नहीं आ सकी। इसके बाद अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का पृथक स्वरूप सामने आया और बृहस्पति, कौटिल्य, कामक्षक तथा शुक्र आदि अनेक आचार्यों ने आर्थिक विचारों का विस्तृत विवेचन किया, जिनकी आज के अर्थशास्त्री भी सिद्धान्ततः स्वीकार करते हैं।

---

१. न तद्राज्ञा प्रदातव्यं गृहे यद्गृहगेहृतम्।
स्वराष्ट्र पण्यादादद्याद्राजा विंशतिमं द्विज॥
शुल्कांशं परदेशाच्च क्षयव्यय प्रकाशकम्।
ज्ञात्वा संकल्पयेच्छुल्कं लाभं वणिग्यथाऽप्नुयात॥
विंशांशं लाभमादद्यादण्डनीयस्ततोऽन्यथा।
स्त्रीणां प्रव्रजितानां च तरशुल्कं विवर्जयेत्॥
—अग्नि पुराण, अध्याय ८७ श्लोक २३, २४, २५। पृ० ४०३-४०४

खण्ड २

अध्याय १०

चार प्राचीन अर्थशास्त्री

(क) बृहस्पति

(ख) कामन्दक

(ग) कौटिल्य

(घ) शुक्र

अध्याय १०

चार प्राचीन अर्थशास्त्री

बृहस्पति

प्राचीन अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक विचारों में आचार्य बृहस्पति का एक विशिष्ट स्थान है। बृहस्पति सूत्र, बृहस्पति स्मृति, आदि ग्रन्थों में सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक विचारों के साथ-साथ आर्थिक विचारों का विवेचन किया गया है। आचार्य बृहस्पति को देवगुरू की भी उपाधि प्रदान की गई है। बृहस्पति सूत्र को बृहस्पति अर्थशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। अतएव उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर प्राचीन अर्थशास्त्र का प्रणेता यदि बृहस्पति को ही माना जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। महाभारत में बृहस्पति शब्द की व्याख्या करते हुये बताया गया है कि बृहत्, ब्रह्म एवं महत्, ये तीनों शब्द एक अर्थ के वाचक हैं। इन तीनों शब्दों के गुण देव-पुरोहित में मौजूद थे, इसलिये वे विद्वान् देवगुरु बृहस्पति कहलाते थे।[1]

बृहस्पति सूत्र अथवा बृहस्पति अर्थशास्त्र

'ले म्यूनिजो के मार्च १९१६ के अंक में डा० एफ० डब्ल्यू० टामस ने बृहस्पति सूत्र नामक ६ अध्यायों में विभक्त एक लघु ग्रन्थ का प्रकाशन किया था। मूल रोमन लिपि में था एव अनुवाद तथा भूमिका अंग्रेजी में थी। १९२१ में लाहौर डी० ए० वी० कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट के डाइरेक्टर प्रो० भगवद्दत्त ने अपनी अतिरिक्त प्रस्तावना के साथ डा० टामस द्वारा सम्पादित ग्रन्थ को देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ सूत्र शैली में देवराज इन्द्र और देवगुरु बृहस्पति के संवाद के रूप में हैं। इस ग्रन्थ को प्रारम्भ में ही नीति सर्वस्व[2] अर्थात् राजनीति का संक्षेप कहा गया है। इस ग्रन्थ के समय एवं महत्व के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा

---

१. बृहद् ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः
एभिः समन्वितोराजन् गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः ॥
—महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय ३३६ श्लोक २

२. बृहस्पतिरथाचार्य इन्द्राय नीति सर्वस्वमुपदिशति।
—बार्हस्पत्य सूत्रम् अध्याय १, पृष्ठ १

है। प्रो० काणे इसे परावर्ती ग्रन्थ मानते हैं और अधिक महत्व प्रदान करना उचित नहीं समझते हैं।[1] डा० अल्तेकर ने भी इसे लघु महत्वविहीन एवं परावर्ती ग्रन्थ माना था।[2] डा० टामस भी इसे १२वीं शताब्दी से पहले का मानने में असमर्थ हैं।[3] उपर्युक्त विद्वानों के मतों के ठीक विपरीत डा० काशी प्रसाद जायसवाल[4] तथा कृष्णाराव ने अपने मत व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार बार्हस्पत अर्थशास्त्र कौटिल्य के लिये प्राथमिक महत्व का ग्रन्थ था, जिस प्रकार अश्वघोष, वात्स्यायन भास एव महाभारत के लेखकों के लिए बृहस्पति सूत्र था।[5] ऐसी स्थिति में बृहस्पति अर्थशास्त्र अथवा सूत्र पर विचार विरोधाभास पूर्ण है। फिर भी विचारों की महत्ता को देखते हुए बृहस्पति अर्थशास्त्र की आर्थिक एवं राजनीति दृष्टि से महान उपयोगिता है।

राज्य का स्वरूप

तत्कालीन आर्थिक स्थिति एव विचारों की भली-भाँति समझने के लिये आवश्यक होगा कि हम बृहस्पति द्वारा वर्णित राज्य के स्वरूप की जानकारी प्राप्त करें। बृहस्पति के अनुसार, राज्य (वास्तविक एवं आदर्श) का उद्‌भव एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त हुआ था। राज्य के स्वरूप की विवेचना में वे, भौतिक उपयोगिता एवं वैज्ञानिक आधार को ही विशेष महत्व प्रदान करते है। संक्षेप में उनके चिन्तन का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है कि राज्य केवल मानसिक अनुभूति मात्र नहीं है। उसमें जीवन है—वह एक महानतन्त्र है।[6] जिसके निर्माण और संचार के लिये सात कृतियों का सम्मिलित योग आवश्यक है।[7]

---

1. Prof. P. V. Kane, History of Dharma Sastra,
   Vol. 1. Poona, 1930, p. 126.
2. A. S. Altekar—State and Government in Ancient India, p. 10.
3. Introduction (Reproduced)
   by Prof. Bhagvad Datt, P. 17.
4. Dr. K. P. Jayaswal—Hindu Polity, p. 7.
5. Dr. M. V. Krishna Rao—Studies in Kautilya,
   —1953, pp. 10-11.

६. राज्यं ही सुमह-तंत्रम्

—महाभारत, शान्ति पर्व ५८।२१

७. एताः पंच तथामित्रं सप्तमः पृथ्वीपति।
सप्त प्रकृतिकं राज्यमित्युवाच बृहस्पतिः॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ८ प्रकरण १२ श्लोक ५

राष्ट्र

बृहस्पति ने राष्ट्र को तृतीय प्रकृति माना है। कौटिल्य ने इस भाव की योजना के लिये 'जनपद' शब्द का प्रयोग किया है। बृहस्पति के राष्ट्र विषयक विचारों में आर्थिक व्यवस्था का छिपा हुआ स्वरूप परिलक्षित होता है, क्योंकि समग्र आर्थिक व्यवस्था का स्वरूप ही राष्ट्र है। बिना आर्थिक नीति के सुदृढ़ हुये 'राष्ट्र' का चरमोत्कर्ष कदापि संभव नहीं है। बृहस्पति राज्य की पूर्णता में आस्था रखते हैं। वे मानते हैं कि राज्य की दृढ़ता के लिये आवश्यक है कि उसकी सीमा में निहित भूमि की मर्यादा भंग न हो। राज्य सत्ता सम्पन्न आधुनिक राष्ट्र भी इसे अनिवार्य गुण मानते हैं।

वृहस्पति ने भी अन्य आचार्यों की भाँति अपनी राज्य व्यवस्था में समस्त क्रियाओं का स्रोत तथा समाज का संचालनकर्ता राजा को बताया है। उन्होंने राज्य प्रकृतियों के अन्तर्गत राजा को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है है। उसे राज्य यान के दो चक्रों में से एक माना गया है। राजा का व्यावहारिक सर्वेसर्वा आमात्य उस प्रथक चक्र के अभाव में राज्य रूपी यान को गति नहीं दे सकता था। कुछ भी हो, बृहस्पति ने राजा को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है और स्थापित किया है कि राज्य की समस्त क्रियायें उसी के द्वारा संचालित होती थीं।[1]

वर्णाश्रम

वृहस्पति के पूर्व धर्मसूत्रकारों ने भारतीय समाज के लिये आदर्श कल्पना प्रस्तुत की थी, जिसे वर्णाश्रम धर्म नाम प्रदान किया गया है। ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के पृथक पृथक कर्त्तव्यों से भी समस्त क्रियाओं का संचालन होता था। पृथ्वी 'क्ष' थी और उसे त्राण (रक्षा करने) देने वाला क्षत्रिय था। पृथ्वी की रक्षा और उसे भयमुक्त करना क्षत्रिय का कार्य था। आपत्काल को छोड़कर किसी भी अवसर पर वृहस्पति विप्र को क्षात्र-वृत्ति ग्रहण करने की अनुमति नही प्रदान करते।[2] आपत्तकाल में ब्राह्मण को क्षात्र-वृत्ति ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करने का संभवतः

---

१. एवं शास्त्रोदित राजा कुर्वन्निर्णयपालनम् ।
वितत्येह यशो लोके महेन्द्र सचिवोभवेत् ॥

—कृत्य कल्पतरु व्य० का० ८, ३२ पृष्ठ १७

तेजो मात्रं समुद्धत्य राज्ञो मूर्तिर्हिनिर्मिता ।
तस्य सर्वाणि भूतानिचराणि स्थावराणि च ॥

—बृहस्पति स्मृति व्यवहार कांड, अध्याय १ श्लोक ७

२. अजीवनः कर्मणास्वेन विप्रः क्षत्रं समाचरेत् ।

—बृहस्पति स्मृति-आपद्धर्म । ५।२

अभिप्राय रहा होगा कि विदेशी आक्रमणों के अवसर पर विप्र राजा की सहायता के लिये क्षात्रवृत्ति ग्रहण करे अर्थात् योद्धा का कार्य करे। यह एक राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप में एवं आसामान्य अवस्था के कारण विशेष रूप से आवश्यक रहा होगा किन्तु ब्राह्मण के राज्य शक्ति ग्रहण करने का प्रश्न नहीं उठता। एक स्थल पर बृहस्पति का कथन है……"पृथ्वी पावन और उत्तम है। यही कारण है कि प्रजा पापी (क्षत्रिय) राजा को तो स्वीकार कर लेती है, किन्तु किसीदूसरे (व्यक्ति को अर्थात् दूसरी जाति) के व्यक्ति को (शासनशक्ति) नहीं देना चाहती।"[1] उनके इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण व्यवस्था के आधार पर वे आर्थिक व्यवस्था को सुनियोजित करने के पक्ष में होने के साथ-साथ एकाधिकार के पक्ष में न थे।

विद्याओं की मान्यता

वृहस्पति आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति इन चारों विद्याओं का महत्व स्वीकार करते हैं ओर वेदत्रयी को लोक यात्रा विद का संवरण मात्र मानते हैं।[2] प्रो० रंगास्वामी अयंगर द्वारा संकलित वृहस्पति स्मृति में तिथि वार एवं नक्षत्र के गुण दोषों को स्वीकार करते हुए उचित नक्षत्रों के अनुरूप अध्येय विषयों का महत्व प्रकट किया गया है। अध्येय विषयों के समस्त वैदिक वाङमय ब्रह्म विद्याशास्त्रों में ज्योतिष, गणित. सामुद्रिक शब्द विधाएँ तथा नक्षत्र विद्या आदि का महत्व स्वीकार किया गया है। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों के दृष्टिकोण का अन्तर इस विषय में विशेष रूप से स्पष्ट होता है। एक ओर जहाँ धर्मशास्त्रियों ने निःश्रेयस सिद्धि के उद्देश्य से आन्वीक्षिकी और वेदत्रयी पर विशेष बल दिया था, वहीं लौकिक अभ्युदय के समर्थक अर्थशास्त्रियों ने वार्ता (आर्थिक जीवन के सैद्धान्तिक पक्ष) पर विशेष बल दिया है।[3]

---

१. अति पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः।
पृथ्वीं नान्यविच्छन्ति पावनं ह्येतदुत्तमम्॥

—वृहस्पति स्मृति, आपद्धर्म ५।२१

२. वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अध्याय २ प्रकरण १

संवरणमात्र हि त्रयी लोकयात्रा विद इति।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अध्याय २ प्रकरण १

३. चतुर्दशी चतुर्थी च कदाचित्स्युः शुभप्रदा सीना षष्ठऽष्टमे मासि…
रोहिण्येन्दवमादित्य पुष्य हस्तोन्तरात्रयम्।
पौष्णं वैष्णवभं चैव सीमन्ते दश संस्मृता॥

—बृहस्पति स्मृति-संस्कार कांड, अध्याय १, श्लोक ४७

जहाँ धर्मशास्त्रियों ने धर्म प्रधान चारों विधाओं का महत्व स्वीकार किया, वहीं कट्टर अर्थशास्त्री आर्थिक ढाँचे पर बल देते हैं। यही कारण है कि बृहस्पति ने आर्थिक ढाँचे का महत्व स्वीकार करके वार्ता को राजकुमार के अध्येय विषयों में स्थान प्रदान किया था। वे राजनीति में वेदत्रयी का स्थान नहीं मानते थे। उनके अनुसार यह संवरण मात्र था।[१]

सामाजिक कल्याण

आचार्य बृहस्पति ने भी प्राचीन विचारकों की भाँति सामाजिक कल्याण की भावना को रखकर कार्य करने पर बल दिया है। लोक कल्याणकारी राज्य की कल्पना करते हुए बृहस्पति कहते हैं कि "अपनी जाति एवं जीवों को दूषित नहीं करना चाहिए।"[२] स्पष्ट है कि लोक कल्याणकारी व्यवस्था तभी सम्भव है, जबकि अधिकत्म संतुष्टि, के सिद्धान्त को मानकर समाज चले। इससे सिद्ध होता है कि बृहस्पति अधिकतम संतुष्टि के पोषक थे।

बृहस्पति की वित्तीय नीति

बृहस्पति वित्तीय नीति के निर्वारण में नैतिक गुण को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। उनका कथन है कि जो राजा अधिक धन इकट्ठा करने के विचार से अधिक धन इकट्ठा करने के विचार से अधिकाधिक कर उगाहता है, उसके राष्ट्र का नाश हो जाता है, उसकी वृद्धि नहीं होती।[3] यद्यपि बृहस्पति कोश वृद्धि को आवश्यक मानते हैं। उनका यह भी मत है कि जो राजा कोश वृद्धि नहीं करता उसे आपतकाल में

---

१. धर्म शास्त्रार्थशास्त्राभ्यामविरोधेन पार्थिव:
समीक्षमाणो निपुणं व्यवहारगति नयेत्।

—बृहस्पति स्मृति, व्यवहार कांड, अध्याय १, श्लोक ११

२. दूषयेन्न स्वजाति जीवत्सु

—बृहस्पति सूत्र अध्याय १, सूत्र ४३

३. हीन मध्योन्तमत्वेन प्रभिन्नानि पृथक् पृथक्,
विशेष एषां निर्दिष्टश्चतुर्णामप्यनुक्रमात्

—बृहस्पति स्मृति व्यवहार कांड अध्याय १, श्लोक १५

स्वल्पमप्यप कुर्वन्ति ये पापा पृथ्वीपतौ
ते वह्ना विव दह्यन्ते पतंगा मूढ़चेतस:
संवर्धयते तथा कोशमाप्तैस्तज्ज्ञै रधिष्ठितम्।
काले चास्य व्ययं कुर्यात् त्रिवर्गप्रतिपत्तये

× × ×

शत्रु कष्ट पहुँचाते हैं। इससे एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि बृहस्पति प्रजा से अधिक कर वसूलने के पक्ष में न थे और दूसरी ओर वह आर्थिक विकास के भी चिन्तक थे। करों की वसूली तथा वित्तीय व्यवस्था में वह विश्वासी व्यक्तियों को रखने के पक्ष में न थे।[१]

वित्तीय कोश

बृहस्पति 'कोश' को प्रथम श्रेणी में रखते हैं, क्यों कि इसी से सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली का नियमन होता है। अतः आधुनिक प्रशासनों के वित्त तथा कृषि विभागों का इसे समन्वय माना जा सकता है। इसकी देख रेख के लिये एक प्रमुख अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी, जिसे बृहस्पति ने 'धनाध्यक्ष' की संज्ञा दी है, वही समस्त आय-व्ययक का लेखा जोखा रखता था।[२]

धन का महत्व

अन्य आचार्यों की भाँति बृहस्पति भी धन को ही समस्त क्रियाओं का उद्गम मानते हैं।[3] उनके अनुसार सम्पूर्ण व्यावहारिक क्रियाओं का संचालन धन के माध्यम से होता है। अतएव इसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को प्रयत्नशील होना चाहिए। उन्होंने कोश सम्वर्द्धन के लिये अधिकाधिन धन की प्राप्ति न्यायोचित ढंग से प्राप्त करने की सलाह दी है।

उपभोग

बृहस्पति का मत है कि जीविकोपार्जन से जो भी धन की प्राप्ति हो अपने बंधु-बांधव के साथ बाँट कर उसका उपभोग करना चाहिए।[४] इससे यह स्पष्ट होता है

---

१. बृहस्तेरविश्वास इतिशास्त्रार्थ निश्चयः
विश्वासी च तथा च स्याद् यथासंव्यवहारवान्
—कामन्दकीय नीतिसार सर्ग ५ श्लोक ८५-८८

२. समुद्रावर्षमासादि धनाध्यक्षक्षरान्वितम्।
ज्ञातं मयेति लिखितं सन्धिविग्रहलेखकैः॥
बृहस्पति स्मृति व्यवहार काण्ड, अध्याय ६ श्लोक २४

३. धन मूलाः क्रिया सर्वाः
सर्वे वत्नास्तत् साधनेमताः
—बृहस्पति स्मृति व्यवहार, काण्ड ७।१

४. वृत्युपायेन यल्लब्धं कुर्यत्पालनवर्द्धनम्।
भोगं च वन्धुभिः सार्द्ध दीनानाथार्थिभिस्तथा॥
—कृत्यकल्पतरु, भाग २, पृष्ठ २६१

कि वह धन के समान वितरण के पक्ष में थे और चाहते थे कि उपार्जित किया गया धन समाज में समान रूप से वितरित किया जाय। साथ ही उसका उपभोग उन्हीं वस्तुओं के लिये किया जाय, जो दैनिक जीवन के लिये आवश्यक हो।[1]

अर्थनीति विनिश्चय के सिद्धान्त

समस्त राज्य व्यवस्था के संचालन के लिये बृहस्पति तीन गुणों (मंत्र गुण, अर्थ गुण तथा सहाय गुण) का सम्मिलन आवश्यक मानते हैं। इनसे युक्त राजा को वे गुणवान् की संज्ञा प्रदान करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि 'जनता में जिस राजा की गुणवान् के रूप में प्रसिद्धि है, उसे अन्य लोग निर्गुण कैसे कह सकते हैं।[2] बृहस्पति के कथन से स्पष्ट है कि अर्थ, गुण या आर्थिक नीति का विनिश्चय विशेष महत्वपूर्ण होता था और यही गुण उसके विशेष रूप से गुणों की स्थापना करता था। यदि उसमें अर्थनीति निर्धारण की क्षमता होती थी, तो उसमें गुणहीन कहे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। कर निर्धारण का सिद्धान्त स्पष्ट करते हुए बृहस्पति का स्पष्ट मत है कि देश की परम्परा के अनुरूप प्रजापालन (प्रशासन) होना चाहिये, जिससे आर्थिक स्थिति सुदृढ़ रहे और प्रजा सुखी रह सके।

वित्त व्यवस्था के प्रति जागरुकता

बृहस्पति वित्त व्यवस्था के प्रति विशेष रूप से जागरूक है, क्योंकि वह इस बात को भलीभाँति समझते थे कि अच्छी अर्थव्यवस्था से ही विकासशील समाज की रचना संभव है। वह उच्चस्तरीय प्रशासकोय अनुशासन के पक्षपाती हैं। अतः उनका स्पष्ट कथन है कि जिसका मंत्री ही धनलोलुप हो जाता है, उस राजा के पास धन कहाँ ? उनका कथन है कि शुल्क स्थानों पर अल्प अन्याय भी विनाशकारी होता है। आचार्य बृहस्पति को यह भलीभाँति ज्ञात है कि यह विभाग राष्ट्रीय लाभ का ही नहीं अनुशासन की कमी में व्यक्तिगत लाभ का भी हो सकता है। उन्होंने वित्त विभागीय नियमों की कठोरता से निर्देश और विभागीय अनुशासन की रूपरेखा का निर्माण व्यक्तिगत लाभ उठाने वाले अथवा गबन करने वाले अधिकारियों की रोकथाम

---

१. बहूनां सम्मतो यस्तु दद्यादेको धनंनरः
करण कारयेद्वापि सर्वेरेवकृतं भवेत्
— बृहस्पति स्मृति व्यवहार काण्ड अध्याय १२, श्लोक २२

२. गुणावनिति यः प्रोक्तः ख्यायितोजनसंसदि।
कथं तेनैव बक्रेण निर्गुणः परिकथ्यते ॥
—बृहस्पति स्मृति व्यवहारकाण्ड, १।३६

के लिये किया था।[1]

आय

बृहस्पति राष्ट्रीय विकास के लिये कोशवृद्धि के समर्थक हैं, किन्तु उनका मत है कि कोश का महत्व राजकीय आय के रूप में ही नहीं है, वरन् व्यय के मदों की पूर्ति भी राष्ट्रीय आय पर निर्भर करती है। राज्य की कुशल अर्थनीति के लिये वे राजा तथा राज कर्मचारियों के नैतिक चरित्र का महत्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आय प्राप्ति का मुख्य साधन कर है। विभिन्न मदों से कर के रूप में आय प्राप्त की जाती है।

बृहस्पति ने आय (राष्ट्रीय) का उपभोग उचित मदों पर ही करने की सलाह दी है।[2] उनके अनुसार जो अपने पूर्वजों की सम्पत्ति का उपभोग व्यसनों की तृप्ति के लिये करता है और धन का उपार्जन उचित ढंग से नहीं करता वह निश्चय ही दरिद्र हो जाता है। अर्थ के रूप में मिलने वाले धन को वे राजकीय आय का साधन मानते हैं और उसकी वैधानिकता एवं व्यवहार के समर्थक हैं। उन्होंने धन एवं शुल्क के सम्बन्ध में अनेक नियम बतायें हैं।[3]

करनोति निर्धारण के सिद्धान्त

बृहस्पति ने कर नीति निर्धारण सम्बन्धी अनेक नियमों का प्रतिपादन किया है। वह कर निर्धारण का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य लोकहित मानते हैं, क्योंकि इसी के द्वारा सम्पूर्ण व्यवस्था सुनियंत्रित होती है। राजकीय आय का सबसे बड़ा साधन राजस्व था अतः उसकी वसूली एवं निर्धारण के सम्बन्ध में उनका मत है कि

---

१. तत्रत्विदमुपेक्षांवाया: कश्चित् कुरुतेनरः ।
चतुः सुवर्ण षण्णिष्कास्तस्य दण्डोविधीयते ।।
—बृहस्पति स्मृति व्यवहार काण्ड, अध्याय १०, श्लोक ३०

२. त्रिविधं क्षत्रियस्यापि प्राहुर्वैशेषिकं धनम् ।
युद्धोपलब्धं करतो दण्डाच्च व्यवहारतः ।।
—बृहस्पति स्मृति व्यवहार काण्ड, अध्याय ७, श्लोक ११।

३. देवराजभयाद्यस्तु स्वशक्त्या परिपालयेत् ।
तस्यांशं दशमंदत्वा गृह्णीयुस्तेऽशतोपरम् ।।
शुल्कस्थानं वणिक् प्राप्तः शुल्कं दद्याद्यथोचितम् ।
न तद्व्यभिचरेद्राज्ञां बलिरेष प्रकीर्तितः
—बृहस्पति स्मृति व्यवहार काण्ड, अध्याय १३, श्लोक ११-१२

देश, भूमि, प्रजा एवं समय पर विचार कर लेना चाहिए। उसकी वसूली व्यवस्था के अनुरूप षण्मासिक या वार्षिक होनी चाहिये।[1]

आचार्य बृहस्पति का मत है कि करारोपण शास्त्रविधि के अनुकूल ही होना चाहिये। कर की वसूली का एक मापदन्ड तथा विनिश्चय होना अनिवार्य माना गया है। उनका स्पष्ट मत है कि शुल्क स्थानों अथवा चुंगीघरों पर होने वाले अन्याय का प्रभाव राष्ट्र की प्रतिष्ठा पर पड़ता है।

बृहस्पति धीरे-धीरे कर बढ़ाने के पक्षपाती हैं, ताकि कर के अभाव में कोश भी क्षीण न हो और कर की अधिकता के कारण जनता में उद्वेग भी न हो। उनके अनुसार सेवा जीवी, व्यापारी, क्षत्रिय एवं ब्राह्मणों की आय पर कर की मात्रा पृथक-पृथक होनी चाहिये।[2] उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में कहीं भी विक्रय की वस्तुओं पर कर लगाने के सिद्धान्तों का वर्णन नहीं मिलता।

आय के साधन

उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में राजकीय आय के उपकरणों का एक सूत्रीय एवं विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। फिर भी कुछ तथ्य प्रकाश में आते हैं। आय के साधनों में धन की गणना प्रमुख थी। बृहस्पति तीन प्रकार का धन मानते हैं। (१) शुल्क, (२) शबल, (३) कृष्ण। प्रथम वर्ग में श्रुत, शौर्य, तप, कन्या, शिष्य एवं यान आदि की गणना धन के रूप में की जाती है। द्वितीय के अंतर्गत कुसीद, कृषि, वाणिज्य, शुल्क, शिल्प, उपकार के प्रतिरूप प्राप्त तथा आप्त धन की गणना होती है। तीसरे के अर्न्तगत पाशक, द्यूत, दूतार्थ, प्रतिरूपक, साहस तथा व्याज या धोखे से प्राप्त धन माना जाता है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम प्रकार का धन ब्राह्मण को तथा दूसरे एवं तीसरे प्रकार का धन क्षत्रिय अथवा राजा को प्राप्त होता रहा होगा। धन के अन्य तीन प्रकार

---

१. देशस्थित्या बलिं दद्युर्भूतं षण्मासवार्षिकम्
—बृहस्पति स्मृति, व्यवहार कांड, अध्याय 1 श्लोक ४५

२. राजाऽऽददीत षड्भागं नवमं दशमं तथा
शूद्र विट्क्षत्रजातीनां विप्राद्गृह्णीति विशकम् ॥
—वही, व्यवहार कांड अध्याय 13, श्लोक 16

३. तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं शुल्कं शबलमेवच।
कृष्णं च तत्र विज्ञेयः प्रभेदः सप्तधापुनः
—बृहस्पति स्मृति, व्यवहार काण्ड ७, २-५

क्रमागत प्रीतिदाय तथा भार्या के साथ उपलब्ध होने वाले थे।[1] क्षत्रिय का वैशेषिक धन युद्धोपलब्ध कर के रूप में प्राप्त धन होता था।[2] राजकीय वित व्यवस्था में वैशेषिक धन की भी गणना की जाती थी।

आय के भेद

राजकीय आय की मदों पर ही राज्य के भावी उत्कर्ष तथा उसकी समृद्धि की योजनायें निर्भर करती थीं। आधुनिक युग के आय-व्यय के व्योरे के अन्तर्गत प्राचीन करों के निरूपण की खोज परिस्थितियों के अनुकूल व्यर्थ होगी। समस्त आय को बलि, भाग, शुल्क, पशुभाग, हिरण्यभाग, द्यूत आदि अनेक रूप में प्राचीन आचार्यों द्वारा बांटा गया है। उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में बलि, भाग, शुल्क, द्यूत तथा निधि का प्रयोग मिलता है।[3] बृहस्पति के अनुसार तत्कालीन, बलि, भाग, शुल्क आदि का विस्तृत विवेचन इस प्रकार से किया गया है।

बलि

बलि शब्द का अभिप्राय यज्ञों में देवताओं को दी जाने वाली भेंट से है।

---

१. क्रमागतं प्रीतिदायं प्राप्तं च सह भार्यया।
अविशेषेण सर्वेषां वर्णनां त्रिविधंस्मृतम्॥

—वही, व्यवहार काण्ड, ७/८

२. त्रिविधं क्षत्रियस्यापि प्राहुर्वैशेषिकंधनम्।
युद्धोपलब्धं कुतरतो दण्डाच्चव्यवहारतः॥

—वही, व्य० का० ७, ११

३. दशाष्टषष्ठं नृपतेर्भागं दद्यात्कृषीवलम्।
खिलार्द्धषा वसन्तांच्च कृष्यमाणाद्यताक्रमम्॥
देशस्थित्या बलि दद्युर्भूतं षण्मासवार्षिकम्।
एष धर्मः समाख्यातः कीनाशानां पुरातनः॥

—बृहस्पति स्मृति व्यवहार काण्ड, अध्याय १, श्लोक ४३-४४

श्रुत शौर्य तपः कन्या शिष्य याज्यान्वयागतम
धनं सप्त विधं शुल्कमुभयो ह्यस्य तद्विधः
कुसीद कृषि वाणिज्य शुल्क शिल्पानुवृत्तिभिः
कृतोपकारदाप्तं च शबलं समुदाहृतम्॥
पाशकद्यूत दूतार्थ प्रति रूपक साहसैः
व्याजेनोपार्जित यच्च तत्कृष्ण समुदाहृतम्॥

—वही, अध्याय ७ श्लोक ३, ४, ५

इसके अतिरिक्त शत्रु से अपने जनों की रक्षा, अथवा शत्रु को पराजित करने के उद्देश्य से दिया जाने वाला धन भी बलि के रूप में माना गया है। बृहस्पति तथा अन्य अर्थ एवं धर्मशास्त्र के आचार्यों ने समान रूप से इस शब्द का प्रयोग राजा को अपने कर्तव्य पालन के पुरस्कार स्वरूप मिलने वाले धन के रूप में किया है। अपने कर्तव्यों के उचित पालन के फलस्वरूप षड् भाग का अधिकारी राजा माना गया है। बृहस्पति का स्पष्ट कथन है कि उचित प्रकार से रक्षा करने के कारण राजा को लोगों के यज्ञ, यजन, अध्ययन एवं पुण्यों का छठा अंश प्राप्त होता है।[१]

भाग

बृहस्पति भाग की वसूलो में देश स्थिति, (वर्षा, उपज तथा अन्य कृषि सम्बन्धी विचारों) किसानों के परम्परागत नियमों तथा मान्यताओं को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। बृहस्पति कृषि भूमि तथा ऋतु के अनुरूप उपज का राजकीय भाग वसूल करने के पक्षपाती थे। उनका कथन है कि कृषि बल अर्थात् कृषि पर जीविका निर्वाह करने वाले किसान खिल वर्षा और वसन्त की उपज का क्रमशः १।१०, १।८ तथा १।६ भाग राजा को दें। इसके विषय में भी उनका मत है कि देश स्थित के अनुरूप छठे महीने या वार्षिक भाग देना चाहिए।[२]

शुल्क

बार्हस्पत्य वर्णनों में शुल्क विभाग के प्रशासन सम्बन्धी विवरण उपलब्ध नहीं होते, फिर भी प्राप्त अंशों के आधार पर थोड़ा बहुत विवरण अवश्य प्राप्त होता है। बृहस्पति का उद्देश्य व्यापार की राजकीय मान्यता का छान-बीन करता था, व्यापार का अवरोध नहीं। शुल्क के विषय में उनका विचार है कि शुल्क स्थान पर पहुँच कर, वणिक् को यथोचित शुल्क देना चाहिए, क्योंकि वह राजा का अधिकार है, जहाँ अपनी शक्ति द्वारा तस्करी से रक्षा की जाय वहाँ पर राजा का १०वाँ अंश दिया जाना चाहिए।[३]

---

१. यदधीते यद्यजते यज्जुहोति यदर्चति।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात्।
—बृहस्पति स्मृति, व्यवहार काण्ड, अध्याय १, श्लोक ४१

२. दशाष्ट षष्ठं नृपतेर्भागं दद्यात्कृषीवलम्।
खिलाद्वर्षावसन्ताच्च कृष्यमाणाद्यथाक्रमम्।
—वही, अध्याय १, श्लोक ४३

३. शुल्क स्थानं वणिक् प्राप्तं शुल्कं दद्यात्यथोचितम्।
न तद्वयभिचरेद्राज्ञा बलिरेष प्रकीर्तितः ॥
नैव तस्कर राजाग्निव्यसने समुपस्थिते।
यस्तु स्वशक्त्या रक्षेत्: तस्यांशो दशमः स्मृतः
—बृहस्पति स्मृति, व्यवहार काण्ड, अध्याय १३ श्लोक १२-१३

बृहस्पति, वाणिज्य के अतिरिक्त कुसीद तथा शिल्पियों से प्राप्त होने वाले धन की भी गणना करते हैं।[1]

मृतक सम्पत्ति कर

बृहस्पति आय के साधनों में मृत व्यापारियों के धन से मिलने वाले लाभ का भी उल्लेख करते हैं। उनके मतानुसार मृत व्यक्ति के भांड या सामग्री का निरीक्षण राजपुरुष (राजकीय अधिकारियों) का कार्य है। यदि उस व्यक्ति का कोई उत्तराधिकारी होता है और अन्य लोगों से वह अपनी स्थिति प्रमाणित करवा लेता है, तो अपने वर्ण के अनुकूल राजकीय अंश देकर उसे प्राप्त कर सकता है।[2] राजा का अंश बृहस्पति शूद्र के धन से १।६ भाग, वैश्य के धन से १।८ भाग, क्षत्रिय के धन से १।१० भाग तथा ब्राह्मणों के धन से १।२० भाग मानते हैं।

अन्य कर

बृहस्पति अक्ष तथा समहृव्य तस्कर वृत्ति कर, दंड, युद्ध, कुसीद निधि, गणिका आदि से प्राप्त होने वाली आय को भी राजकीय आय का स्रोत मानते हैं।

ब्याज

ब्याज के सम्बन्ध में आचार्य बृहस्पति के भी वही विचार हैं, जो पूर्व के आचार्यों के थे। उन्होंने भी चक्रवृद्धि ब्याज की दर पर वसूली करने के नियम बताये हैं।[3]

---

१. कुसीद कृषि वाणिज्य शुल्क शिल्पानुवृत्तिभिः
……शबल समुदाहृतम्।
—वही, व्यवहार काण्ड, अध्याय ७, श्लोक ४

२. यदा यत्र वाणिक्कश्चित्प्रमीयेत प्रमादतः।
तस्य भांड दर्शनीयं नियुक्तै राजपुरुषैः
यदा कश्चित्समागच्छेत्तदा रिक्थहारोनरः।
स्वाम्यं विभावेदन्यैः सतदा लब्धुमर्हति।
—बृहस्पति स्मृति व्यवहार काण्ड, अध्याय १३, श्लोक १४-१५

३. यद् द्विगुणादर्द्धं चक्रवृद्धिश्च गृह्यते।
मूलं च सोदयंपश्चाद्वाद्ध्रुवं तद्विगर्हितम्॥
—कृत्यकल्पतरु भाग २, पृष्ठ २८६

आशीतिभागो वर्धते आशीतिः साष्टभागः शतस्यके।
प्रयुक्तं सप्तभिर्वर्षैस्त्रिभागोनेन संक्षयः
—वही, पृ० २१८

व्यय की मदें

बार्हस्पत्य अंशों में व्यय की मदों का भी कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जिस प्रकार के नियम बृहस्पति ने कोश वृद्धि के उपादानों के लिये प्रस्तुत किये

बह्वो वर्तनोपाया ऋषिभिः परिकीर्तितः
सर्वेषामिपि चैतेषां कुसीदमधिकं विदुः ॥
अनावृष्ट्या राजभयान्मूषिकाद्यैरुपद्रवैः।
कृष्यादिके भवेद्धानिः सा कुसीदेन विद्यते ।
शुक्ल पक्षे तथा कृष्णे रजन्या दिवसेऽपिवा
उष्णे वर्षे निशीथे वा वर्द्धनं न निवर्तते ॥
दिशं गतानां या वृद्धिर्नापण्योप जीविनाम् ।
कुसीदं कुर्वतः सम्यक्साऽस्मिन् तस्यैव जायते ॥

—वही पृ० २२१

आसीत भागो वृद्धिः स्यान्मासि मासिसबन्धके ।
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुः पंश्चकमन्यथा ॥

—बृहस्पति स्मृति व्यवहार काण्ड, अध्याय १, श्लोक ४

वृद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता पञ्चधाऽन्यैः प्रकीर्तिता ।
षड्विधाऽन्यैः समाख्याता तत्वतस्तान्निबोधत् ।
कायिका कालिका चैव चक्रवृद्धि रतोऽपरा
कारिता च शिखा वृद्धिर्भोगलाभस्तथैव च
कायिका कर्म संयुक्तामासाद्ग्राह्या वा कालिका ।
वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः कारिता ऋणिना कृता ॥

—वही, अध्याय १, श्लोक ८,९,१०

हिरण्ये द्विगुणा वृद्धिस्त्रिगुणावस्त्रकूप्यके ।
धान्ये चतुर्गुणा प्रोक्ता सदवाह्यलवेषु च

—कृत्यकल्पतरु—भाग २, पृष्ठ २८८ (बृहस्पति १०-१७)

भुक्ते चासारतां प्राप्ते मूलहानिः प्रजायते
बहुमूल्यं यत्रनष्ट मृणिकं तत्रतोषयेद् ॥

—वही, पृष्ठ २८४ (बृहस्पति १०-४६)

परहस्ताद् गृहीतं यत्कुसीदं विधिनाऋणम् ।
येन यत्र यथा देयं नदेयं वोच्यतेऽधुना ॥

—वही, पृष्ठ ३०८ (बृहस्पपि १०-१०२)

हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के अनुरूप कोश वृद्धि बृहस्पति का आदर्श था। वास्तव में राजकीय व्यय प्रजारक्षण के निमित्त, युद्धनिर्णय, रक्षण, राष्ट्रीय प्रशासन मंत्रिमंडल, विभिन्न अधिकारियों के वेतन, राजकीय परिवर्धन की योजनाओं तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में व्यय किया जाता रहा है।

आचार्य बृहस्पति अर्थशास्त्र के प्रणेता माने जाते हैं। इनके विचारों तथा नीतियों में वैज्ञानिकत्व की झलक प्राप्त होती है। यही नहीं, विचारों के तर्क वितर्क में अनेक महत्वपूर्ण आर्थिक पहलुओं का उद्घाटन होता है। आगे चलकर प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इनके विचारों एवं तर्कों को प्रश्रय दिया है। उनके अधिकांश विचारों को आगे बढ़ाया है, उन्हें विस्तार दिया है, व्यापकता प्रदान की है।

कामन्दक

कामन्दक

आचार्य कामन्दक एवं बृहस्पति दोनों नीति विषयक आचार्य माने गये हैं। दोनों ने प्राचीन वेदों में वर्णित सारवस्तु को नीति के रूप में परिवर्तित करके तत्कालीन समाज का मार्ग प्रशस्त किया है। नीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उपर्युक्त दोनों विद्वानों ने आर्थिक विचारों का भी यथावत् निरूपण किया है। इन्होंने आर्थिक विचारों को जन्म ही नहीं दिया, बल्कि समाज में उन्हें कार्य रूप में परिणित करने के लिए अनुशासन भी दिया।

राजा तथा राज्य

राज्य की उत्पत्ति तथा राजा के उदय के सम्बन्ध में आचार्य कामन्दक के क्या विचार हैं, इसका उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि आर्थिक तंत्र का एक मात्र आधार राजा और राज्य ही होता है। कामन्दक का कहना है कि किसी भी सत्ता को समुचित ढंग से चलाने के लिये राजा की महती आवश्यकता है। यदि राज्य के भार को वहन करने वाला राजा उपस्थित नहीं है, तो प्रजा की स्थिति अत्यधिक दयनीय हो जाती है। उसके अनुसार वार्ता अर्थात् अर्थशास्त्र पर आधारित सारी प्रजा योग्य राजा के न होने पर हतप्रभ हो जाती है और धीरे-धीरे राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।[1]

---

१. राजाऽस्य जगतो हेतुर्वृद्धेर्वृद्धाभिसम्मतः ॥
नयनानन्द जननः शशांक इवतोयधेः ॥

\+ \+ \+

आपत्तं रक्षणं राज्ञि वार्तारक्षण माश्रिता।
वार्ताच्छेदे हि लोकोऽयं श्वसन्नपि न जीवति ॥
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यतेनतु भूपतौ
प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्धयति पार्थिवम्—॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग १, श्लोक ८-१४

राज्यांगानां तुसर्वेषां राष्ट्राद् भवति सम्भवः।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन राजा राष्ट्रं समुन्नयेत् ॥

—कामन्दकीय नीतिसार सर्ग ६—श्लोक ३

राजा और धर्म

कामन्दक ने राजा को ही धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की समृद्धि का अधिकारी और वाहक बताया है। उनका कहना है कि धर्म का पालन करता हुआ राजा अधिक समय तक पृथ्वी का पालन कर सकता है। परन्तु जो राजा धर्म का परित्याग कर प्रजा को कष्ट देता है, उसका सम्पूर्ण अस्तित्व समाप्त हो जाता है। धर्म से ही राज्य की वृद्धि होती है और उससे राष्ट्र, दुर्ग, कोश एवं बल की प्राप्ति होती है।[१]

धर्म, अर्थ तथा काम का सम्बन्ध

प्रत्येक व्यक्ति के लिये धर्म, अर्थ एवं काम का परिज्ञान आवश्यक था। कामन्दक ने उपरोक्त तीनों के प्रति नियम बताये हैं। उनका कहना है कि धर्म से अर्थ की प्राप्ति होती है और अर्थ से काम की। अतएव धर्म के पालन पर विशेष बल दिया गया है।[२] आचार्य कामन्दक के उपर्युक्त विचारों से पता चलता है कि धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र दोनों को उन्होंने प्रमुखता दी है। सम्यक् विधि से इन दोनों का पालन करने पर ही सुख की प्राप्ति बतायी गई है।

विद्या

अर्थशास्त्र या किसी भी शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिये प्राचीन विद्याओं की जानकारी प्राप्त करना अति आवश्यक है। आचार्य कामन्दक ने विद्या तथा उसके महत्व का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति विद्या के ये प्रकार बताये हैं।[3] इन्होंने दण्डनीति को अधिक महत्व प्रदान किया है। ये समस्त विद्यायें सामाजिक क्रियाओं पर आधारित हैं।

---

१. धर्माद् वैजवनो राजा चिराय बुभुजे महीम्।
अधर्मञ्चैव नहुषः प्रतिपेदे रसातलम्॥
तस्माद् धर्म पुरस्कृत्य यतेतार्थाय भूपतिः।
धर्मेण वर्द्धते राज्यं तस्य स्वादुफलं श्रियः।

—कामन्दकीय नीतिसार-सर्ग १ श्लोक १६, १७

२. धर्मादथोऽर्थतः कामः कामातसुखफलोदयः।
आत्मानं हन्ति तौ हत्वा युक्त्वा यो न निषेवते॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग १, श्लोक ४१ (४८)

३. अन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिं च पार्थिवः
तद्विधैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद् विनयान्वितः॥
अन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
विद्याश्चतस्त्र एवेता लोक संस्थिति हेतवः

वर्ण

कामन्दक ने भी समस्त आर्थिक क्रियाओं का विभाजन वर्ण व्यवस्था के आधार पर किया है। बाह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र इन चारों वर्णों के अलग-अलग कर्म बताये गए हैं।[१] वास्तव में वर्ण विभाजन श्रम विभाजन का प्रारम्भिक स्वरूप रहा है। इससे समाज की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में पर्याप्त सहायता मिलती थी।

वर्णाश्रम

वर्णों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म के नियमों का भी विवेचन कामन्दक ने किया है।[२] अर्थोपार्जन की दृष्टि से चार आश्रमों को जन्म देना अति आवश्यक था। निर्देश था कि ब्रह्मचारी, भिक्षावृत्ति से, गृहस्थ कृषि-अध्ययन-अध्यापनादि क्रियाओं से (वर्णानुसार) सन्यासी भिक्षावृत्ति आदि से अर्थोपार्जन करे। प्रत्येक के जीविकोपार्जन के नियम अलग-अलग बनाये गये थे। इन सभी आश्रमों से गृहस्थ आश्रम को अत्यधिक श्रेष्ठ माना गया है।

वार्ता

वार्ता का प्रारम्भ से अधिक महत्व बताया गया है। हिरण्य, वस्त्र, धान्य, वाहन आदि अनेक प्रकार की उत्पादक वस्तुएं वार्ताशास्त्र के अन्तर्गत आती हैं।

त्रयी वार्ता दण्नीतिरिति विद्या हि मानवाः।
त्रय्या एव विभागोऽयं येयमान्वीक्षिकी मता॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग २, श्लोक १, २, ३

१. याजनाध्यापने शुद्धे विशुद्धांश्च प्रतिग्रहः
वृत्तित्रयमिदं प्रोक्तं मुनिभिर्ज्येष्ठवर्णिनः॥
शस्त्रेणा जीविनं राज्ञो भूतानां चाभिरक्षणं।
पाशुपाल्यं कृषिः पण्यं वैश्यस्याजीवनं स्मृतम्।
शूद्रस्य धर्मः शुश्रुषा द्विजानामनुपूर्वशः।
शुद्रा च धर्मः वृत्तिस्तत्सेवा कारु चारण कर्मच॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग २, श्लोक १८, २१

२. वर्णाश्रमाचार युतो वर्णाश्रमविभागवित।
पातावर्णाश्रमाणां चपार्थिवः स्वर्गलोकभाक्॥

—कामन्दकीय नीतिसार सर्ग २ श्लोक ३५

वार्ता का प्रजापालन में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। कामन्दक का कहना है कि वार्ता के बिना प्रजा का पालन कदापि संभव नहीं है।[1]

अर्थ का प्रयोजन

कामन्दक ने अर्थ के संग्रह का ही नाम कोश बताया है। उनके अनुसार राज्य की सारी क्रियायें कोश पर अर्थात् अर्थ पर ही निर्भर करती हैं। धार्मिक कार्यों के लिये, सेवकों (श्रमिकों, कर्मचारियों) आदि के पालन-पोषण हेतु धन की आवश्यकता बताई गई है।[2] आपत्तिकाल में राष्ट्र का वही धन काम आता है; जो पहले से कोश के रूप में सुरक्षित रख दिया जाता है। धन की सबसे बड़ी आवश्यकता सैन्य संचालन में होती है, क्योंकि आन्तरिक एव वाह्य दोनों प्रकार की सुरक्षा के लिये सेना की आवश्यकता पड़ती है।

अर्थ या धन की महत्ता

कामन्दक ने अर्थ की महत्ता बताते हुए कहा है कि धन का ही समाज में सम्मान किया जाता है। इसके अभाव में चाहे कितना विद्वान व्यक्ति क्यों न हो उसका तिरस्कार कर दिया जाता है। राजा को यह निर्देश दिया गया है कि जो जीविका का साधन खोजने तथा किसी कार्य को सम्पन्न करने में असमर्थ है, उसका पालन पोषण राजा को करना चाहिए। कामन्दक का कहना है कि जो व्यक्ति अर्थ का इच्छुक है तथा उसके लिये प्रयत्नशील रहता है उसी का जन्म लेना सार्थक है। राजा को चाहिए कि प्रत्येक वर्ग तथा उसकी वृत्ति के अनुसार कार्य का बंटवारा करे। काल, स्थान, पात्र आदि का सम्यक् विचार कर यह समाज के हर व्यक्ति के लिये अर्थोपार्जन की व्यवस्था करे।[3]

---

१. वार्ता प्रजाः साधयति वार्ता वै लोक संश्रयः।
प्रजायां व्यसनस्थायां न किंचिदपि सिध्यति॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग १३, २७.

२. मुक्ताकनक रत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः।
धर्मार्जितो व्यय सहः कोश कोशज्ञ सम्मतः।
धर्म हेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च।
आपदर्थं च संरक्ष्यः कोष कोषवता सदा॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ये, श्लोक ६१-६२.

३. अर्थार्थी जीव लोकोयंज्वलन्तमुपसर्पति
क्षीण क्षीरां निराबीव्यो वत्सस्त्यजति मातरम्।

भूमि

आचार्य कामन्दक ने भूमि को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। उनका कहना है कि यदि भूमि अच्छी है, तो राष्ट्र भी अच्छा होगा, क्योंकि भूमि के विकास पर ही राष्ट्र का विकास निर्भर करता है। भूमि के द्वारा ही फसलें, खानें, रत्नादि धातुओं की प्राप्ति होती है। इसी से वनों में विभिन्न प्रकार की औषधियाँ तथा वृक्षों से प्राप्त आय राष्ट्र को संपन्नता और समृद्धि की ओर बढ़ाती है।[१]

इन विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि कामन्दक भूमि को अधिक से अधिक उर्वरा बनाने, उसके अर्न्तहित तत्वों की खोज करने के पक्ष में थे। उनको यह दृढ़ विश्वास था कि राष्ट्रीय आय का एक मात्र साधन भूमि ही है।

आय प्राप्ति के साधन

अपने पूर्व के आचार्यों की ही भाँति कामन्दक ने भी राष्ट्रीय सम्वर्द्धन हेतु आय के साधन बताये हैं। उनका कहना है कि शूद्र, शिल्पकार, वैश्य, धार्मिक, धनी आदि सभी वर्णों के लोगों को राष्ट्र के लिये धन अर्थात् अपने उत्पादन का कुछ भाग देना चाहिए।[२] यहाँ पर उत्पादन का कुछ भाग देने से तात्पर्य कर से है। उपर्युक्त

अहापयन नृपः कालं भृत्यानामनुवर्तिनाम् ॥
कर्मणा मनुरुप्येण वृत्ति समनुकल्पयेत् ॥
काले स्थाने च पात्रे च न हि वृत्ति विलोपयेत् ।
एतद् वृत्ति विलोपेन राजाभवति गर्हितः ।

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ५, श्लोक ६२, ६३, ६४

१. भूगुणैर्वद्धते राष्ट्रं तद् वृद्धिर्नृपवृद्धये ।
तस्माद् गुणवतीं भूमिं भूत्यैनृपतिरावसेत्
सस्या करवती पण्यखनिद्रव्य समन्विता
गोहिता भूरि सलिला पुण्यैर्जनपदैवृता ।
सकुञ्जरवना रम्या वारि स्थलपथोचिता ।
अदेव मातृका चेति शस्यते भूविभूतये ।

—वही ४, ४८-५०

२. स्वाजीवो भूगुणैयुक्तः सानूपः पर्वताश्रयः ।
शूद्र कारुवणिकप्रायो महारम्भ कृषीवलः ॥
सानुरागो रिपुद्वेषी पीडा करसहः प्रथुः ।
नानादेश्ये समाकीर्णो धार्मिकः पशुमानधनी ॥

सभी जातियों से राजा कर के रूप में आय प्राप्त करता था और उसी से अपने कोश की वृद्धि करता था। समय-समय पर दण्ड आदि देने से जिस धन की प्राप्ति थी, उसे भी राज्य कार्यों में ही लगाया जाता था। कामन्दक ने कोश एवं दुर्ग को अत्यधिक प्रमुखता प्रदान की है, क्योंकि ये दोनों ही राज्य के प्रमुख अंग हैं, इनके क्षीण होने पर सत्ता का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।[1]

आय-व्यय सम्बन्धी नियम

सामान्यतः कामन्दक ने व्यष्टिगत एवं समष्टिगत दोनों प्रकार से आर्थिक विचारों का निरूपण किया है। व्यक्तिगत आय को किस प्रकार एकत्रित करना चाहिए और किन-किन मदों में उसका प्रयोग किया जाय, इसका विस्तृत विवरण आचार्य कामन्दक ने प्रस्तुत किया है। दैनिक उपभोग में आने वाली वस्तुओं के लिये कोष्ठागार निर्मित किया जाता था। कितना धन संग्रह किया जाय और किस प्रकार उसका व्यय हो, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। विचारकों का यहाँ तक मत है कि कोष्ठागार के बिना व्यक्ति एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसमें संचित धन को न तो अत्यधिक व्यय करना चाहिए और न अधिक संचय के नियम बताये गये हैं।[2]

श्रमजीवी

कामन्दकीय नीतिसार में अपनी जीविका चलाने वाले श्रमजीवी अर्थात् श्रमिकों के धनोपार्जन सम्बन्धी नियम बताये गये हैं। कामन्दक का कहना है कि जो कर्मशीलता को प्रधान मान कर जीविकोपार्जन करते हैं उनकी वृत्ति ही श्रेष्ठ कही गयी है। इसके विपरीत वृत्ति करने वाले श्रमिकों की वृत्ति श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती। कामन्दक ने भी कुशल एवं अकुशल दो प्रकार के जीविकोपार्जन करने वालों का उल्लेख किया है। वस्तुतः श्रमजीवी वर्ग नाना प्रकार के उद्योगों में लगा रहता

ईदृग् जनपदः शस्तो मूर्खव्यसनिनायकः।
तं वर्द्धयेत् प्रयत्नेन तस्मात् सर्व प्रयत्नतः॥

—कामन्दकीय सर्ग ४. ५२-५४

१. जलवद धान्य धनवद् दुर्ग काल सहं महत्।
दुर्गहीनो नरपतिर्वाताभ्रावयवैः समः॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ४, श्लोक ५६

२. कोष्ठागारेऽभियुक्तः स्यात् तदायतं हि जीवितम्।
नात्यायं च व्ययं कुर्यात् प्रत्यवेक्षेत चान्वहम्॥

—वही ८, ५, ७६

था। वह विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन कर उसे राष्ट्रीय आय का साधन बनाता और स्वयं अपनी जीविका चलाता था। कामन्दकीय नीतिसार में भिन्न-भिन्न स्थानों में इसका संकेत मिलता है।

कुशल श्रमिक

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है कि विभिन्न कार्यों में अनेक प्रकार के कुशल श्रमिक लगे रहते थे। वे पृथक-पृथक ढंग से अनेक व्यवसायों से अपनी जीविका चलाते थे। किरात, भिक्षु, दास, पाकहार आदि अनेक कुशल श्रमिक कार्य के बदले में प्राप्त मजदूरी से ही अपने परिवार का भरण पोषण करते थे। कामन्दक ने अनेक प्रकार के श्रमिकों का उल्लेख करते हुये तत्सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया है। इसी प्रसङ्ग में एक स्थल पर उन्होंने राजसेवा के योग्य व्यक्तियों का विवरण देते हुए उसके (राजसेवक के) विशिष्ट गुणों का संकेत दिया है।[1] एक अन्य प्रसंग में कामन्दक ने सेवकों के प्रति राजा के कर्त्तव्यों का विवरण भी दिया है।[2]

करारोपण

कामन्दक ने करारोपण के बारे में बताया है कि प्रजा से उचित काल तथा उचित ढंग से ही राजा को कर लेना चाहिए। जिस प्रकार से गाय का पालन किया जाता है और समय आने पर ही उसका दूध दुहा जाता है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा के साथ बरताव करना चाहिए। जिस प्रकार पौधों को सींच-सींच कर बड़ा किया जाता है किन्तु उनसे फल प्राप्ति की कामना समय पर ही की जाती है। उसी प्रकार राजा से भी अपेक्षा की गई है।[3]

---

१. आरिराधयिषुः सम्यगनुजीवी, महीपतिम्।
विद्याविनयशिल्पाद्यैरात्मान् मुपपादयेत्
कुल विद्या श्रुतौदार्य शिल्प विक्रम धैर्यवान्।
वपुस्सत्वबलारोग्यस्थैर्यशौचदयान्वितः॥
—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ५, श्लोक १२-१३

२. भूता भूत परिज्ञानं कृता कृत परीक्षणम्।
तुष्टातुष्टविचारश्च सर्वेषामनुजीविनम्॥
—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग १३, श्लोक ४८

काले स्थाने च पात्रे च नहि वृत्ति विलोपयेत्।
एतद् वृत्ति विलोपेन राजाभवतिगर्हितः
—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ५, श्लोक ६४

३. यथा गौ पाल्यते काले दुह्यते च तथा प्रजा।
सिच्यते चीयते चैव लतापुष्प प्रदा यथा॥

कोश की आवश्यकता

कामन्दक ने कोश को राज्य के लिये अत्यधिक सम्पन्न होना आवश्यक बताया है। आचार्य का यह निर्देश है कि राजा को आय प्राप्त कर कोश की वृद्धि करनी चाहिए, किन्तु उसका व्यय उचित समय पर ही हो। परन्तु कोश का व्यय यदि धर्मार्थ किया जाता है तो वह व्यय सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।[1] श्रमिकों के भरण-पोषण, दान, आवागमन की सवारियों में व्यय, सैन्य सम्बन्धी कार्य तथा आपत्ति आदि के समय कोश ही राज्य का प्रमुख अंग होता है। राजा की यह जिम्मे-दारी होती कि वह कोश में इतना धन रखे, जिससे कि श्रमिकों को उचित वेतन देने के बाद अन्य क्रियाओं को भी संपन्न कर सके।[2]

साहस

अर्थशास्त्र में उत्पादन के साधनों में साहस को भी एक साधन माना गया है। कामन्दकीय नीति सार में इसी साहस को उत्साह के रूप में वर्णित किया गया है। किसी भी वस्तु के उत्पादन में साहस की आवश्यकता पड़ती है। कामन्दक का मत है कि उत्साह से ही बुद्धि उत्पन्न होती है और बुद्धि पूर्वक किये गये उद्योग में

साम्रावये दुपचितानि साधु दुष्ट व्रणानिव
आयुक्तास्ते च वर्तेरन्नग्नाविव महीपतौ

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ५, श्लोक ८३-८४

१. संवर्धयेत् तथा कोशमाप्तैस्तज्ज्ञैरधितिष्ठतम्।
कालेचास्य व्ययं कुर्यात् त्रिवर्ग प्रतिपत्तये॥
धर्मार्थं क्षीणं कोशस्य कृशत्वमपि शोभते।
सुरैः पीतावशेषस्य शरद्धिमरुचेरिव॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग ५, श्लोक ८६-८७

२. भृत्यानां भरणंदान भूषणं वाहन क्रियाः
स्थैर्य परोपजायश्च दुर्गसंस्कार एव च॥
सेतु बन्धो वणिक्कर्म प्रजामिव परिग्रहः।
धर्म कामार्थ सिद्धिश्च कोशादेतत् प्रवर्तते॥

—कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग १३ श्लोक ३१-३२

निश्चय ही फल की प्राप्ति होती है।[1] अर्थात् धन की प्राप्ति के लिये साहस का होना आवश्यक है।

कामन्दक आचार्य बृहस्पति के अनुयायी थे। अतएव इनके विचारों में पूर्व के आचार्यों के विचारों से विशेष अन्तर नहीं आया है। इन्होंने भी वार्ता को प्रमुख स्थान दिया है और इनका अभिमत रहा है कि वार्ता के बिना राज्य का संचालन कदापि संभव नहीं हैं। कामन्दक ने आर्थिक विचारों के साथ-साथ नीति विषयक विचारों पर विशेष बल दिया है। वास्तविकता यह है कि आचार्य कामन्दक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों को और भी अधिक विकसित किया तथा उन्हें व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया।

———

१. बुद्धिप्रयत्नोपगताद् व्यवसायाद् ध्रुवं फलम्।
धीमान् उत्साह सम्पन्नोऽध्यवसाय समन्वितः
भाजनं परमं श्रीणामपामिव महार्णवः॥
—कामन्दकीय नीतिसार सर्ग १२, श्लोक ३, ४

कौटिल्य

कौटिल्य

संक्षिप्त परिचय

आचार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रणेता माने गये हैं। कौटिल्य, चाणक्य, विष्णु-गुप्त आदि अनेक नामों से इनका उल्लेख किया गया है। नन्दवंश का उन्मूलन कर चन्द्रगुप्त को प्रतिष्ठित कर मौर्य राजवंश के स्थापना करने वाले आचार्य कौटिल्य ने समकालीन आर्थिक समस्याओं और अर्थव्यवस्था पर जितना अधिक मनन-चिन्तन किया उतना किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया। कौटिल्य ने आर्थिक नियमों के प्रतिपादन में जिन तर्कों का प्रयोग और उल्लेख किया है, वे आज की परिस्थितियों में भी लागू किये जा सकते हैं। कौटिल्य ने अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ आधारभूत सिद्धान्त स्थापित किए और इन सिद्धान्तों को अर्थव्यवस्था में लागू करके उन्हें प्रति-फलित भी किया। इसी कारण आचार्य कौटिल्य की व्यवस्था शासन एवं समाज में समान रूप से व्यवहृत हुई और समाज ने उनका पालन करके अपना हित साधन भी किया।

विद्या

कौटिल्य के पूर्व ही विद्याओं का विभाजन कर आर्थिक विकास के क्षेत्र को अलग बना दिया गया था। कौटिल्य ने भी त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षकी तथा दण्डनीति इन चार विद्याओं को प्रधानता दी है। जबकि कौटिल्य से पूर्व आचार्य मनु तथा उनके अनुयायियों ने तीन ही विद्यायें मानी थीं। आन्वीक्षिकी को उन्होंने त्रयी के अन्तर्गत ही माना था, उससे पृथक नहीं। बृहस्पति के अनुयायिओं ने दो ही विद्याओं को प्रधानता दी थी, वार्ता और दण्डनीति। वार्ताशास्त्र के अन्तर्गत कौटिल्य ने कृषि, पशुपालन और व्यापार को प्रधानता दी थी। उन्होंने वार्ता के अन्तर्गत धान्य, पशु, हिरण्य, ताँबा आदि प्रकार की धातुओं, भृत्यों की वृत्ति तथा राज्य व्यवस्था का भी उल्लेख किया था किंतु शुक्र ने केवल दण्डनीति को ही श्रेष्ठ विद्या माना था। कौटिल्य ने समान रूप से चारों विद्याओं को महत्व दिया है। उपर्युक्त चारों विद्याओं का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी बताया गया है।[1]

---

1. अन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।
   त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः। त्रयी विशेषो
   ह्यान्वीक्षकीति वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः।

अर्थशास्त्र

'पृथिव्याः लाभपालनोपायशास्त्रमर्थशास्त्रम्' अर्थात् अर्थशास्त्र का सीधा सम्बन्ध जीवन से है। क्योंकि सम्पत्ति की मूल पृथिवी का लाभ और पालन के उपायों का विवेचन इस शास्त्र में होता हो। यह जीवन की व्यवहारिक तथा आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करने का उपाय बताता है। उपर्युक्त कथन के आधार पर ही आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की परिभाषायें दी हैं। कौटिल्य ने धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों को समान महत्व दिया है। उनकी मान्यता है कि इनमें अन्यतम का सेवन करने से शेष दो वांछित होते हैं और उसके फलस्वरूप मनुष्य दुःखी होता है।[१]

आचार्य कौटिल्य के समय में अर्थशास्त्र वेद-वेदांगों का एक महत्वपूर्ण अंग था। धर्मशास्त्र की उपयोगिता को अभिव्यक्त करने की उसमें पूर्ण क्षमता थी। उस समय धर्मशास्त्र समाज का एक अभिन्न अंग था। पुराणों को समाज के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इनमें धार्मिक क्रियाओं के अतिरिक्त व्यापार, उदरपूर्ति आदि के सम्बन्ध में काफी अच्छा विवेचन किया गया है। इसलिये उन्हें अर्थशास्त्र की परिधि से पृथक नहीं किया जा सकता।

कौटिल्य ने अर्थ, धर्म, काम के ही आधार पर मानव जीवन को विभक्त किया और इन तीनों में से उन्होंने अर्थ को प्रधानता दी। क्योंकि बिना अर्थ के किसी भी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं हो सकती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में धर्म तथा अर्थ दोनों क्रियायें अर्थ पर निर्भर बताई गई हैं।[२] स्मरणीय है कि कुछ विचारक अर्थ को प्रधानता देते हैं तो दूसरे 'धर्म' को प्रमुखता देते हैं। किन्तु यह प्रश्न वेद काल से ही विवादग्रस्त रहा है। महाकाव्य-याज्ञवल्क्य, मनु, कौटिल्य, व्यास आदि

संवरण मात्र' हि त्रयी लोक यात्राविद इति। दन्डनीति
रेका विद्येत्यौशनसाः। तस्यांहि सर्वविद्यारम्भाः
प्रतिबद्धा इति। चतस्त्र एव विद्या इति कौटिल्यः।
ताभिधर्मार्थौ यद्विद्यान्तद्विधानां विद्यात्वम्।

—कौटिलीय अर्थशास्त्रम् अध्याय २ प्रकरण १ श्लोक १-५-८

१. न निः सुखः स्यात्॥ समं वा त्रिवर्ग मन्योन्यनुबन्धम्॥
एकोह्यत्या सेवितोधर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीड़यति॥

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अध्याय ७ अधिकरण १-७-८

२. अर्थ एवं प्रधानः अर्थ मूलो हि धर्म कामाविति।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अध्याय ७ अधिकरण १।१०,११

सभी प्रमुख विचारकों ने अर्थशास्त्र पर चिन्तन करते समय अर्थ को ही सर्वोपरि प्रतिष्ठित करते हुये अपने-अपने मतों को अभिव्यक्त किया है।

परिभाषा

सामान्य तौर पर आचार्य कौटिल्य ने अर्थ तथा अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार से बताई है "मनुष्यों के व्यवहार या जीविका को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि का नाम ही अर्थ है। इस भूमि को प्राप्त करने और रक्षा करने के उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।"[1]

कौटिल्य ने धर्म एवं अर्थ में से अर्थ को प्रधान बताया है। उनके अनुसार "सुख का मूल धर्म है और धर्म का मूल अर्थ है और अर्थ का मूल राज्य है।"[2]

आचार्य कौटिल्य के विचार आधुनिक अर्थव्यवस्था के लिये मूल स्रोत कहे जा सकते हैं। प्रो० मार्शल पीगू आदि की परिभाषायें कौटिल्य के विचारों से बहुत कुछ मेल खाती है। केवल परिस्थितियों के अनुकूल ही इनका स्वरूप परिवर्तित कर दिया गया है। इसलिए यदि पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों को प्राचीन भारतीय चिन्तकों का अनुयायी मान लिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

सामाजिक स्थिति

कौटिल्य के विचारों का मन्थन करने के वावजूद सामाजिक अभ्युदय का परिष्कृत ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि उन्होंने तत्कालीन समाज के उन सिद्धान्तों को स्वीकार किया है जिनमें अभ्युदय के बजाय सामाजिक स्थिति की झलक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। उनके विचारों से पता चलता है कि समाज को आदिकालिक व्यक्तिगत एवं सामुदायिक रूप में रखा गया था। तत्कालीन समाज को विभिन्न वर्गों में विभक्त कर उनकी क्रियाओं पर अलग-अलग विचार किया गया है। समाज में फैले अराजक तत्वों के दमन हेतु कठोर नियम बनाये गये थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्राचीन परम्परा के अनुसार शास्त्र के बताये गये नियमा पर चलने का आग्रह किया है। उन्होंने भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि के लिये

---

१. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः। तस्याः पृथिव्या लाभ पालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति ॥

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अध्याय १, अधिकरण १५-१-२

२. सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूल अर्थः॥ अर्थस्य मूलंराज्यम ॥

—चाणक्य पुणीत सूत्र, १, २, ३

कर्मों का प्रतिपादन कर सामाजिक व्यवस्था को सही मार्ग बताया है ।[1]

जीवन-स्तर

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित विचारों से पता चलता है कि तत्कालीन समाज एक उच्च कोटि का समाज था, विभिन्न वर्ग के लोग अपने-अपने कार्यों में रत थे और आर्थिक नीति को सुदृढ़ बनाने के लिये संगठित, रूप में कार्यों का सम्पादन किया जाता था । चारों वर्णों के अतिरिक्त मजदूर वर्ग के लोगों के भी कार्यों का बँट-वारा कर दिया गया था । जिससे वे सामाजिक नियमों के ही अनुकूल कार्य किया करते थे ।[2] सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध कड़े नियम भी बनाये गये थे, जिनमें कठोर दन्ड देने तक का विधान था । उदाहरण के लिये कौटिल्य का कहना है कि "घर से मालिक को चाहिये कि वह घर से जाने वाले या घर में आने वाले पुरुष की सूचना गोप आदि को देवें, सूचना न देने पर यदि वे लोग रात्रि में चोरी आदि का अपराध करें, तो उसका भागी गृहस्वामी को होना पड़ेगा । यदि वे लोग चोरी आदि का कोई अपराध न करें, तो भी जाने आने की सूचना न देने के कारण गृहस्वामी को प्रति रात्रि तीन पण दण्ड दिया जावे ।"[3]

राजा

इसके पूर्व भी राजा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राजा को दैवी शक्ति का प्रतीक माना जाता था । कौटिल्य ने भी राजा को सर्वोच्च शक्तिमान का स्थान दिया है, किन्तु उन्होंने राजा को कुछ विशेष नियमों के अन्तर्गत बांध दिया है । कौटिल्य ने राजा के अनेक कर्तव्य बताते हुये कहा है कि 'राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य प्रजा का पालन करना है । उसकी सुख सुविधा की रक्षा पर ही

---

१. स्व धर्मो ब्राह्मणस्याध्यनं अध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति । क्षत्रिय-स्याध्ययनं यजनं दानं शास्त्रजीवोभूतरक्षणं च । वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं कृषि पाशुपाल्येवणिज्या च । शूद्रस्य द्विजाति शुश्रुषा वार्ता कारुकुशीलवकर्म च ।

—कौटलीय अर्थशास्त्र—अध्याय २ प्रकरण १ श्लोक ३

२. कारुशिल्पिनः स्वकर्मस्थानेषु स्वजनं वासयेयुः वैदेहकाश्चन्योन्यं स्वकर्म स्थानेषु । पण्यानाम देश काल विक्रेतारमस्वकरणंच निवेदयेयु

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण २ अध्याय ३६, ७

३. प्रस्थितागतौ च निवेदयेत् । अन्यथा रात्रि दोषं भजेत् ।
क्षेम रात्रिषु त्रिपणं दद्यात् ।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम, अधिकरण २ अध्याय ३६ १२-१४

उसका सारा गौरव निर्भर करता है।[1] राजा को सर्वशास्त्र का ज्ञाता होना परमावश्यक था, क्योंकि बिना उसके शासन का चलाना अत्यन्त दुष्कर समझा गया है। आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित कुछ नियमों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

कोश संग्रह

राष्ट्र के सम्बर्द्धन हेतु राजा का यह कर्तव्य था कि वह समय-समय पर उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों का सामना करने के लिये कोश (आय) की अधिकाधिक वृद्धि करे। कौटिल्य का कहना है कि आपत्ति के समय बड़े या छोटे प्रान्त से, जिसका जीवन वृष्टि पर ही निर्भर हो तथा जहाँ अन्न पर्याप्त मात्रा में हो, अन्न का तीसरा या चौथा हिस्सा राजा मांग कर प्रजा की अनुमति से लेवे (अर्थात् प्रजा बलात्कार कर न लेवे)। कौटिल्य ने किसानों से अन्न खरीदने, श्रोत्रिय द्वारा खेती न करने पर जमीन को भूमिहीनों में वितरित कर देने के निमय बताये हैं। कोश की कमी को पूरा करने के लिये विभिन्न प्रकार के व्यवसायों पर अतिरिक्त कर बढ़ाने की बात कही है। यहाँ तक कि किसानों के विषय में राजा की ओर से कर की याचना करने का उल्लेख किया है। इसके साथ-साथ यह भी बताया है कि राजा अतिरिक्त कर को एक ही बार ले, दूसरी बार कभी न लेवे।[2] इसके अतिरिक्त जिनसे कर नहीं लेना चाहिये उनका भी विस्तृत विवेचन किया गया है। उनकी मान्यता है कि यदि राज्य के हित की दृष्टि से श्रोत्रिय से अन्न आदि का अधिग्रहण अनिवार्य हो, तो उन्हें समुचित मूल्य देकर उसका अधिग्रहण करे।[3]

---

१. प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानांच हिते हितम्।
नात्म प्रियं मुख राज्ञः प्रजानांच सुखे सुखम्॥
—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण १ अध्याय १८-३८

२. कोशमकोशः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्रः संगृहणीयात्।
जनपदं महात्तमल्प प्रमाणं वा देव मातृकं प्रभूतधान्यं
धान्यस्यांशं तृतीयं चतुर्थं वा याचेत। यथासारं मध्यमवरं वा।
दुर्ग सेतु कर्म वणिक्पथशून्यनिवेश खनिद्रव्यहस्तिवन कर्मोपकारिणं प्रत्यन्त मल्प प्रमाणं व न याचेत।
—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण ५ अध्याय २, १-३

३. अरण्य जातं श्रोत्रियस्वं परिहरेत् तदप्यनुग्रहणे क्रीणीयात्।
प्रमादवस्कन्नस्यात्ययं द्विगुणमुदाहरन्तो बीज काले बीज लेख्यं कुर्युः निष्पन्ने हरित पक्वादानं वारयेयुः। अन्यत्र शाक कटभंगमुष्टिभ्यां देवपितृपूजा दानार्थं गवार्थं वा। भिक्षुक ग्रामभृतकार्थं च राशि मूलं परिहरेयुः।
—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अध्याय २ प्रकरण ८० अधिकरण ५ श्लोक ६-१२

शुल्क

शुल्क के सम्बंध में जितना विस्तृत विवेचन आचार्य कौटिल्य ने किया है, उतना किसी अन्य प्राचीन अर्थशास्त्री ने नहीं किया। सामान्यतः कर की परिभाषा बताते हुए उन्होंने कहा है कि 'राजा को दिये जाने वाले अंश का नाम शुल्क (चुंगी, टैक्स) है। इस कार्य पर नियुक्त हुए प्रधान राज्याधिकारी को शुल्काध्यक्ष कहा गया है।

शुल्क लेने के नियम

कौटिल्य ने शुल्क प्राप्त करने के भार को शुल्काध्यक्ष पर सौंप दिया है। उनके अनुसार शुल्काध्यक्ष शुल्क शाला में चार या पाँच पुरुषों की नियुक्ति करे जो कि लोगों से शुल्क (चुंगी) ग्रहण करते रहें और जो व्यापारी आदि अपने माल को लेकर उधर से निकलें उनकी पूरी जानकारी लेकर शुल्क वसूल करें।

शुल्क न देने वाले के लिये दण्ड का विधान बताया गया है। "शुल्क अधिक देने के डर से, जो व्यापारी अपने माल के परिमाण को और मूल्य को कम करके बतावे उसके बताये हुए परिमाण से अधिक माल को राजा ले लेवे। अथवा उस व्यापारी से इस अपराध में ८ गुना शुल्क वसूल किया जाय।"[1]

कौटिल्य ने जिन व्यापारियों से चुंगी न ली जाय तथा जिस माल पर चुंगी न लगायी जाय, उसके नियमों का भी प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार जो माल विवाह सम्बन्धी हो, विवाह के अनन्तर जिसे विवाहिता स्त्री अपने पतिगृह को ले जावे, उसके साथ जो और माल ले जाया जाय, अन्न वस्त्र आदि अथवा जो अन्न भेंट दिया गया हो, यज्ञ कार्य तथा प्रशव आदि से सम्बन्धित जो भी माल हो उस पर चुंगी नहीं ली जानी चाहिये।[2] कौटिल्य का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति चुंगी योग्य पदार्थों पर बिना चुंगी दिये ले जाने का प्रयत्न करता तो उस पर देय

---

१. शुल्क दायिन चत्वरः पंच वा सार्थोपयातान्वणिजो लिखेयुः
के कुतस्त्याः कियत्पण्याः क्वचाभिज्ञानमुद्रा वा कृतेति।
—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अध्याय २१ अधिकरण २ श्लोक २

२. ध्वजमूलमतिक्रान्तानां चाकृत शुल्कानां शुल्कादष्टगुणो दण्डः
पथिकोत्पथिकास्तद्विद्युः।
वैवाहिक मन्वायनमौपायनिकं यज्ञकृत्यप्रसव
नैमित्तिकं देवेज्या चौलोपनयन गोदानव्रतदक्षिणादिषु
क्रिया विशेषेषु भाण्डमुच्छुल्कं गच्छेत्। —वही २१, २, २०-२२

चुंगी के समान भाग अर्थ दण्ड देना चाहिये।[१] इसी प्रकार से उन्होंने विभिन्न पदार्थों पर लगने वाली चुंगी का मात्रा का भी निर्धारण किया है।[२]

शुल्क के प्रकार

आचार्य कौटिल्य ने शुल्क के तीन विभाग बताये हैं। बाह्य, अभ्यन्तर और आतिथ्य। ये तीनों प्रकार के शुल्क ही, निष्क्राम्य और प्रवेश इन दो भागों में विभक्त हैं। अपने देश में उत्पन्न हुई वस्तुओं पर जो चुङ्गी ली जाय, वह बाह्य कहलाती है, दुर्ग तथा राजधानी आदि के भीतर उत्पन्न हुई वस्तुओं के शुल्क को आभ्यांतर कहते हैं। विदेश से आने वाले माल की चुङ्गी को 'आतिथ्य' कहा जाता है। बाहर से आने वाले पदार्थों पर पाँचवा हिस्सा चुङ्गी ली जाय, यह विधान है। इसी प्रकार वस्तु विभाजन के आधार पर १।५, १।६, १।१०, १।१५, १।२० १।२५ आदि के अनुपात में चुङ्गी वसूलने के नियम बताये गये हैं।[3]

उत्पादन तथा उसके साधन

उत्पादन से अन्तर्गत आचार्य कौटिल्य ने वस्तुतः अनेक प्रकार की वस्तुओं

---

१. कृतशुल्केनाकृत शुल्कं निर्वाहयतो द्वितीयमेक मुद्रयाभित्वा पण्यपुटमपहरतो वैदेहकस्य तच्च तावच्च दण्डः। —वही, २१, २, २४

२. अन्तपालः सपाद पणिकां वर्तनीं गृह्णीयात्
पण्डवहनस्य, पणिकामेक मुखरस्य, पशुनामर्ध
पणिकां, क्षुद्रपशुनां पादिकाम्, असभारस्य,
माषिकाम्। नष्टायहृतंच प्रति विदध्यात्। —वही, २१, २, २८-३०

३. शुल्क व्यवहारो बाह्यमाभ्यन्तरं चातिथ्यम्,
निष्क्राम्यं, प्रवेश्यं च शुल्कम्।
प्रवेश्यानां पंचभागः
पुष्पफल शाक मूलकन्दवल्लिक्य बीज शुष्क-
मत्स्य मांसनां षड्मागं गृह्णीयात्।
क्षौमं दुकूल क्रिमितान कङ्कट हरितालमनः शिला—
हिङ्गुलुकलोहवर्णधातूनां चन्दनागुरुकटुक—
किण्वावराणां सुरादन्ताजिन क्षौम दुकूल निकरास्तरण प्रावरण
क्रिमिजातानामंजैलकस्य च दश भागः पंच दशभागो वा।
—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अध्याय २२ प्रकरण ३८ अधिकरण २। १-६

के उत्पादन का जिक्र किया है।[1] कृषि के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अन्नों का उत्पा-दन करने की प्रक्रियायें बताई हैं। इसके साथ ही खाद, सिंचाई आदि साधनों के द्वारा वैसे उत्पत्ति में वृद्धि की जा सकती है, इसका भी उल्लेख प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के आभूषणों, रत्नों, शिल्प सामग्री और सूती, ऊनी कपड़ों का भी उत्पादन किया जाता था। परन्तु उत्पादन मात्र से ही लोग संतुष्ट नहीं हो जाते थे, उन्हें वास्तविक लागत पर माँग और पूर्ति को ध्यान में रखते हुए अपना मुनाफा जोड़कर मूल्य निर्धारित करने और माल बेचने की व्यवस्था करनी पड़ती थी। व्यापारिक प्रक्रिया के अन्तर्गत कच्चा माल भी एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता है। इन सबके सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य ने विशद रूप से विचार किया है और अपनी व्यवस्था दी है।

कृषि

आचार्य कौटिल्य ने कृषि को विशेष प्रधानता दी है। कृषि भूमि तथा गैर कृषि भूमि का बंटवारा कर अधिकाधिक उत्पादन के लिये उन्होंने प्रोत्साहित किया है। जिस भूमि में अन्न आदि उत्पन्न नहीं हो सकता उसका नाम 'भूमि छिद्र' बताया गया है। इस प्रकार भी भूमि को किस प्रकार कृषि योग्य बनाया जा सकता है, इसका भली भांति निरूपण कौटिल्य ने किया है।[2] उनका कहना है कि जिस भूमि में कृषि न हो सके वहाँ पर पशुओं के लिये चरागाह आदि बनवा दिये जाने चाहिये।[3]

---

१. शालि ब्रीहिकोद्रव तिल प्रयङ्गुदारकवराका: पूर्ववापा:। मुद्गमाष शैम्बया मध्यवापा:। कुसुम्भमसूरकुलत्थयव गोधूमकलायात सीसर्षपा: पश्चाद्वापा:

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अध्याय २४, अधिकरण २। १६-१९

२. करदेभ्य: कृ त क्षेत्राण्येक पुरुषिकाणि प्रयच्छेत् अकृतानि कर्तृभ्योनादेयात्।
अकृषता माच्छिद्यान्येभ्य: प्रयच्छेत्। ग्रामभृतक वैदेहिका वा कृषेयु:।
अकृषन्तोऽपहीनं दद्यु: धान्य पशु हिरण्यैश्चैनान गृह्णीयात्तान्यनु सुखेन दद्यु:॥

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अध्याय १ अधिकरण २। १०-१५

३. अकृष्या भूमौ पशुभ्यो विवीतानि प्रयच्छेत्

—वही अध्याय २ अधिकरण २। १

कृषि नीति

उस युग में कृषि राज्य की आय का प्रमुख स्रोत थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार कृषि का अधिकांश भाग राजा के अधीन हुआ करता था। राजा अनुपजाऊ तथा ऊसर भूमि पर गांवों को बसाया करता था। समाज के जो लोग जितनी भूमि को अपने अधिकार में रखकर उत्पादन करते थे, उसके बदले में वे राजा को उत्पादन का १।६ भाग कर के रूप में देते थे। ब्राह्मणों के लिये कुछ विशेष नियम बनाये गये थे। ब्राह्मण तथा कर देने वाले किरायेदारों के अधिकारों में सरकार कोई भी हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी।

कृषि करने हेतु कौटिल्य ने विभिन्न नियमों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि कृषि विभाग के प्रबन्ध कर्त्ता के लिये आवश्यक है कि वह कृषि शास्त्र, शुल्क शास्त्र, वृक्षायुर्वेद आदि के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखने वाला हो। अच्छे बीज, वर्षों तथा खाद्यान्नों के उत्पादन को विभिन्न विधियों का उसे पूरा-पूरा ज्ञान हो।[1] उनका कहना है कि कृषि भूमि अधिक हो तो अन्य प्रकार के कर्मकरों से भी बीज बोने का काम ले। किन्तु इस स्थिति में उन्हें पारिश्रमिक फल प्राप्त होने पर ही देवे।[2]

सिंचाई

सिंचाई आदि के लिये सामान्यतः वर्षा पर निर्भर रहना बताया गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी तालाब, कुंआ तथा नहरों आदि के द्वारा भी खेत की सिंचाई पर उत्पादन बढ़ाने के नियम बताये गये हैं। आचार्य कौटिल्य का कहना है कि "धन लगाकर स्वयं परिश्रम करके बनाये हुए तालाब आदि से, हांथ से जल ढोकर खेत खींचने पर, किसानों को अपनी उपज का पांचवा हिस्सा राजा के लिये देना चाहिए। इसी प्रकार तालाबों से यदि कन्धे से पानी ढोकर सींचा जाय तो किसान अपनी उपज का चौथा हिस्सा राजा को दे। यदि छोटी नहर या नालियाँ बनाकर उनके द्वारा खेतों को सींचा जाये, तो उपज का तीसरा हिस्सा राजा को दिया जाना

---

१. सीताध्यक्षः कृषितन्त्रशुल्क वृक्षायुर्वेदज्ञस्तज्ज्ञसखो वा सर्वधान्यपुष्प फल शाक कन्द मूल वाल्लिक्य क्षौम कार्पासबीजानि यथाकालं गृह्णीयात्।

—वही २४२

२. बहुहल परिकृष्टयां स्वभूमौ दास कर्मकर दण्ड प्रतिकर्तृभिर्वापयेत।
कर्षण यन्त्रोपकरण बलीवर्दैश्चचैषामसङ्गं कारयेत्। कारुभिश्च
कर्मारकुट्टाकमेदकरज्जुवर्तक सर्पग्राहादिभिश्च।
तेषां कर्म फल विनिपाते तत्फल हानं दण्डः।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण २ अध्याय २४ १-५

चाहिये।" इसी प्रकार नदी, झील, तालाब और कुंओं से सिंचाई करने पर चौथा हिस्सा राजा को देने का निर्देश दिया गया है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि सिंचाई के लिये १।५, १।४, १।३ भाग कर के रूप में निर्धारित किया गया था। सिंचाई के लिए वे दो प्रकार बांध बनाने की व्यवस्था देते हैं।[१] इसी क्रम में वह बाँध को हानि पहुँचाने वालों के लिए दण्ड की भी व्यवस्था का निर्देश करते हैं।[२]

पशुपालन

पशुओं के पालन कर्ताओं को गोपालक कहा गया है। यह भारतीय प्राचीन व्यवसायों में सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय है। पशुओं के चरने के गोचर भूमि की व्यवस्था की जाती थी। पशुओं के चरानै वाले ग्वालों के लिए मजदूरी निर्धारित की गई थी। प्रत्येक पशु के लिए एक-एक पणवार्षिक पारश्रमिक बताया गया है। पशु धन की प्रधानता को देखते हुये कौटिल्य ने उनके खाने-पीने के प्रबन्ध से लेकर क्षति पहुँचाने वालों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही के विधानों तक का उल्लेख किया है।

वाणिज्य व्यापार

कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के व्यापार तथा उसके नियमों का सम्यक् विवेचन किया है। उन्होंने सोने के व्यापार को प्रमुखता दी है। जिस बाजार में सोने का क्रय विक्रय होता था उसका नाम 'विशिखा' बताया गया है। नियमों का उल्लेख करते हुए वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सौर्वणिक-नगर निवासी तथा जनपद निवासी पुरुषों के सोने चाँदी के आभूषणों को शिल्पकशाला में काम करने वाले सुनारों के द्वारा तैयार कराये। शिल्पियों को चाहिए कि वे अपने नियत समय तथा वेतन आदि का निर्णय करके कार्य करें। कार्य की गुरुता अर्थात् कार्य की अधिकता होने पर नियत समय आदि का निर्देश किये बिना भी वे लोग कार्य कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि यथावश्यक ठीक वादे के अनुसार ही कर देना चाहिए।[३]

---

१. सहोदकम् अहार्योदकम वा सेतुं बन्धयेत्। अन्येषा वा बन्धतां भूमिमार्ग वृक्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण २। अध्याय १, २२-२३

२. उदक धारणं सेतुं भिन्दतः तत्रैवात्सु निमज्जनम्। अनुदकमुतमः साहसदण्डः भग्नोत्सृष्टकं मध्यमः।

—वही, अध्याय ११ अधिकरण २

३. सौर्वणिकः पौरजानपदानां रूप्य सुवर्ण मावेशनिभः कारयेत्। निर्दिष्ट कालकार्य च कर्म कुर्युः। अनिर्दिष्ट कालं कार्यापदेशं।।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण २, अध्याय १४

इसके साथ ही कौटिल्य ने राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारों, व्यापारिक-मार्गों तथा तत्सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि इस समय समाज में व्यापार को काफी महत्व दिया गया था।

व्यवसाय

कौटिल्य ने विभिन्न व्यवसायों पर लगे हुए श्रमिकों की मजदूरी तथा उनके प्रतिबंधात्मक नियमों का विवेचन किया है। विभिन्न व्यवसायों में कार्य करने वाले श्रमिकों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। १—कुशल श्रमिक तथा २—अकुशल श्रमिक। ऊन तथा कपास आदि के व्यवसाय के सम्बन्ध में कहा गया है कि सूत्राध्यक्ष को चाहिए कि वह तत्सम्बन्धी व्यवसाय में कुशल कारीगरों की ही नियुक्ति करे। इसी प्रकार सोने, चाँदी, कुटीर उद्योग धंधों आदि से सम्बन्धित अनेक व्यवसायों का विस्तृत विवेचन कौटिल्य ने किया है।

सामूहिक संगठन (श्रेणी, कुल, गण, पुग, संघ)

कौटिल्य के समय में अनेक प्रकार की औद्योगिक क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिये विशेष प्रकार के वर्गों का जन्म हो चुका था। बर्तन बनाने वाले, टोकरी बनाने वाले, शिल्पी, बुनकर आदि अनेक प्रकार के श्रमिक संगठन मिल कर कार्य करते थे। इसी प्रकार खेती करने वालों तथा व्यापारियों का समूह भी बन गया था। ये सब अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्व रखते थे। प्रत्येक वर्ण के लिये कौटिल्य ने अलग-अलग नियमों का प्रतिपादन किया है। किस मजदूर को कौन सा कार्य करना चाहिए और कौन सा न करना चाहिए इसका पूरा-पूरा विवरण

---

१. एतेन वणिक्पथो व्याख्यातः
तत्रापि वारिस्थल पथयोः वारिपथ श्रेयान अल्प व्यय व्यायामः
प्रभूत पण्योदयश्च इत्याचार्याः।
नेति कौटिल्यः संसद्धगतिर सार्वकालिकः प्रकृष्टमपयोनिः
निष्प्रतीकारश्च वारिपथः विपरीतः स्थल पथः।
वारिपथे तु कुल संयान पथयोः कूल पथः पण्य पट्टण।
बाहुल्यात् श्रेयान नदी पथो वा सातत्याद्
त्रिषह्या बाधत्वाश्च।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् ७-१२-२९८

कौटिल्य अर्थशास्त्र में मिलता है। उदाहरण के लिये कृषकों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने सर्वोत्कृष्ट विचार प्रस्तुत किये हैं।[१]

वाणिज्य तथा उद्योग के नियम

आचार्य कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के औद्योगिक एवं व्यवसायिक नियमों का उल्लेख किया है। वस्तुतः प्राचीन काल में ही 'उचित मूल्य' का नियम प्रतिपादित किया जा चुका था। सामाजिक संगठन में प्रत्येक व्यक्ति का हाथ होता था। प्रायः समाज में सरकार से तीन ही उद्देश्यों की पूर्ति की माँग की जाती थी—

१—व्यापारियों के मामले में उचित मूल्य,

२—कारखाना मालिकों के लिये उचित लाभ,

३—श्रमिकों के लिये उचित मजदूरी।[२]

उपर्युक्त दोनों व्यवसायों पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाये गये थे। कोई भी दुकान बिना लाइसेन्स के नहीं खोली जा सकती थी। वस्तुओं की माँग और पूर्ति के बारे में पूरा नियंत्रण रखा जाता था, क्योंकि युद्ध के समय में सरकार पूर्ति पर नियंत्रण लगा कर मूल्यों का निर्धारण कर देती थी।[3]

विभिन्न उद्योग तथा मजदूरी

विभिन्न प्रकार की धातुओं, जैसे, सोना, चाँदी, सीसा आदि के विभिन्न उद्योगों को व्यवस्थित रूप से संचालित किया जाता था। इसके अतिरिक्त कच्चे पदार्थों के अनेक उद्योगों की स्थापना भी की गयी थी। इस प्रकार के विभिन्न उद्योगों में रत श्रमिकों को कई भागों में विभक्त कर दिया जाता था। कुशल-अकुशल श्रमिकों के मापदंड पर उन्हें वेतन दिया जाता था। कौटिल्य का कहना है कि यदि एक धरण चांदी की कोई वस्तु बनाई जाय, तो श्रमिक को एक 'माषक' वेतन दिया

---

१. कर्षकस्य ग्राममभ्युपेत्याकुर्वतो ग्राम एवात्ययं हरेत्।
कर्माकरणे कर्मवेतनाद् द्विगुणं, हिरण्यादाने प्रत्यंशद्विगुणं,
भक्ष्य पेयादाने च प्रह्वणेषु द्विगुणमंशं दद्यात्।
—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण ३, अध्याय १०, ५०-५१

२. कर्म करस्य कर्म सम्बन्धं आसन्ना विद्युः
यथा संभाषितं वेतनं लभेत्
—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण ३, अध्याय १३-३७-३८

३. तेन धान्य पण्य निच्यांश्चा अनुज्ञाता कुर्युः
अन्यथा निचितमेषां पण्याध्यक्षो गृह्णीयात्॥
—वही, अधिकरण ४ अध्याय २, २५-२७

जाना चाहिए, सोने की बनवाई के लिये ८वां हिस्सा वेतन दिया जाय तथा विशेष कारीगरी करने पर दुगुनी मजदूरी दे दी जावे। इसी प्रकार अधिक काम करने पर अधिक मजदूरी दी जाय।[1]

राज्य कर्मचारियों के काम करते हुए मर जाने पर उनके वेतन आदि को, उनके पुत्र या पत्नी को दे दिया जाना चाहिए। कौटिल्य का कहना है कि यदि खजाने में कमी है, तो राजा सहायता देने योग्य पुरुषों को कुप्य पशु तथा जमीन आदि देवे।[2]

दुर्ग एवं जनपद की शक्ति के अनुसार नौकरों को रखे जाने के नियम बताये गये हैं। आचार्य कौटिल्य का कथन है कि 'राज्य की आय का चौथा भाग उनके भरण पोषण पर व्यय किया जाना चाहिए। अथवा कार्यकुशल भृत्य जितने भी वेतन पर मिले, उन्हें नियुक्त किया जाय, किन्तु आमदनी के स्तर पर अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि आमदनी कम और खर्चा अधिक हो जाय। ऐसा कोई भी कार्य नहीं होना चाहिए, जिससे धर्म और अर्थ की व्यर्थ में क्षति हो।[3] कौटिल्य ने अपनी पुस्तक 'कौटलीय अर्थशास्त्रम्' के भृत्य भरणीयम् प्रकरण में अनेक प्रकार के श्रमिकों तथा उनके वेतन के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है।

श्रमिक संघ

कौटिल्य ने विभिन्न संघों का उल्लेख करते हुए उन्हें अत्यधिक शक्तिशाली बताया है। संघों के लिये निर्देश था कि वे बताये गये नियमों पर ही कार्य करें। नियमों का पालन न किये जाने पर दण्ड देने का विधान है।[4]

---

१. माषको वेतनं रूप्य धरणस्य। सुवर्णस्याष्ट भागः शिक्षा विशेषेण द्विगुणा वेतन वृद्धिः

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अध्याय १, अधिकरण ४। ४८-५०

२. कर्मसु भृतानां पुत्रद्वारा भक्त वेतनं लभेरन्...

...अल्प कोशः कुप्य पशु क्षेत्राणि दद्यात्।

—कौटलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण ५, अध्याय ३, २९, ३२

३. दुर्गजनपद शक्त्या भृत्यकर्म समुदयपादेन स्थापयेत्।

कार्य साधन सहेन वा भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेत्, न धर्मार्थौ पीडयेत्।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ५, अध्याय ३ १-३

४. निर्दिष्ट देश काल कार्यं च कर्म कुर्युः। अनिर्दिष्ट देश काल कार्यापदेशं कालाति पातनेपाद हीनं वेतनंतदद्विगुणश्च दण्डः।

अन्यत्रमेषोपनिपाताभ्यां नष्टं विनष्टं वाभ्यां भवेयुः।

कार्यस्यान्यथा करणे वेतन नाशः तद्विगुणश्च दण्डः॥

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण ४। अध्याय १, ४-८

अर्थशास्त्र में संघों के मुख्यतः निम्न प्रकार बताये गये हैं—

१—बुनकर (सूतीवस्त्र बुनकर, ऊनी वस्त्र बुनकर)
२—खान कार्यकर्ता संघ (सोना, चाँदी, लोहा आदि)
३—बढ़ईगीरी
४—पाषण कलाकारी
५—चिकित्सक कार्यकर्ता
६—पुरोहित
७—गायक
८—न्यूनतम कलाकार
९—क्रय-विक्रय कर्ता
१०—सेवा संघ

इन संघों[1] के माध्यम से राज्य की आर्थिक एवं गैर-आर्थिक क्रियाओं पर विचार किया जाता था। कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट संघों का यदि आधुनिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो उसको निम्न विभागों में बाँट सकते हैं—

(१) वे संघ जो स्वयं की अथवा संघ की सम्पत्ति पर कार्य को पूरा करते हैं।
(२) दूसरे वे संघ जो श्रेष्ठियों द्वारा दिये गये कच्चे पदार्थों को अपनी कार्य-दक्षता एवं कुशलता के आधार पर परिवर्तित रूप देते हैं।
(३) वे श्रमिक जो उद्योग की अर्थव्यवस्था में भार ढोना, टोकरी बनाना आदि कार्यों को करके जीविका निर्वाह करते हैं।
(४) रथकार, नाई, धोबी, रसोइया, कृषि पर कार्य करने वाले श्रमिकों का संघ।
(५) समाज के अनेक वर्गीय लोग जो पुरोहित, ज्योतिष वेत्ता, चिकित्सक, परिचारिका, गायक आदि का कार्य करते हैं।

कौटिल्य ने इन तमाम प्रकार के श्रमिक संघों को मजदूरी तथा कार्य के विभाजन का निपटारा कराने वाले बताया है।[2] उस समय भी कलाकारों तथा कुशल श्रमिकों की स्थिति अच्छी न थी। वे अपने वेतन की माँग पर अपराधी बनाये

---

१. प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयोवामात्याः कण्टक शोधनं (कास रक्षण,) कुर्युः।
—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ४। अध्याय १, १

२. अद्धेया रागविवादेषु वेतनं कुशलाः कल्पयेयुः।
—वही, अधिकरण ४। अध्याय १, २८

जाते थे और उन्हें १००० तक पण का दण्ड दिया जाता था। और यही सबसे अधिक दंड था।[१]

श्रमिक तथा मजदूरी

श्रमिकों की मजदूरी के सम्बन्ध में आचार्य कौटल्य ने कहा है कि किसान अनाज का, ग्वाला घी का और खरीद फरोख्त करने वाला अपने द्वारा व्यवहृत हुई चीजों का दसवाँ हिस्सा लेवे, बशर्ते कि वेतन पहिले से तय न हुआ हो। कारीगर गाने बजाने का व्यवसाय करने वाले नट आदि, चिकित्सक, वकील परिचायक आदि आशाकारिक वर्ग को वैसा ही वेतन दिया जावे, जैसा अन्य स्थानों में दिया जाता हो, अथवा जिस प्रकार चतुर पुरुष नियत करे।[२] इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के श्रमिकों की मजदूरी के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार स्पष्ट है।

स्त्री श्रमिक

कौटिल्य के अनुसार अपने जीविकोपार्जन के लिये स्त्रियाँ भी कार्य करती थीं। उन्हें प्रसन्न रखकर अधिक कार्य कराने का निर्देश दिया गया है। उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि जो स्त्रियाँ परदे में रहकर ही काम करना चाहें, जिनके पति परदेश में गये हों तथा विकलांग और अविवाहित स्त्रियाँ, जो कि स्वयं अपना पेट पालन करना चाहें, अध्यक्ष को चाहिये कि वह उनसे सूत कतवाने आदि का काम करावे और उनके साथ अच्छी तरह सत्कारपूर्वक व्यवहार करें।[3] इसी प्रकार उनका उचित

---

१. कारु शिल्पिनां च कर्मगुणापकर्षभाजीव विक्रयं क्रयोपघातं
वा सम्भूय समुस्थापयतां सहस्त्रं दण्ड।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ४, अध्याय २, १९

२. कारु शिल्प कुसीलव चिकित्सक वाग्जीवन परिचारकादिरा—
शाकारिक वर्गस्तु यथान्यस्त द्विधः कुर्याद्यथा कुशलाः कल्पयेयुस्तथा
वेतनं लभेत॥

—वही, अधिकरण ३, अध्याय १३, ४२

३. क— सूत्राध्यक्षः सूत्रवर्मवस्त्र रज्जूव्यवहारं तज्जातु पुरुषैः कारयेतु।
उर्णावल्ककार्पास तूलशण क्षेमणि व विधवान्यङ्गाकन्या
प्रव्रजितादण्डाप्रतिकारिणीभी रूपाजीवा मातृकामिर्वृद्ध—
राजदासीभिर्व्यु परतोपस्थान देवदासीभिश्चकर्त्तयेत्॥

—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण २ अध्याय २३। २

३. ख—याश्चानिष्कासिन्यः योषित विधवान्यंगा कन्यका वात्मानं विभृयुस्ताः
स्वदासिभिरनुसर्य सोपग्रहं कर्म कारयितव्याः॥

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण २ अध्याय २३

वेतन दिये जाने की भी व्यवस्था है। वेतन लेकर काम न करने वाली स्त्री के लिये कठोर नियमों का प्रतिपादन किया गया है।[१]

वस्तु विक्रय

क्रय विक्रय के सम्बन्ध में प्रमुख लोगों की साक्षी को आवश्यक बताया गया है। वस्तु के मूल्य को निर्धारित करने के सम्बन्ध में कहा गया है कि "गांव के मुखिया तथा अन्य वृद्ध पुरुषों के सामने ही खेत, बाग, सीमा बंध, तालाब और हौज आदि का उनकी हैसियत के मुताबिक नियम पूर्वक मूल्य करे, 'इतने दाम पर कौन खरीदेगा ?'[२] इस प्रकार तीन बार आवाज लगाई जावे। जो खरीदने वाला उचित बोली बोले वह बिना किसी रोक-टोक के मकान आदि को खरीद लेवें'।

इन विचारों से स्पष्ट होता है कि जहाँ पर क्रेता को जिस मूल्य पर अधिकतम संतुष्टि मिलती है, वहीं पर उसे वस्तु को क्रय कर लेने का नियम था और वहीं वस्तु के मूल्य का भी निर्धारण होता था।

बाजार का संगठन

कौटिल्य के अनुसार बताई गई बाजार व्यवस्था से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय बाजार के संगठन का इतना अच्छा प्रबन्ध किया गया था, कि थोड़ी सी भी चोर बाजारी करने वाले दुकानदार को दण्ड का भागी होना पड़ता था। बाजारों की देख-रेख के लिए एक निरीक्षक होता था, जिसे पण्याध्यक्ष कहा गया है। तराजू बट्टे नाप के बर्तनों तथा तौल आदि का निरीक्षण करना उसका कर्त्तव्य था।[3] बाजार

---

१. गृहीत्वा वेतनं कर्माकुर्वत्याः अंगुष्ठसन्दंशं दापयेत्। भक्षितापहृतावस्कन्दितानां च। वेतनेषु च कर्मकराणामपराधतो दण्डः।

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण २। अध्याय २३, १२, २०

२. सामन्त ग्राम वृद्धेषु क्षेत्रमारामं सेतुबन्धम् सदा क्रमाधारं वा मर्यादासु यथा सेतुभोग मनेनार्घेण कः क्रेताइति त्रिराघुषितवीतमव्याहतं क्रेता क्रेतु लभेत ॥

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ३, अध्याय ९

३. संस्थाध्यक्षः पण्यसंस्थायां पुराण भाण्डानां स्वकरण—
विशुद्धानामाधानं विक्रयं वा स्थापयेत्। तुलामान भाण्डानि
चावेक्षेत

+ + +

देशकालान्तररितानां तु पण्यानां
प्रक्षेपं पण्यनिष्पत्तिं शुल्कं वृद्धिमवक्रयम्।
व्ययानन्यांश्च संख्याय स्थापयेदर्घमर्घवित् ॥

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ४। अध्याय २ १, २, ३८, ३९

का यह संगठन प्रजा के कल्याण को दृष्टि में रखकर बनाया गया था, क्योंकि कौटिल्य का कहना है कि सम्पूर्ण वस्तुओं को दैनिक वेतन देकर इस प्रकार भी बिकवाया जा सकता है कि जिससे प्रजा का कल्याण हो। वस्तुओं के माप करने हेतु अनेक प्रकार की माप-तौल प्रणालियों का विवरण भी प्राप्त होता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति

आचार्य कौटिल्य ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को प्राप्त करने के सम्बन्ध में अनेक नियम बताये हैं। उनका कहना है कि 'जिस पुरुष की सम्पत्ति के लिये साक्षी नहीं मिलते, परन्तु वह उसे लगातार भोगता चला आ रहा है, तो यही बात उस सम्पत्ति पर उसका स्वत्व बतलाने के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं। जो पुरुष दूसरों से भोगी जाती हुई अपनी सम्पत्ति की दश वर्ष तक परवाह नहीं करता, फिर उस सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं रहता।

कौटिल्य ने वानप्रस्थ, सन्यासी तथा ब्रह्मचारी आदि की सम्पत्ति का अलग अलग विवेचन किया है।

सम्पत्ति का बंटवारा

व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिये कौन अधिकारी हो सकता है, इसके बारे में आचार्य कौटिल्य का मत है कि 'माता-पिता दोनों या केवल पिता के रहते हुए पुत्र सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते।'[1] उनके बाद पिता की सम्पत्ति का वे आपस में बंटवारा कर सकते हैं। जिसकी सम्पत्ति का कोई अधिकारी न हो उसकी सम्पत्ति को राजा अपने अधिकार में कर लेता है।[2] पिता की सम्पत्ति को छोटे बड़े के क्रमानुसार विभाजित करने के नियम बताये गये हैं।

---

१. अनीश्वराः पितृमन्तः स्थित पितृमातृकाः पुत्राः।
तेषांमर्ध्वं पितृतो दाय विभागः पितृद्रव्याणाम्।
स्वयमार्जितमविभाज्यमन्यत्र पितृ द्रव्यादुत्थितेभ्यः
—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ३, अध्याय ५, सूत्र १-२

\+ \+ \+

२. (क) द्रव्यमपुत्रस्य सोदर्या भ्रातरः सहजीविनोवाहरेयुः कन्याश्चः रिक्थं
—३।५।८

२. (ख) अदायादकं राजा हरेत स्त्री वृत्ति प्रेतकार्यवर्जममन्यत्र श्रोत्रिय द्रव्यात्। तत् त्रैविद्येभ्यः प्रयच्छेत्।
—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ३। अध्याय ५, २७-२८

लाभ के नियम

अर्थशास्त्र में बताये गये सिद्धान्तों के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापारी वर्ग नाम का उपयोग करके काम से लाभ की चोरी करते थे।[१] कौटिल्य ने स्थानीय उत्पादन की वस्तुओं में ५ प्रतिशत तथा विदेशी वस्तुओं पर क्रय से १० प्रतिशत लाभ लेने के नियम बताये हैं।[२] इसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु बाजार के अतिरिक्त किसी भी स्थान पर नहीं बेची जा सकती है और न उत्पादन के स्थान पर ही बेची जा सकती थी। कोई भी व्यक्ति निर्धारित लाभ से अधिक नहीं ले सकता था।

उपर्युक्त नियमों के अलावा खाद्यान्न निरीक्षण, करके मिलावट करने वाले व्यापारियों के दण्ड सम्बन्धी नियम भी बताये गये हैं।[3]

आय

कौटिल्य ने आय प्राप्ति के अनेक साधन बताये हैं। समाहर्ता, गोप तथा स्थानिक आदि अधिकारियों के माध्यम से आय प्राप्त की जाती थी। इन सभी का अपना अपना क्षेत्र बँटा हुआ था। वे आय तथा व्यय का पूरा विवरण रखते थे। उनके पास विभिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित लोगों का लेखा-जोखा रहता था।[४] उस समय कर एवं कृषि से प्राप्त उत्पादन का हिस्सा ही आय का प्रमुख स्रोत था। खेती करने योग्य भूमि पर कर लगा कर आय में वृद्धि की जाती थी।

---

१. एवं चोरानचोराख्यान वणिक्कारु कुशीलवान्
भिक्षुकान् कुहकांन्चान्यान्वारयेत देशपीडनात्

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण ४। अध्याय १। ८३

२. अनुज्ञात क्रय दुपरि चैषां स्वदेशीयानां पण्यानां पन्चकं
शतमाजीवं स्थापयेत्। परदेशीयानां दशकम।

—वही अधिकरण ४।२।२९-३०

३. परमर्थ वर्धयतां क्रये-विक्रये वा भावयतां पणशते
पच्च पणा द्विशतो दण्डः ॥

—वही अधिकरण ४। अध्याय २ ३१

४. तत्प्रदिष्टः पंश्चग्रामी दशग्रामी वा गोपश्चिन्तयेत्। सीमावरोधेन ग्रामाग्रं कृष्टा कृष्टस्थल को दारारामषण्डवाटवनवास्तु चैत्यदेव गृहसेतुवन्धश्मशान सत्रप्रपा पुण्यस्थान विवीतपथि संख्यानेन क्षेत्राग्रं तेन सीम्नां क्षेत्राणां च मर्यादारण्ड पथि प्रमाण सम्प्रदान विक्रयानुग्रह परिहार निवन्धान कारयेत। गृहाणां च करदा करद संख्यानेन् ॥

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण २। अध्याय ३५, २-४

राजकीय आय के अन्य स्रोत

वैदिक काल में बताया जा चुका है कि आय के मुख्य स्रोत 'बलि' तथा बूटी थे। धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ स्रोतों की संख्या में भारी वृद्धि हो गई। कौटिल्य ने भी आय के अनेक साधन बताये हैं। वैदिक काल में मुख्यतः तीन प्रकार के कर से प्राप्त होने वाले आय के साधन थे—

(१) कृषि उत्पादन का भाग
(२) सोने पर कर
(३) पशु कर

इसके अतिरिक्त व्यवसायिक दृष्टिकोण के और अधिक कर लगते गये, जो निम्न प्रकार बताये गये हैं—

(१) कलाकार कर
(२) श्रमकर
(३) वाणिज्य वस्तुओं पर कर
(४) अपराध कर
(५) मृत्यु कर
(६) खोयी हुई वस्तु पर कर

आचार्य कौटिल्य ने राजा को 'कोष' वृद्धि का परामर्श दिया है। उनका कहना है कि 'अल्प कोषो हि राजा पौरजान पदानेव ग्रस्ते' अर्थात् अल्प कोष के कारण ही राजा तथा प्रजा को कष्ट प्राप्त होता था। कौटिल्य के द्वारा बताये गये आय के स्रोत निम्न प्रकार हैं—

(१) विभिन्न प्रकार के भूमिकर; उत्पादक भूमि कर, शहरों में मकान कर, बलिकर, आकस्मिक कर आदि।

(२) बाजार में बेची जाने वाली वस्तुओं पर कर, आयात-निर्यात पर कर।

(३) मार्गकर (बर्तनी) नहर कर (जलभागः, तरदेयः,) सामान लादने वाली भारी गाड़ियों पर कर, अन्य व्यावहारिक कर।

(४) कलाकार कर (कारू शिल्पगण) मत्स्य कर।

(५) वैश्या तथा द्यूत कर, नशीली वस्तुओं तथा कसाई खानों पर कर।

(६) सम्पत्ति कर—वनोत्पादन कर, खान कर—नमक तथा अन्य वस्तुओं का एकाधिकारिक कर आदि।

(७) श्रमिक कर

(८) कानूनी न्यायालय कर
(९) आकस्मिक आय कर
(१०) उत्संग आदि आकस्मिक कर
(११) ऋण पर ब्याज
(१२) खैराती कर

कौटिल्य ने इन समस्त आय के स्रोतों का सम्यक् विवेचन कर आर्थिक विचारों में दृढ़ता उत्पन्न की है।[1]

कौटिल्य के समय उत्पादकता के आधार पर ग्रामों तथा भूमि का विभाजन कर दिया गया था। कृषि की उत्पादकता, श्रमिक तथा सिंचाई के साधनों पर निर्भर करती थी। कौटिल्य के अनुसार समस्त प्राचीन काल में कोश (राष्ट्र) वृद्धि के लिये सतत् प्रयत्न किया गया है। इस समय कर अथवा चुंगी का भुगतान नकद (सिक्के) तथा वस्तुओं के रूप में किया जाता था। कौटिल्य ने सेनभक्तम, उत्संग, पार्श्व, परिहिनिका, औपायनिका आदि कर के प्रारूप बताये हैं। सामान्यतः भूमि कर के भी विभिन्न प्रकारों के बारे में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विवरण प्रस्तुत किया है।[2]

लगान

भूस्वामी को जो उत्पादन लागत से अतिरिक्त आय प्राप्त होती है, उसे लगान कहते हैं। भूमि की उत्पादन क्षमता उसके उपजाऊपन तथा उर्वरा शक्ति पर निर्भर करती है और लगान की प्राप्ति व्यापारिक साधनों तथा उनकी लागत अथवा बाजार के संगठन पर आधारित है। विचारकों ने भूमि को कई भागों में विभक्त किया है। अतः प्रत्येक प्रकार की भूमि से अलग-अलग लाभ अथवा लगान भी प्राप्त होता है। कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार की भूमि से पाये जाने वाले लाभ का विवेचन किया है।

---

१. कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण २, शुल्काध्यक्ष एवं शुल्कव्यवहार प्रकरण।
—अध्याय २१-२२

२. कोशमकोशः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छः संगृह्णीयात् जनपदं महात्तमल्प प्रमाण वा देव-मातृकं प्रभूत धान्यं धान्य स्यांशं तृतीयं चतुर्थं वा याचेत।
—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण २, अध्याय १-२

चतुर्थं नदी सरस्तटाककूपोद्घाटम्
—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण २, अध्याय २४-२५

ऋण लेना तथा ब्याज

पूर्व विवेचित ग्रन्थों के आधार पर आचार्य कौटिल्य ने ऋणों के महत्व तथा तत्सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार १०० पण पर एक महीने में १$\frac{१}{४}$ पण ब्याज लेना ही उचित बताया गया है। व्यापारियों से ५ पण जंगल में रहने वालों अथवा वहाँ व्यापार करने वालों से १० पण ब्याज लेने का नियम है। समुद्र में आने जाने वाले या वहाँ व्यापार करने वालों से २० पण ब्याज लेने को कहा गया है।[1]

इसके साथ ही साथ कौटिल्य के अनुसार बहुत काल तक होने वाले यज्ञ में घिरे हुए, व्याधिग्रस्त तथा गुरुकुल में अध्ययन करते हुए व्यक्ति पर, इसी प्रकार बालक या शक्तिहीन पुरुष पर जो ऋण हो, उस पर ब्याज नहीं लगाया जा सकता।[2]

द्यूत

द्यूत क्रीड़ा प्राचीन काल से धनोपार्जन तथा धन के विनाश का कारण रहा है। आचार्य कौटिल्य ने जुआ खेलने वालों के प्रति जहाँ एक ओर दण्ड का विधान बताया है वहीं पर राष्ट्रीय आय की वृद्धि हेतु कर की वसूली करने के भी नियम बताये हैं। उनके अनुसार जीतने वाले से अध्यक्ष ५ प्रति सैकड़ा ले लेवे और साथ ही कर भी वसूल करे। प्राचीन काल में अधिकांश विचारक इसे मनोरंजन का साधन मानते थे, किन्तु इसकी खेल प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि धन का चलन एक स्थान से दूसरे स्थान को किस प्रकार से इसके माध्यम से संभव था। एक व्यक्ति का धन कितनी आसानी के साथ दूसरे के हाथ में चला जाता था। इस प्रकार का चक्र समाज में बराबर चलता रहता था।[3]

---

१. सपादपणा धर्म्या मासवृद्धिः पणशतस्य। पंच पणा व्यावहारिकी।
दशपणा कान्तारगाणाम्। विंशति पणा समुद्राणाम्॥
—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण ३, अध्याय ११, १-४

२. दीर्घ सत्र व्याधि गुरुकुलोपरुद्धं बालमसारं वा नर्णमनुवर्धेत।
मुच्यमानमृणम प्रतिगृह्णतो द्वादश पणो दण्डः।
—कौटलीय अर्थशास्त्रम् अधिकरण ६, अध्याय ११, १५-१६

३. कौटलीय अर्थशास्त्रम् भाग २, अ० २०, प्रकरण, ७४-७५

दास

कौटिल्य के विचारों से स्पष्ट होता है कि दासों का क्रय-विक्रय होता था, क्योंकि उनका कहना है कि 'आर्यों के प्राणभूत, उदार दास को छोड़कर यदि नाबालिग शूद्र को कोई उसका ही आदमी बेचे या गिरवी रखे तो उसको १२ पण दण्ड दिया जाना चाहिए। यदि नाबालिग वैश्य को कोई उसका अपना सम्बन्धी ही बेचे या गिरवी रखे, तो उसको २४ पण। इसी प्रकार क्षत्रिय और ब्राह्मण को ४८ पण दण्ड देने का विधान बताया गया है।[१] सामान्यतः दास विक्रय तथा गिरवी रखने के पात्र हुआ करते थे।

सार्वजनिक व्यय

एक ओर जहाँ अर्थशास्त्र में आय के विभिन्न साधनों का उल्लेख किया गया है, वहीं दूसरी ओर सार्वजनिक व्यय का भी आचार्य कौटिल्य ने भली भाँति विवेचन किया है। सार्वजनिक व्यय की मुख्यतः निम्नलिखित मदें बताई गई हैं—

(१) राजकीय गृह कार्यों का प्रबन्ध
(२) धार्मिक कार्य
(३) आधिकारिक वेतन का भुगतान
(४) सैन्य शक्ति का संगठन
(५) कारखानों का प्रबन्ध
(६) श्रमिकों का भुगतान
(७) कृषि उत्पादन पर व्यय
(८) वैधव्य पालन
(९) शिक्षण संस्थानों की स्थापना
(१०) बच्चों (अधिकारियों, सेना के लोगों के) को पेन्शन
(११) जनहित कार्य, सड़कों, नहरों आदि का निर्माण।

विश्लेषणात्मक अध्ययन

आचार्य कौटिल्य ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि ग्रामों तथा राज्य की विभिन्न इकाइयों की देखभाल, किस व्यक्ति के पास कितनी खेती है, उसकी आय तथा व्यय का लेखा जोखा रखना परमावश्यक है। जनसंख्या का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा तत्सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्रित किया जाता था। प्रशासनिक गतिविधियों की देख-रेख के लिये पृथक-पृथक अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। समाहर्ता की यह

---

१. वही, भाग २, अ० १३, प्रकरण ६५

जिम्मेदारी होती थी, कि वह लोगों के आँकड़े, मकान, पशु, खेती की माप, बाग, भूमि आदि के बारे में पूरा लेखा जोखा रखे। इसी प्रकार सम्पूर्ण राज्य का अध्ययन करना भी आवश्यक बताया गया है। आचार्य कौटिल्य का यह मत सिद्ध करता है कि राज्य की आय किसी भी प्रकार से चोरी न होने देने, आर्थिक व्यवस्था में किसी प्रकार का व्यवधान न उत्पन्न होने देने की दृष्टि से समुचित ढंग से राजकीय व्यवस्था की जाती थी।

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य प्रौढ़ आर्थिक विचारों के प्रथम अर्थशास्त्री कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनके विचार आधुनिक तथा प्राचीन अर्थशास्त्रियों से काफी मेल-जोल खाते प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने आचार्य कौटिल्य के द्वारा विवेचित आर्थिक विचारों को मान्यता दी है।

———

देखिये नागरिक प्रणिधिः

समाहर्तृवत नागरको नगरं चिन्तयेत

—कौटलीय अर्थशास्त्रम्, अधिकरण २ अध्याय ३६, १

आचार्य शुक्र

आचार्य शुक्र

भारतीय नीतिशास्त्रकारों में शुक्राचार्य का नाम बड़े ही सम्मान के साथ लिया जाता है । नीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था । अतएव आचार्य शुक्र नीतिशास्त्र को अर्थशास्त्र के नियमों से अलग नहीं कर सके । उन्होंने नीति विषयक नियमों के साथ-साथ आर्थिक नियमों का भी सम्यक् विवेचन किया है । महाभारत में 'उशना' के रूप में शुक्राचार्य की नीतियों का अनेकशः उल्लेख मिलता है ।[१] इसके अतिरिक्त 'भार्गव, शब्द से भी शुक्राचार्य का संकेत किया गया है । आचार्य शुक्र ने राज्योत्पत्ति, राजा के कर्तव्य, उत्तराधिकार आदि विषयों के साथ-साथ आर्थिक व्यवस्था का सुन्दर विवेचन किया है । नगर व्यवस्था से लेकर राष्ट्र व्यवस्था तक का विश्लेषणात्मक अध्ययन एवं अनुशीलन शुक्राचार्य के यहाँ प्राप्त होता है ।

वर्ण विभाजन

प्राचीन विचारकों के अनुसार आचार्य शुक्र ने भी पूर्व आचार्यों की भाँति वर्णों का विभाजन कर विभिन्न क्रियाओं के श्रम विभाजन का समर्थन किया है । उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों के अलग-अलग कर्म बताये हैं ।[२] इससे समझा

---

१. (क) श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरातात् महर्षिणा ।
तौ निबोध महाराज त्वमेकाग्रमनानृप ॥
—महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ५६ श्लोक २८

(ख) भगवानुशना चाह श्लोकमत्रविशाम्यते ।
तदिहिक मनाराजन् गदतस्तं निबोधमे ॥
—वही शान्तिपर्व अध्याय ५७ श्लोक ३

(ग) बार्हस्पत्ये चशास्त्रे च श्लोको निगदितः पुरा
अस्मिन्नर्थे महाराज तन्मे निगदतः श्रृणुः ॥
—वही शान्तिपर्व अध्याय ५६ श्लोक ३८-४०

२. ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधने रतः
शांतो-दांतो दयालुश्च ब्रह्मणश्चगुणैकृतः
लोक संरक्षण दक्षः शूरो दान्तः पराक्रमी
दुष्ट निग्रहशीलोयः सवै क्षत्रिय उच्यते ॥

जाता है कि श्रम विभाजन के इस सिद्धान्त को स्वीकार करके ही आचार्य शुक्र ने सामाजिक व्यवस्था को संचालित करना श्रेयस्कर माना था।

शुक्र ने प्रत्येक वर्ग के द्वारा पृथक-पृथक ढंग से अर्थोपार्जन करने के नियम बताये हैं। उनके अनुसार चाहे शूद्र हो चाहे वैश्य, प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कार्यों में धर्मानुकूल लगे रहने पर ही श्रेय की प्राप्ति कर पाता है।[1] इसीलिए शुक्र ने इसके अन्तर्गत अनेक कठोर नियमों का भी उल्लेख किया है। इसके साथ ही श्रम विभाजन का सही रूप देकर उन्होंने आधुनिक अर्थशास्त्रियों के बीच एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। कालांतर में नये-नये रोजगारों की वृद्धि से श्रम विभाजन को एक नया रूप मिला।

विद्या

शुक्र ने भी प्राचीन विद्याओं के आधार पर ही आर्थिक तथा नीति विषयक विचारों को रखने का प्रयास किया है। इनके भेद बताते हुए वे कहते हैं कि गौतमादि रचित तर्कशास्त्रादि त्रयी (अंग) के सहित (ऋक् यसाम ये तीन वेद) वार्ता व्यवहार शास्त्र, दण्डनीति, अर्थशास्त्र ये चारों विद्यायें सनातन हैं। शुक्र ने वार्ता को सर्वाधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार कुसीद (सूद लेना), कृषि (खेती), वाणिज्य (व्यापार), गोपालन, इन सबों को वार्ता कहते हैं। इस वार्ता शास्त्र का भली भांति ज्ञान रखने वाला राजा जीविका सम्बन्धी भय को नहीं प्राप्त करता था।[2]

क्रय-विक्रय कुशला ये नित्यं पण्य जीविनः
पशु रक्षा कृषि करास्तेवैश्याः कीर्तिताभुवि ॥
द्विजसेवार्चनरताः शूराः शान्ताजितेन्द्रियाः
सीर काष्ठ तृणवहास्तेनीचाः शूद्र संज्ञका ॥

—शुक्रनीति, अध्याय १, श्लोक ४०, ४१, ४२, ४३

१. स्वधर्म निरता नित्यं स्वामि भक्ता रिपुद्विसः
शुद्रा वा क्षत्रिया वैश्या म्लेच्छा शंकरसभवाः।
सेनाधिपः सैनिकाश्च कार्या राजा जयार्थिना

—शुक्रनीति, अध्याय २ श्लोक १३९-१४०

सेनापतिः शूर एवं योग्यः सर्वासु जातिषु
सशंकर चतुर्वर्ण धर्मो अपनैवपावनः ॥
यस्य वर्णस्य यो राजा सवर्णः सुखेमद्यते।

—शुक्रनीति, अध्याय २, श्लोक ४३३-३४

२. आन्वीक्षिकी त्रयीवार्ता दण्डनीतिश्चशाश्वती
विद्याश्चतस्त्र एवेता अभ्यसेन्नृपतिः सदा।

फलतः यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि उस काल में उपर्युक्त विद्यायें ही आर्थिक एवं सामाजिक जीवन की आधारशिला मानी गई थीं।

पुरुषार्थ

आचार्य शुक्र ने भी पुरुषार्थों पर समस्त क्रियाओं को आधारित किया है। धर्म, अर्थ, काम इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर नियमानुकूल कार्य करने के विचार व्यक्त किये हैं। धर्म से ही सुख की प्राप्ति और धन से ही धर्म के पालन का सिद्धांत इन्हें भी मान्य रहा है।[1] पूर्व के आचार्यों ने इस सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला और स्पष्ट किया है कि पुरुषार्थों (अर्थ, धर्म, काम मोक्ष) का सम्बन्ध न केवल आर्थिक क्रियाओं से अपितु समाज की जितनी भी क्रियाएँ हैं, उनसे रहा है। शुक्र सुख प्राप्ति का साधन धर्म को मानते हैं। किन्तु धर्म की क्रियाएँ बिना अर्थ प्राप्ति के कदापि संभव नहीं हैं। शुक्र भी इस बात से अपनी सहमति प्रकट करते हैं कि अर्थ ही एक ऐसा साधन हैं जो शेष पुरुषार्थों की प्राप्ति कराने में सक्षम है।

राज्य

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है कि समस्त आर्थिक क्रियाएँ अथवा आर्थिक विचार राज्य पर ही निर्भर करते हैं। अतः राज्य के विकास हेतु सारी क्रियाओं का प्रयोग होना चाहिये। आचार्य शुक्र ने राज्य को एक वृक्ष की संज्ञा दी है, जिसमें अनेक शाखाएँ तथा पत्ते लगे होते हैं।[2] राज्य का स्वामी राजा कहलाता है।

अन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्र वेदान्ताद्यं प्रतिष्ठितम्
त्रय्यां धर्मो ह्यधर्मश्च कामी कामः प्रतिष्ठितः।
अर्था नर्थो तु वार्तायां दण्डनीत्यां नया नयो
वर्णाः सर्वाश्रमाश्चैव विद्यास्वासु प्रतिष्ठिताः।
अंगानि वेद चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः
धर्मशास्त्र पुराणानि त्रयीद सर्व मुच्यते
कुसीद कृषि वाणिज्यं गोरक्षा वार्तयोच्यते।
सम्पन्नो वार्त्तया साधुर्न वृत्तेर्भय मृच्छति ॥

—शुक्रनीति, अध्याय १ श्लोक १५२-१५६

1. सुखं चनविना धर्मात्तस्माद्धर्म परोभवेत्।
त्रिवर्ग सून्यं नारम्भं भजेन्तं चाविरोधयनः।

—शुक्रनीति, अध्याय ३, श्लोक २

2. राज्य वृक्षस्य नृपतिर्मूल स्कन्धाश्चमन्त्रिणः।
शाखाः सेनाधिपाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च
प्रजाः फलानि भू भागाः बीजं भूमिः प्रकल्पिता।

—शुक्रनीति अध्याय ५, श्लोक १२, १३

वही राज्य का मूल है, अर्थात् जड़ है । मन्त्री उस वृक्ष की तना है, सेनापति शाखाएँ, सेना पत्ते, प्रजा पुष्प पृथ्वी तथा बीज है ।

धन का महत्व

प्राचीन काल में 'धन' की अत्यधिक प्रशंसा की गई है । विभिन्न उपायों के द्वारा उसे अर्जित करने पर बल दिया गया है । आचार्य शुक्र का कहना है कि विद्या तथा धन के इच्छुक व्यक्ति को अपना एक क्षण भी नष्ट नहीं करना चाहिये । सुन्दर पत्नी, पुत्र तथा दानादि के उपभोग के लिये नित्य प्रति धन का अर्जन करना चाहिये ।[१] इतना अवश्य है कि शुक्र के अनुसार धन सुख प्राप्ति के लिये है न कि धन के लिए सब कुछ है, इसीलिये शुक्र का कहना है कि जब तक जीवित रहो तब तक सुखपूर्वक रहो, चाहे ऋण ही क्यों न लेना पड़े । उनके अनुसार आहार तथा व्यवहार में तभी सुख प्राप्त होता है, जबकि लज्जा का परित्याग कर दिया जाय ।[२]

धन की प्रशस्ति तो वैदिक काल से लेकर प्राचीन संस्कृत साहित्य में सर्वत्र की गई है । इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्र अपने पूर्व के विचारकों से अलग नहीं रहे । उन्होंने भी धन को समाज का एक महत्वपूर्ण अंग बताया । किन्तु इन्होंने धन का समुचित कार्यों में उपयोग करने की सलाह दी है । शुक्र का कहना है कि धन का अर्जन सुन्दर पत्नी, पुत्र तथा मित्र के कल्याण हेतु किया जाना चाहिये । यदि धन का उपयोग दान में न किया गया तो उसके अर्जित करने से कोई लाभ नहीं है ।[3] उनके अनुसार धन का उपभोग व्यवहारिक जीवन में करना श्रेयस्कर माना गया है ।

'धन' आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करने का प्रमुख स्रोत रहा है । समाज की सारी व्यवस्था इसी पर आधारित थी । अतएव प्राचीन विचारकों की भाँति शुक्र ने

---

१. क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत्
न त्याजो तु क्षण कणो नित्यं विद्याधनार्थिना ।
सुभार्या पुत्र मित्रार्थं हितं नित्यं धनार्जनम्
दानार्थं च बिना त्वेतैः किं धनैश्च जनैश्च किम् ।
—शुक्रनीति अध्याय ३, श्लोक १७६-७८

२. आहारे व्यवहारे च त्यक्त लज्जा सुखी भवेत् ।
—शुक्रनीति अध्याय ३, श्लोक १६४

३. सुभार्या पुत्रमित्रार्थं हितं नित्यं धनार्जनम् ।
दानार्थं च बिना त्वेतैः किं धनैश्च जनैश्च किम् ।।
—शुक्रनीति अध्याय ३, श्लोक १७७-७८

भी इसे प्रमुख स्थान दिया है।[१]

आचार्य शुक्र ने इस सिद्धान्त के द्वारा समाज में आजकल की भाँति उत्पन्न होने वाले कलह से मुक्त रखने का प्रयास किया है, क्योंकि उनके अनुसार प्रत्येक वर्ग अपने अधिकार क्षेत्र में ही रहकर उन्नति का प्रयास करेगा, किसी दूसरे की सीमा में जाने का प्रयत्न नहीं करेगा। वस्तुतः शुक्र का यह सिद्धान्त एक आदर्श सिद्धान्त था और 'कर्म सिद्धान्त' का पूरक है।

इनके कर्म विभाजन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके पूर्ववर्ती विचारकों ने कुसीद कर्म को वार्ता के अन्तर्गत नहीं जोड़ा था, किन्तु शुक्र ने 'कुसीद' कर्म अर्थात् ब्याज पर ऋण देने के कार्य को ही इसके अन्तर्गत जोड़कर आर्थिक विचारों की शृंखला में एक नई कड़ी जोड़ दी है।

धन के लक्षण

शुक्र ने औपनिधिक, याचित, औत्तमर्णिक अर्थात् जो धन किसी सज्जन द्वारा विश्वास मान कर किसी के पास रखा जाता है, वह औपनिधिक जो बिना सूद का दूसरे से अलंकार आदि लिया जाता है वह याचित और जो सूद पर ऋण लिया जाता है, वह औत्तमर्णिक कहलाता है। धन के ये तीन भेद बताये हैं। इसी प्रकार स्वत्व विनिश्चित के साहजिक एवं अधिक संज्ञक ये दो भेद बताये गये हैं।[२] इन तीनों विभाजनों पर ही सामाजिक व्यापार निर्भर करता था और इन्हीं को आधार मान कर शुक्र ने अपने आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

संचित धन के भेद

शुक्र ने स्वाधीन संचित धन को दो प्रकार का बताया है। प्रथम पूर्व वर्ष का शेष, दूसरा वर्तमान वर्ष का संचित धन। अधिक और साहजिक भेद से पूर्वोक्त दो प्रकार की जो आय है वह प्रत्येक पार्थिव (स्थावर) तथा इतर (चल) भेद से दो प्रकार की

१. संसृतौ व्यवहाराय सार भूतं धनंस्मृतम्
अतो यतेत तत्प्राप्त्यै नरः संयाय साहसैः ॥
सुविद्यया सुसेवाभिः शौर्येण कृषिभिस्तथा ॥
कौसिदवृद्धया पण्येन कलाभिश्च प्रतिग्रहैः।

—शुक्रनीति अध्याय ३, श्लोक १८२-८४

२. औपनिध्यं याचितकमौन्तमर्णिकमेवच।
विस्रम्भान्निहितं सद्भिर्यदौपनिधिकं हितत्
अवृद्धिकं गृहीतान्याऽलंकारादि च याचितम्
सवृद्धिकं गृहीतं यदृणं तच्चौत्तमर्णिकम्

—शुक्रनीति २, ३२६-३२७

हैं।[1] इनमें से पार्थिव आय वह कहलाती है, जो भूमि के भागों से उत्पन्न हो। शुक्र ने पार्थिव संज्ञक आय तथा चल संज्ञक आय के भी भेद बताये हैं।[2] उनके अनुसार भूमि के भाग से प्राप्त आय पार्थिव कही गई है। वही पार्थिव आय देवालय और कृत्रिम वस्तु जल, देश तथा ग्राम पुर के बहुत मध्यम और थोड़े फल की प्राप्ति से और पृथ्वी के पृथक-पृथक भागों के कारण नाना प्रकार का हो जाता है।[3]

भूमि

आचार्य शुक्र ने भूमि अथवा क्षेत्र को उसी अर्थ में लिया है, जैसा कि पूर्व के आचार्य कौटिल्य आदि मानते थे। उनके अनुसार राजा भूमि का अधिकारी होता था। राजा को दो अंगुल की भूमि बिना कर के न छोड़ने का निर्देश दिया गया है। राजा का धर्म था कि उतनी भूमि किसी को दे जिस पर खेती करके किसान अपनी जीविका अच्छी तरह चला सके। राजा को अधिकार था कि वह उस भूमि पर समुचित कर लगावे।[4] इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि समाज में भूमि वितरण हेतु भी कठोर नियम बनाये गये थे। प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह अनिवार्य था कि वह जितनी भूमि कृषि के लिये राजा से लेवे उसके कर का अवश्य भुगतान करे।

इसके साथ ही गुणवान राजा के बारे में कहा गया है कि वह देव मन्दिर तथा बगीचा के निर्माणार्थ सदाभूमि का बिना कर के दान करे और कुटुम्बी जनों को

---

१. साहजिकं चाधिकं च द्विधा स्वत्वविनिश्चितम्
उत्पद्यते यो नियतो दिने मासि चवत्सरे
आयः सहाजिकं सैव दायाद्यश्च स्ववृत्तितः।
—शुक्रनीति अध्याय २, श्लोक ३२८-३३०

२. भू भिभाग समुद्भूत आयः पार्थिव उच्यते।
—शुक्र २, ३३४

३. सदेवेकृत्रिमजले दशग्रामपुरै पृथक।
बहुमध्याल्पफलतो भिद्यते भूविभागतः।
शुल्क दण्डाकर कर भाटको पायनादभिः
इतरः कीर्तितस्तज्ञैरायो लेख विशारदैः
—वही २, ३३४-३६

४. न दद्यात् द्वियंगुलमपि भूमेः स्वत्व निवर्तकम्।
वृत्यर्थं कल्पयेद्वापि यावद्ग्रहास्तु जीवति॥
—शुक्र १, २११

देखकर उसे गृह निर्माणार्थ भूमि देवे।[1]

भूमि की प्रधानता

आचार्य शुक्र ने पृथ्वी अर्थात् भूमि को सबसे बड़ा धन माना है। उनका कहना है कि "यह पृथ्वी सब धनों की खान तथा देवता और दैत्यों का नाश कराने वाली है, क्योंकि राजा लोग पृथ्वी के लिये अपने को भी नष्ट कर देते हैं। जिसने उपभोग करने के लिये धन तथा जीवन की रक्षा की किन्तु पृथ्वी की रक्षा नहीं की, उसके धन, जोवन से क्या लाभ है अर्थात् कुछ लाभ नहीं है। चाहे वह कुबेर ही क्यों न हो किसी का भी संचित धन नित्य धनागम के बिना इच्छानुसार व्यय करने के लिये योग्य नहीं होता अर्थात् एक दिन समाप्त हो जाता है। इसलिए पृथ्वी धन से बढ़ कर कोई धन नहीं है।"[2] इस विचार से सिद्ध होता है कि आचार्य शुक्र पृथ्वी को भी धन के अन्तर्गत माना है। किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि केवल भूमि ही धन के रूप में मानी गई है। अन्य वस्तुएँ भी धन के अन्तर्गत ही विवेचित है।

भूमि सम्बन्धी नियम

शुक्र का कहना है कि जोती हुई भूमि का परिवर्तन ४ भुजों के समान कहा गया है। राजा सदा 'प्राजापत्य' मानव से पृथ्वी के भाग का ग्रहण करे और आपत्ति काल में मानव मान से ग्रहण करे। इससे अन्यथा रीति से भूभाग न ग्रहण करे। यदि राजा लोभवश प्रजा से उक्त नियम से अधिक भू-भाग ग्रहण करता है तो वह प्रजा सहित हीन हो जाता है। उसे दो अंगुल भी भूमि बिना कर के न छोड़ना चाहिए अर्थात् सब पर कर लगाना चाहिए अथवा जितने से वह अपनी जीविका चला सके

---

१. गुणी तावद् देवतार्थं विसृजेच्च सदैव हि
आराममर्थं गृहार्थं वा दद्यात् दृष्ट्वा कुटुम्बिनम्।
—शुक्रनीति, अध्याय १, श्लोक २१२

२. खनिः सर्वधनस्येयं देवदैत्य विमर्दिनी।
भूम्यर्थे भूमिपतयः स्वात्मानं नाशयन्त्यपि॥
उपभोगाय च धनं जीवितं येनरक्षितम्।
न रक्षिता तु भूर्येन किं तस्य धनजीवितैः॥
न यथेष्ठ व्ययायालं संचितैनुधनंभवेत।
सदा गमाद्विनाकस्य कुबेरस्यापि नाञ्जसा॥
—शुक्रनीति, अध्याय १, श्लोक १७६-१८१

उतनी भूमि उसे दे देवे। ऐसा राजा का कर्त्तव्य है।[१]

किन्तु उपर्युक्त कथन का यह मतलब नहीं कि राजा ही मात्र 'भूमि' का अधिकारी होता था। प्रजा का कोई अपना निजी स्वामित्व नहीं था। भूमि, प्रजा द्वारा खेती के लिये थी। राजा केवल उसका नियामक था, ताकि वह अपने कर्तव्यों का शुल्क वेतन अथवा (कर) को उत्पादन के अनुसार प्राप्त कर सके। भूमि के विभाजन का सबसे अच्छा उदाहरण जैसा शुक्रने दिया है, वैसा ही आज के अर्थशास्त्री लागू करने के लिये प्रयत्नशील हैं, जितने में जीविका चलाई जा सके उतनी ही जमीन दी जावे, इस सिद्धांत से भूमि के बंटवारे का आदर्श स्वरूप देखने को मिलता है।

कृषि

मनु आदि स्मृतिकारों की भाँति शुक्र ने भी ब्राह्मणों को खेती करने की सलाह दी है और उनके लिये अनेक प्रकार के नियम बताये हैं। ब्राह्मणों को १६ बैल, १ हल रखकर कृषि कराने का विधान है। इसके बाद क्षत्रियों को १२ बैल, वैश्यों को ७ बैल तथा शूद्रों को ४ बैल, १ हल रखते हुए खेत जुतवाने का नियम बताया गया है। परन्तु यदि कठिन भूमि हो तो बैलों की संख्या २ से ४ भी हो सकती है।[२] इसी प्रकार कृषि को सबसे उत्तम वृत्ति कहा गया है। इसके पश्चात् अन्य वृत्तियों को मान्यता दी गई है।[3]

---

१. सदा कुर्याश्च स्वायत्तौ मानुमानेन नान्यथा।
लोभात् संकर्षयेद् यस्तु हीयते सप्रजोनृपः
न दद्याद्द्विङ्गुलमपि भूमेः स्वत्वनिर्वत्तकम्।
वृत्यर्थ कल्पयेद्वापि यावद् ग्राहस्तु जीवति।

—शुक्रनीति, अध्याय १, श्लोक २१०-११

२. सीर भेदैः कृषिः प्रोक्ता मन्वाद्यैर्ब्राह्मणादिषु।
ब्राह्मणैः षोड्शगवं चतुसनं यथा परैः
द्विगवं वाऽन्त्यजैः सीरं दृष्टवा भूमार्दवं तथा।

—शुक्रनीति, अध्याय ४, प्र० ३।१९-२०

३. कृषिस्तु चोन्तमा वृत्तिर्या सरिन्मातृकामता।
मध्यमा वैश्य वृत्तिश्य शूद्र वृत्तिस्तु चाधमा ॥
यांश्चाऽधमतरा वृत्तिर्हृतमा सा तपस्विषु।
क्वचित् सेवोत्तमा वृत्तिधर्मशील नृपस्य च ॥

—शुक्र ३, २७६-७८

सिंचाई के साधन

सिंचाई के लिये कुएँ, बावली, तालाब आदि अनेक प्रकार के साधन अपनाये जाते थे, क्योंकि कृषि ही एक प्रमुख उद्योग था। सारे लोगों का जीवन इसी पर निर्भर करता था। राजा प्रत्येक प्रकार के उत्पादन पर अलग-अलग कर लेता था। सींची गई भूमि के कर लेने का विधान अलग था। उस समय आधुनिक वैज्ञानिक साधन उपलब्ध न थे, किन्तु जितने साधन उपलब्ध थे, उन्हीं का उपयोग लोग समुचित ढंग से किया करते थे। शुक्र का कहना है कि हीन राष्ट्र में जैसे-जैसे जल की वृद्धि होती थी, वैसे-वैसे वह राष्ट्र समृद्धशाली होता जाता था। अतः राजा को चाहिए कि वह कूप वापी तडाग, नदियों के बाँध आदि का निर्माण कराए। कृषि के लिये सिंचाई एक परमाश्यक उत्पादन का साधन था।[1]

द्रव्य तथा धन

शुक्र ने द्रव्य तथा धन की अलग-अलग परिभाषा बताई है। उनके अनुसार लोकव्यवहार के लिये ढाले गये चाँदी, सोने एवं ताँबे के सिक्के, द्रव्य के अन्तर्गत आते हैं। इनका व्यवहार प्रजाओं को करना चाहिये। पशु धान्य वस्त्र से लेकर तृण पर्यन्त योग्य पदार्थों की संज्ञा 'धन' से दी गई है। राजा द्वारा निश्चित स्वर्णादि मुद्रायें प्रत्येक वस्तु का मूल्य समझी जाती है।[2]

मूल्य की परिभाषा

मूल्य की परिभाषा बताते हुए शुक्र ने कहा है कि संसार में कारण आदि के संयोग होने से, जो पदार्थ जितने व्यय में सिद्ध होता है, उतना व्यय उसका मूल्य होता है। मूल्य के न्यूनाधिक्य का कारण पदार्थों की सुलभता या दुर्लभता से अच्छा,

---

१. कूप वापी पुष्करिणाः तड़ागाः सुगमस्तथा।
कार्याः खाताद्विभिगुण विस्तारपदधानिकाः॥
यथा-यथाऽह्नुनेकाश्च राष्ट्रेस्याद् विपुल जलम्।
नदीनां सेतवः कार्या निबंधाः सुमनोहराः।

—शुक्रनीति, अध्याय ४ प्र० ४।६३।६४

२. रजतस्वर्ण ताम्रादि व्यवहारार्थ मुद्रितम्।
व्यवहार्य वराटाद्यं रत्नान्तं द्रव्यमीरितम्॥
सपशुधान्य वस्त्रादि तृणान्तं धनसंज्ञकम्।
व्यवहारे चाधिकृत स्वर्णाद्यं मूल्यतामियात्॥

—शुक्रनीति श्लोक ३५६-५७

भ्रम बुरा होने से उनका मूल्य विक्रेता की इच्छानुसार अधिक या कम होता है।[1] यह परिभाषा मांग और पूर्ति के तथ्य को ध्यान में रखते हुए भी पुण्यवस्तु के उत्पादन में लगे श्रम को महत्वपूर्ण स्थान देती है।

व्यवसाय

शुक्र ने विभिन्न प्रकार के व्यवसाइयों का उल्लेख किया है, जिससे पता चलता है कि पूर्व काल की अपेक्षा विभिन्न प्रकार की कलाओं तथा शिल्पकारों की संख्या में वृद्धि हो गई थी। उन्होंने ६४ प्रकार के शिल्पकारों के नाम बताये हैं।[2] इन शिल्पकारों के वेतन तथा पारिश्रमिक सम्बन्धी नियमों का भी उल्लेख किया है।

व्यापार

इस युग तक व्यापार अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। नाना प्रकार की वस्तुओं का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता था। शुक्र ने बाजार में व्यापार करने के नियमों का उल्लेख किया है। बाजार में विभिन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय

---

१. कारणादि समया योगात्पदार्थस्तु भवेदभुवि।
येन व्ययेन संसिद्धस्तद्व्यय स्तस्य मूल्यकम् ॥
सुलभा सुलभत्वाश्च गुणत्वगुण संश्रयैः
यथा कामात्पदार्थानामर्घ हीनाधिकं भवेत ॥

—शुक्रनीति, अध्याय २, श्लोक ३५८-५८

२. शृंगार रस तन्त्रज्ञा सुन्दरांगी मनोरमा
नवीनोत्तुंग कठिन कुचा सुस्मितदर्शनी
ये चान्ये साधकास्ते च तथा चित्त विरञ्जकाः
सुभृत्यास्तेऽपि सन्धार्या नृपेणात्महितायच
वैतालिकाः सुकवयो वेत्रदण्डधारंश्च ये
शिल्पज्ञाश्च कलावन्तो ये सदाप्युपकारकाः।
दुर्गुणा सूचका भाणा नर्तका बहुरूपिणः
आरामकृत्रिभवनकारिणो दुर्ग कारिणाः

+ + +

आमोदास्वेद सद्रूपकारास्ताम्बूलिकास्तथा
हीनाल्पकर्मिणश्चैते योज्याः कर्यानुरूपतः

—शुक्रनीति, अध्याय २, श्लोक १६२-२०४

करने वालों के लिये लाभ का ३२वाँ या १६वाँ भाग निर्धारित किया गया था।[1] व्यापारियों से प्राप्त अंश भी राष्ट्रीय आय वृद्धि का एक साधन होता था। बाजार में कार्य करने वाले शिल्पियों के लिये कठोर नियम बनाये गये थे। सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं से बनाये जाने वाले आभूषणों में कमी हो जाने या खराब हो जाने पर उन्हें दण्ड दिया जाता था।

भृत्य

शुक्र ने भृत्यों की भली भाँति परीक्षा करने के बाद नियुक्ति करने की सलाह दी है। उनके अनुसार भृत्य को सत्य बोलने वाला, गुणों से युक्त उच्च वंश में उत्पन्न होने वाला, धनी, निर्दोष कुल वाला आलस्य रहित, जिस भाँति अपने कार्य में यत्न करता है, उससे अधिक, कायिक, वाचिक, तथा मानसिक चौगुने पल के साथ स्वामी का कार्य करने वाला केवल वेतन मात्र से संतुष्ट रहने वाला, मधुर भाषी कार्य करने में चतुर, पवित्र चिन्तन वाला, कार्य करने में स्थिर विचार रखने वाला, स्वामी के साथ अपराध करने में प्रवृत्त उनके पुत्र तथा पिता के ऊपर भी निगाह रखने वाला, आदि अनेक गुण, बताये हैं। इसके विपरीत गुणों के रखने वाले भृत्य के वे विरोधी हैं।[2]

श्रमिकों की मजदूरी

आचार्य शुक्र ने भृत्य के तीन प्रकार बताये हैं १—कार्यमान (कार्य के परिमाण

---

१. द्वात्रिंशांशंषोडशांशंलाभं पण्यो नियोजयेत।

— शुक्रनीति, अध्याय ४, प्रकरण ५-३१४

२. मुकुलश्च सुशीलश्च सुकर्माचनिरालसः
यथाकरोत्यात्मकार्यं स्वामिकार्य्यं ततोऽधिकम्॥
चतुर्गुणेन यत्नेन कायवांङ, मानसेन च
भृत्यैव तुष्टो मृदुवाक् कार्य्ये दक्ष शुचिर्दृढ़ः॥
परोपकरणे दक्षो ह्यपकार पराङ्मुखः
स्वाम्यागस्कारिणं पुत्रं पितरंवापिदर्शकः
अन्याय गामिनि पत्यौ यतद्रूपः सुबोधकः
नाज्ञेप्ता ताङ्गिरः कान्चित् तन्न्यूनस्या प्रकाशकः
+ + +
विपरीत गुणैरेभिर्भृतकोऽनिन्द्यउच्यते।
ये भृत्या हीन भृतिका ये दण्डेन प्रकर्षिता॥

—शुक्रनीति, अध्याय २, श्लोक ५७-६५।

के अनुसार दी जाने वाली मजदूरी) २—कालमान (काल के परिमाण के अनुसार दी जाने वाली, ३—कार्य कालमिति (कार्य तथा काल के प्रमाणानुसार दो जाने वाली) के अनुसार ये तीन प्रकार से मजदूरी देने के नियम बताये गये हैं।[१] शुक्र ने मजदूरी संबंधी अनेक नियम बताते हुए कहा है कि भृत्यों (श्रमिकों) को किसी भी स्थिति में कम पारिश्रमिक नहीं दिया जाना चाहिए। ऐसा करने पर दुष्परिणाम होने की संभावना बनी रहती है।[२] शुक्र ने श्रमिकों को बोनस दिये जाने का जिक्र किया है, जो आज भी लागू है।[३]

श्रमिकों के नियम

श्रमिक समाज का एक प्रमुख अंग माना जाता था। अतएव श्रमिकों के बारे में न केवल नियमों का प्रतिपादन किया गया हैं, अपितु उनके लिये आचार्य शुक्र ने श्रम सिद्धान्त को ही जन्म दिया है। श्रमिकों से किस समय काम लिया जाय, उनके अवकाश का समय कितना हो, उनसे किस प्रकार का काम लिया जाय, उन्हें कितनी मजदूरी दी जाय, आदि का उल्लेख शुक्र ने विस्तृत रूप से अपने शुक्र नीतिसार

---

१. कार्यमाना कालमाना कार्यकालमितिस्मिधा
भृतिसक्तात्तु तद्विज्ञै: सा देया भाषिता यथा
अयं भारस्त्वया तत्र स्थाप्य स्त्वैतावतीं भृतिम्।
दास्यामि कार्यमाना सा कीर्तिता तद्विदेशकै:
वत्सरे-वत्सरे वापि मासि-मासि दिने-दिने
एतावतीं भृतिं तेऽहं दास्यामितिचकालिका
एतावतां कार्यमिदं कालेनापित्वया कृतम्
भृतिमेतावतीं दास्ये कार्य कालमिता च सा

—शुक्र० २, ३८१-३८४

२. न कुर्याद् भृति लोपं तु तथा भृति विलम्बनम्
अवश्य पोष्य भरणा भृतिर्मध्या प्रकीर्तिता
परिपोष्या भृति: श्रेष्ठा समान्नाच्छादनार्थिका
अवेदेकस्य भरणं यया साहीन संज्ञिका।

—वही २, ३८५-३८६

\+ \+ \+

३. अष्टमांशं पारितोष्य दद्यात भृत्याय वत्सरे।
कार्याष्टमांश वा दद्यात् कार्य्यंद्रगाधिकं कृतम्॥

—शुक्रनीति, अध्याय २, श्लोक ४१२-२८।

में किया है ।[1] इन्होंने वृद्धावस्था में श्रमिकों के पेंसन की भी व्यवस्था दी है । इसके अतिरिक्त उन्होंने यह व्यवस्था भी है कि जो कर्मचारी स्वामी के यहाँ लगातार चालीस वर्षों तक कार्य कर चुका है उसे अपनी सम्पूर्ण वृद्धावस्था में और उसके बाद उसके पुत्रों को गुजारा (पेंसन) दिया जाए ।[2] उन्होंने श्रमिकों के अनेक विभाजन किये हैं जिसमें सामान्यतः राज्य श्रमिक थे अर्थात् जो श्रमिक राजा से सम्बन्धित कार्यों को करते थे । दूसरे वे श्रमिक थे जो समाज में विभिन्न वर्गों के कार्य करते थे । शुक्र ने श्रमिकों की सेवाओं तथा उन सेवाओं के अतिरिक्त प्रतिफल राजा अथवा स्वामी से प्राप्त कराने की भी चर्चा की है ।

आजकल मजदूरी के सिद्धान्त में जिसे 'बोनस' के नाम से कहा जाता है, उस समय उसका नाम पुरस्कार था । श्रेष्ठ तथा अधिक समय तक कार्य करने वाले को राजा अथवा स्वामी परितोषिक के रूप में प्रदान किया करता था ।[3] श्रमिक यदि राजा का कार्य करता हुआ विनष्ट हो जाय तो उसके परिवार की देखभाल

---

१. भृत्याना गृहकृत्यार्थं दिवायांमसमुत्सृजेत
निशि यामत्रयं नित्यं दिन भृत्येऽर्धयामकम् ।।
तेभ्यः कार्यं कारयीत ह्युत्सवाद्यैर्विनानृपः ।
अत्यावश्यं तूत्सवेऽपि हित्वा श्राद्धदिनं सदा ।।
पादहीनां भृतिं त्वार्ते दद्यात् त्रैमासिकीततः ।
पंश्चवत्सर भृत्ये तु न्यूनाधिक्यं यथा तथा ।।
षाण्मासिकी तु दीर्घार्ते तदूर्ध्वं न चकल्पयेत् ।
नेव पक्षार्धमार्तस्य हातव्याऽल्पाऽपि वैभृतिः ।।
संवत्सरोषितस्याऽपि गृह्यः प्रतिनिधिस्ततः ।
समुद्रगुणिनं त्वार्तं भृत्यर्धं कल्पयेत् सदा ।
सेवा विना नृपः पक्षं दद्यात् भृत्याय वत्सरे ।।

२. चत्वारि शतसमा नीताः सेवया येन वैनृपः ।।
ततः सेवां विना तस्मै भृत्यर्धकलपयेत् सदा ।
यवज्जीवं तु तत्पुत्रे क्षेमं बालेतदर्धकम् ।।

—शुक्रनीति, अध्याय २

३. भार्यायां व सुशीलायां कन्यायां वास्वश्रेयसे ।
अष्टमांशं परितोष्यं दद्यात् भृत्याय वत्सरे ।।
कार्याष्ट मांश वा दद्यात् कार्यद्रागधिकंकृत्तम् ।

—शुक्र २, ४००-४०१

करने अथवा उसके परिवार के जीवन निर्वाह हेतु धन देने के लिये कहा गया है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्र ने आधुनिक 'मजदूरी' के सिद्धान्त का जन्म काफी दिन पूर्व कर दिया था। यदि दोनों सिद्धान्तों को तुलनात्मक दृष्टि में रखकर अध्ययन किया जाय तो यह पता चलेगा कि शुक्र ने श्रम सम्बन्धी कितने प्रगतिशील एवं उदार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था।

उपभोग

शुक्र ने उपभोग की चार विधियाँ बताई हैं। उनका कहना है कि उत्तम भार्या, पुत्र या मित्र के लिये एवं दान के लिये नित्य धनार्जन करना हितकर है। अतः बिना इन सब मार्यादाओं के धन और भृत्यादि जनों से क्या प्रयोजन हैं अर्थात् धनादि व्यर्थ है।[2] उन्होंने धन की उपयोगिता भविष्य में भी संचित रखने हेतु बताई है। क्योंकि धन होने पर ही लोग पूछते हैं, अन्यथा मुख मोड़ कर चले जाते हैं। उपभोग की क्रियायें व्यवहार पर भी निर्भर करती हैं। व्यवहार के सम्बन्ध में शुक्र का मत है कि ऋण आदि का आदान प्रदान लिखित रूप में करना चाहिए। साथ ही लज्जा का परित्याग कर व्यवहार किया जाना चाहिये।[3]

आय प्राप्ति

आय-व्यय का लेखा शुक्र ने अनिवार्य कहा है। प्रतिवर्ष, प्रतिमास और प्रति-दिन जो सोना पशु तथा धान्य आदि, जो अपने अधीन हो जाता है अर्थात् अपने पास

---

१. स्वामि कार्ये विनष्टोयस्तत्पुत्रस्तद्भृतिवहेत् ।।
यावद्यालोऽन्यथा पुत्रगुणानदृष्ट्वा भृतिवहेत् ।
षष्ठांश व चतुर्थांश भृतेर्भृत्यस्य पालयेत् ।।
बद्यान्तवर्ध भृत्याय द्विषिवर्षेऽरिवलं तु वा ।

—शुक्रनीति, अध्याय २, श्लोक ४००-४१४

२. सुभार्या पुत्र मित्रार्थ हितं नित्यधनार्जनम् ।
दानार्थ च बिना त्वेतैः किं धनैश्च जनैश्चकिम् ।

—शुक्रनीति, अध्याय ३, श्लोक १७७

३. यथा न जानन्ति धनं संश्चित कतिकुत्रवै ।
आत्मस्त्री पुत्र मित्राणि सलेखंधारयेत तथा ।।
नैवास्ति लिखितादन्यत् स्मारकं व्यवहारिणाम् ।
न लेख्येन बिना कुयात् व्यवहार सदा बुधाः

—शुक्रनीति, अध्याय ३, श्लोक ३७६-३७८

जाता है वह आय कहलाता है और जो सोना आदि धन दूसरे के अधीन कर दिया (दे दिया) जाता है वह 'व्यय' कहलाता है।[१] शुक्र ने आय के दो भेद बताये हैं प्रथम तात्कालिक तथा द्वितीय प्राचीन, जिसे 'संचित' भी कहते हैं। इसी प्रकार व्यय भी दो प्रकार का बताया गया है १—उपयुक्त (उपभोग किया हुआ) २—विनिमयात्मक (किसी वस्तु के बदले के रूप में दिया हुआ।[२] संचित आय के तीन भेद बताये गये हैं १—निश्चितान्य स्वामिक (जिसका दूसरा कोई स्वामी निश्चित है), २—अनिश्चित स्वामिक (जिसके स्वामी का निश्चय नहीं है), ३—स्वस्वत्व निश्चय (अपना स्वत्व जिस पर निश्चित है। स्वयं संचित आय है।[3]

आय-व्यय के नियम

आय-यव्य सम्बन्धी अनेक प्रकार के नियम बताये गये हैं। शुक्र का कहना है कि जिस निमित्त (विभाग) से जो आय प्राप्त होती है, व्यय भी उसी (विभाग) के निमित किया जाना चाहिए। अर्थात् जिस विभाग में आय होती है उसी विभाग में व्यय भी होता है और आय की भाँति व्यय भी स्वल्प तथा बहुविषयक है।[४]

---

१. वत्सरे वत्सरेवापि मासि-मासि दिनेदिने,
हिरण्य पशु धान्यादि स्वाधीन त्वाय संज्ञकं।
पराधीन कृत्तं यन्तु व्यय संज्ञक धनं चयत्।
साद्यष्कश्चैव प्राचीन आय संश्चित संज्ञकः॥

—वही २. ३२१-३२७

२. व्ययो द्विधा चोपभुक्ततस्तथा विनिमयात्मकः॥

—वही २-३२३

३. निश्चितान्यस्वामिकश्चानिश्चित् स्वामिकत्तया।
स्व-स्वत्वनिश्चितं चैत्त्रिविधं संश्चितमतम्॥
निश्चितान्य स्वामिकं यद्धनं तु त्रिविधहितत्
औपनिध्यं याचितक मौत्तमर्णिक मेव च॥

—शुक्रनीति, अध्याय २, श्लोक ३२३-३२४।

४. यन्निमित्तो भवेदायो व्ययस्तन्नाम पूर्वकः
व्ययश्चैव समुद्दिष्टो व्याप्य व्यापक संयुतः
पुनरावर्तकः स्वत्वनिवर्तक इतिद्विधा
व्ययो यन्निध्युपनिधिकृतोविनिमयीकृतः
सकुसीदा कुसीदा धर्माणकश्चावृत्तः स्मृतः।

—शुक्रनीति, अध्याय २, श्लोक ३३१-३६-३८.

शुक्र ने व्यय के दो भेद बताये हैं—१—पुनरावर्तक, जो वापस मिल जाये तथा २—स्वत्व निवर्तक (देने वाले के स्वत्व को निवृत करने वाला) कहलाता है। जो व्यय-निधि, उपनिधि या विनिमय रूप में हुआ है, एवं सूद सहित या बिना सूद का, इस भाँति दो प्रकार का आधमर्णिक ये सब आवृत्त (पुनरावर्तक) संज्ञक कहलाते हैं।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि

शुक्र ने राष्ट्र के विकास हेतु आय वृद्धि का निर्देश दिया है। उनके अनुसार राजा हर प्रकार से आय प्राप्ति करने का प्रयास करे, किन्तु बिना विशेष आपत्ति पड़े, प्रजा के ऊपर अधिक जुर्माना लगाकर मालगुजारी या चुङ्गी बढ़ाकर एवं तीर्थ स्थान तथा देवोत्तर सम्पत्ति पर कर लगाकर राजा को अपना कोष नहीं बढ़ाना चाहिए।[1] संकट या आपत्ति के समय राजा द्वारा प्रजा से अधिक जुर्माना या चुङ्गी लेना उचित है।

शुल्क

शुल्क की परिभाषा बताते हुए शुक्र कहते हैं कि बेचने तथा खरीद करने वाले से राजा को अपना अंश लेता है, उसे शुल्क कहते हैं। इसके नियमों के बारे में कहा गया है कि शुल्क लेने वाला स्थान बाजार के मार्ग (खरीदने वालों से लेने के लिए) तथा कर सीमा (चुङ्गी लगने के स्थान की सीमा पर बना घर) जहाँ पर व्यापारियों और बेचने वालों से चुङ्गी ली जाती है, समस्त वस्तुओं की प्रयत्न पूर्वक एक बार ही चुङ्गी ली जानी चाहिए।[2] राजा बेचने या खरीदने वालों से वस्तु के मूल्य का ३२वाँ अंश चुङ्गी के रूप में ग्रहण करे अथवा मूलधन को छोड़कर लाभ में से २०वाँ या १६वाँ अंश चुङ्गी लेवे। जिस विक्रेता को मूलधन से कम या बराबर मूल्य वस्तु का मिले, उससे चुङ्गी न लेवे और राजा थोड़े

---

१. येन-केन प्रकारेण धनं संचिनुयान्नृपः
तेन संरक्षयेद्राष्टं बलं यज्ञादिकाः क्रियाः
अन्येयानार्जितोयस्माद्येनतत्यायभावचसः ।।
सुपात्रतोगृहीतं यद्दत्तंवावर्धते च यत् ।
—शुक्रनीति, मिहिरचन्द्रेन विरचित, अध्याय ४, श्लोक ११७-१२०

२. विक्रेतृकेतृतो राजभागः शुल्कःमुदाहृतम् ।
शुल्कदेशा हट्टमार्गाः कर सीमाः प्रकीर्तितः ।
वस्तु जातस्यैक्वारं शुल्कं ग्राह्य प्रयत्नतः ।
—शुक्रनीति, अध्याय ४, कोश प्रकरण, श्लोक १०४, ५

मूल्य से अधिक द्रव्य का लाभ देखकर तदनुसार ही खरीदने वाले से सदा चुङ्गी लेवे ।[१]

कर

शुक्र ने विभिन्न प्रकार के करों का उल्लेख किया है। (१) भूमि कर, (२) सिंचाई कर, खान आदि पर कर, पशु कर, शिल्प कलाओं पर कर आदि का विवरण शुक्र ने प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार राजा को जबरन किसी से कर नहीं लेना चाहिए।[२] माली जैसे लता आदि से थोड़ा-थोड़ा फूल चुनता है, उसी भाँति राजा भी थोड़ा कर लेवे, किन्तु जैसे कोयला बनाने वाला सम्पूर्ण वृक्षों की जड़ों को जलाकर, कोयला बनाता है, वैसा सम्पूर्ण कर रूप में न ले लेवे और बहुत मध्यम तथा कम पैदावार के तारतम्य को समझ कर तदनुसार ही कर लेवे।[३] वर्षा से सिंचाई होने वाले खेतों से १।४, नदी की सिंचाई पर १।२ तथा बंजर व पथरीली जमीन की आय पर १।६ अंश कर के रूप में लेने का विधान है।[४]

आचार्य शुक्र ने किसी कुटुम्ब के पालनार्थ रखी हुई गो आदि के दुग्ध पर कर न लेने की बात कही है। साथ ही अपने उपभोग के लिए धान्य तथा वस्त्र खरीदने वाले से भी कर ग्रहण का निषेध बताया है। परन्तु व्यापारी से लाभ का ३२वाँ भाग लेने का जिक्र किया गया है।[५]

---

१. वार्धुषिकाश्च कौसीदा द्वात्रिंशांश हरेन्नृपः ।
गृहाद्याधार भूशुल्कं कृष्टभूमिरिवाहरेत् ॥
—शुक्रनीति, अध्याय ४, श्लोक २३६

२. दण्डभूभाग शुल्कानामाधिक्यात्कोशवर्धनं
अनापदिन कुर्वीत तीर्थ देवकरग्रहात्
यदाशत्रु विनाशार्थबल संरक्षणोद्यतः ।
विशिष्ट दण्ड शुल्कादिधनं लोकात्तदाहरेत—शुक्र ४, २४, २५

३. मालाकारस्य वृत्यैवस्वप्रजारक्षणेन च—शुक्र ४, ३३

४. तृतीयांशचतुर्थांशमर्धांशतु हरेत्फलं
षष्ठांश मुखरातद्वत्पाषाणादि समाकुलात्
—शुक्रनीति, अध्याय ४, श्लोक २३७

५. गवादि दुग्धान्नफलं कुटुम्बार्थाद्धरेन्नृपः
उपभोगे धान्य वस्त्र क्रेतृनो नाहरेत्फलं ॥
—शुक्रनीति, अध्याय ४, श्लोक २३८

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि कर लगाते (करारोपण) समय, आय तथा व्यवसाय का विशेष ध्यान रखा जाता था। यद्यपि आज की भाँति कर की चोरी करने का कोई उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी देख-रेख के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की गई थीं, आचार्य कौटिल्य ने तो कर की चोरी करने वाले को दण्ड देने का विधान बताया है ही उसके साथ-साथ, अधिकारियों के लिए भी अनेक प्रकार के नियम बनाये थे। स्मरणीय है कि उन्होंने परोक्ष कर पर कोई विशेष बल नहीं दिया है, क्योंकि सामान्यतः करों का निर्धारण ही इस प्रकार किया गया था कि 'परोक्ष' की कोई गुञ्जाइश न थी।

कर्म सिद्धान्त

वैसे तो इसके पूर्व के आचार्यों ने भी कर्म के सिद्धांत का निरूपण किया है, किन्तु आचार्य शुक्र का कर्म सिद्धांत एक विशेष आर्थिक प्रक्रिया पर आधारित है। चार पुरुषार्थों का आर्थिक क्रियाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ कर्म के सिद्धांत पर आधारित है। शुक्र कर्म के सिद्धांत पर अटूट विश्वास रखते हैं। उनका कहना है कि 'श्रेष्ठ गति अथवा दुर्गति प्राप्ति का एकमात्र कारण कर्म ही है, कर्म का परित्याग करने पर कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती।[1] शुक्र ने भी गुण और कर्म के अनुसार आर्य तथा अनार्यों को चार भागों में विभक्त किया है।[2] उनका कहना है कि पूर्व जन्म के संस्कार के आधार पर ही प्रत्येक कार्य होता है।[3] परस्पर एक दूसरे के गुण पर विशेष आकर्षण भी कर्म का सिद्धांत कहलाता है और यह सब पूर्व संस्कार पर निर्भर है, जबकि वैधानिक प्रमाण शुक्र के कर्म पर निर्भर करता है।

राष्ट्र की समृद्धि

राष्ट्र का सारा अस्तित्व ग्रामीण किसानों अर्थात् कृषि व्यवस्था पर निर्भर

---

१. कर्मैव कारणं चात्र सुगतिं दुर्गतिं प्रति।
कर्मैव प्राक्तनमपि क्षणं किं कोऽस्ति चाक्रियः॥

—शुक्रनीति, अध्याय १, श्लोक ३७

२. न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव च।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदितागुणकर्मभिः

—शुक्रनीति, अध्याय १, श्लोक ३८

३. प्राक्कर्मफल भोगार्हा बुद्धिः सञ्जायतेनृणाम्।
पाप कर्माणि पुण्ये वा कर्तुं शक्तोन चान्यथा॥

—शुक्रनीति, अध्याय १, श्लोक ४५-४६

करता था। अतः ग्रामवासियों की सुरक्षा एवं सुख सुविधा का पूरी तरह ध्यान रखा जाता था। शुक्र ने किसी भी अन्य कार्य (अपने कार्य को छोड़कर) में सैनिकों की नियुक्ति का निषेध किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र की समृद्धि के भी अलग-अलग नियम बनाये गये थे। सैनिकों का महत्व अपने स्थान पर था, वे ग्राम्य जीवन की अर्थव्यवस्था में कोई भी हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। उनका कार्य केवल परस्पर ईर्ष्या रखने वाले देशों से अपनी प्रजा को सुरक्षित रखना था। जितना अधिक उत्तरदायित्व ग्रामीण किसानों का उत्पादन बढ़ाने में होता, उतना ही उत्तरदायित्व सेना का युद्ध-स्थल में होता था। यह स्पष्ट है, कि दोनों एक दूसरे के पूरक थे।

सोना तथा विनिमय का अनुपात

आचार्य शुक्र ने विभिन्न धातुओं के आनुपातिक सम्बन्धों का विवेचन किया है। उनका कहना है कि सोने का मूल्य चांदी के मूल्य से १६ गुना अधिक होता था। अर्थात् सोने तथा चाँदी का अनुपात १६,१ था। इसी प्रकार ताँबा तथा चाँदी के मूल्य में भी आनुपातिक सम्बन्ध बताया है।[2] शुक्र के इस अनुपातिक नियम से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आज सोने तथा चाँदी के मूल्य में कितनी अधिक वृद्धि हुई है। इस विचार से न केवल धात्विक ज्ञान का सम्बन्ध स्पष्ट होता है, अपितु व्यापारिक नियमों का भी पता चलता है। इन धात्विक मूल्यों का सम्बन्ध सामाजिक रहन-सहन के स्तर तथा उद्योग धन्धों पर भी प्रभाव डालता है। हम देखते हैं कि कई सौ वर्ष बाद भी आज की आर्थिक व्यवस्था में आचार्य शुक्र के ये विचार प्रयोगात्मक रूप में कार्यान्वित किये जा सकते हैं। किसी भी धातु का विनिमय उसके मूल्य पर निर्भर करता है। जब तक पारस्परिक धातुओं के मूल्यों का

---

१. नृप कार्य बिना कश्चिन्न ग्रामं सैनिको विशेत्।
तथा न पीड़येत् कुत्र कदापि ग्रामवासिनः॥
सैनिकैः न व्यवहारेत नित्य ग्राम्यजनोऽपि च।
युद्धक्रिया बिना सैन्यं योजयेन्नान्यकर्मणि॥

—शुक्रनीति, अध्याय ५, श्लोक १८०-१८२-१८५

२. रजतं षोडस गुणं भवेतस्वर्णस्यमूल्यकम्
ताम्र रजतमूल्यं स्यात् प्रायोऽशीतिगुणं तथा।

—शुक्रनीति, अध्याय ४, श्लोक १८१।

The ratio was 3:40 in the days of Darious the great and about 1:9 in the first century A. D. See B. V. Head Historia Numorum, PP. XL-XLI-826 and 832.

ज्ञान नहीं होगा, तब तक किसी भी वस्तु का विनिमय अथवा व्यापार सफल नहीं हो सकेगा।

ऋण तथा व्याज

ऋण तथा व्याज का नियम बताते हुए शुक्राचार्य कहते हैं कि ऋण लेने वाले को सूद देने में समर्थ देखकर सदा बन्धक या किसी की जमानत पर और गवाही के साथ लिखा पढ़ी करके उचित मात्रा में लौटाने लायक धन देना चाहिए और व्याज के लाभ से उपयुक्त रीति से भिन्न अवस्था में धन नहीं देना चाहिए, नहीं तो मूल धन नष्ट होने की संभावना रहती है। दूसरी बात यह कि बिना साक्षी या ऋण पत्र पर लिखे ऋण नहीं देना चाहिए।[1]

शुक्र आर्थिक विचारकों के अन्तिम आचार्य कहे जा सकते हैं इनके समय तक सामाजिक परिस्थितियों में काफी परिवर्तन हो गया था। यही कारण है कि सुवर्ण विनिमय के अनुपात सम्बन्धी इनके विचार आधुनिक सिद्धान्तों से मिलते जुलते हैं। आचार्य शुक्र के बाद कोई ऐसा विचारक नहीं हो सका जो आर्थिक विचारों को नई दिशा दे सके। यही कारण है कि आज तक ये विचार, ज्यों के त्यों उपेक्षित पड़े हुए हैं।

---

१. नैवास्ति लिखितादन्यत् स्मारकं व्यवहारिणाम्
न लेख्येन विना कुर्याद् व्यवहारं सदाबुधः
दृष्ट्वा धर्मणं वृद्धयापि व्यवहार क्षमंसदा।
सम्बन्धं सम्प्रतिभुवधनं दद्याच्चसाक्षिमत।
गृहीतलिखितं योग्यमानं प्रत्यागमे सुखम्।
नदद्यात् वृद्धि लोभेन नष्टं मूलधनं भवेत्।

—शुक्रनीति, अध्याय २, श्लोक १८७, १८०, १८१

अध्याय ११

प्रकीर्ण साहित्य

भगवद् गीता

अध्याय ११

भगवद् गीता में कर्म का सिद्धान्त

भारतीय मनीषी आदि काल से ही कर्म को प्रधानता देते रहे हैं। उनका विचार था कि अपने-अपने कर्मों में लगे रहने पर ही मनुष्य उन्नति कर सकता है। यही कारण है कि गुण और कर्म की प्रधानता सामने रख कर समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त कर दिया गया था। श्रीमद्भगवद् गीता में इसका पूर्णतः उल्लेख किया गया है। 'गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं।[१] गीताकार का कहना है कि यह विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा विभक्त किया गया है।[२] सामाजिक और आर्थिक विचारों के क्षेत्र में कर्म को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। प्रत्येक वर्ग के लोगों के कर्म को बाँट कर उनके लिये नियम बना दिये गये थे। उन्हीं के आधार पर समाज के सारे कार्य सम्पन्न होते थे। गीता-कार की मान्यता है कि अपने-अपने कर्मों को करके ही व्यक्ति जीवन में सफल होता है अन्यथा नहीं।[3]

कर्म के उपर्युक्त भेदों से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण का कार्य तप, इन्द्रिय निग्रह, ज्ञान, विज्ञान की चिन्ता करना, क्षत्रिय का कर्म युद्ध में निपुणता, उससे परांग

---

१. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।

—गीता अध्याय ४ श्लोक १३

२. ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणां च परतंप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव च प्रभवैर्गुणैः॥

—गीता अध्याय १८ श्लोक ४१

३. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।
शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्य पलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्मस्वभावजम्।
परिचर्यात्मिक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

—गीता, अध्याय १८ श्लोक ४२,४३,४४

मुख न होना, वैश्य का कर्म खेती करना, पशुपालन करना तथा व्यापार करना है। शूद्र के लिए परिचर्यात्मक कर्म का विधान है। कृषि, गोरक्षं वाणिज्यं च वार्ता, अर्थात् अन्तिम श्लोक वार्ता शास्त्र पर आधारित है। यह स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया था कि वैश्य ही कृषि अर्थात् खेती करने का अधिकारी है। उसका मुख्य कार्य वस्तुओं को खरीदना तथा बेचना, तौल, माप, गणना आदि में सत्य व्यवहार कायम रखना है।[२] इसके विपरीत गणना आदि से वस्तुओं को कम देना अथवा अधिक लेना, वस्तु को बदल कर दूसरी (खराब) वस्तु मिला कर दे देना, आढ़त और दलाली ठहरा कर किसी वस्तु का अधिक दाम लेना या कम दाम देना, झूठ, कपट, चोरी और जबर-दस्ती अथवा अन्य किसी प्रकार से दूसरे के हक को मार लेना इत्यादि दोषों से रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओं का व्यापार है, उसका नाम ही सत्य व्यवहार है।

गीता में 'कर्म' को इतनी अधिक प्रधानता दी गई है कि यदि किसी वर्ग के लिये निर्धारित किसी कर्म दोष युक्त होने पर भी स्वाभाविक कर्म को ही नहीं त्यागना चाहिए क्योंकि धुएँ से घिरी अग्नि के सदृश सभी कर्म (किसी न किसी) दोष से आवृत्त हैं।[१] उनका कहना है कि प्रकृति के अनुसार शास्त्र विधि से नियत किये गये जो वर्णाश्रम के धर्म और सामान्य धर्म रूप स्वाभाविक कर्म है, उनको ही यहाँ स्व-धर्म, सहज कर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावज कर्म, स्वभाव नियत कर्म आदि नामों की संज्ञा दी गई है। इस महत्वपूर्ण विवेचन से आर्थिक विचारों को बल मिलता है। अतएव इनका परिज्ञान परमावश्यक है।

गीता में कर्म के साथ ही धर्म के सम्बन्ध को जोड़ दिया गया है, क्योंकि गीताकार यह स्पष्ट रूप से कहते हैं—'शास्त्र विधि से नियत किये हुये स्वधर्म, कर्म को करे, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। तथा कर्म न करने

---

१. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिलभतेनरः।
स्व कर्म निरतः सिद्धि यथाविन्दति तच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदंततम्।
स्व कर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ॥

—गीता, अ० १८, श्लोक ४५, ४६

१. सहजं कर्मकौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

—गीता, अध्याय १८, श्लोक ४८

से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।[1] गीताकार के अनुसार प्रजा की सृष्टि आदि काल में ब्रह्मा ने की। उसके साथ-साथ ब्रह्मा ने यज्ञ (विभिन्न देवताओं) को दी गई आहुति की क्रिया को कल्पित किया, अतः यह कर्म ही सभी कर्मों का स्रोत है। इसी के माध्यम से उत्पादन (अन्नोत्पादन) उपभोग, वितरण आदि की क्रियाये सम्पन्न होती हैं।[2]

गीताकार का मत है कि अधिकतम सामाजिक कल्याण भी कर्म के द्वारा ही है, क्योंकि पर्याप्त धन की प्राप्ति तभी संभव है, जब उसके स्वामी प्रसन्न हो, अर्थात् साधनों की बहुलता हो। अन्न के देवतागण तभी प्रसन्न होंगे, जब हम उन्हें भोजन (यज्ञ) देंगे। इस प्रकार दोनों एक दूसरे पर निर्भर करते हैं।[3]

प्रत्येक प्राणी का आर्थिक जीवन से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बारे में अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। गीता में मनुष्य को अपनी आर्थिक क्रियायें अर्थात्, उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण आदि को सम्पन्न करने हेतु अधिकतम परिश्रम करने की सलाह दी गई है। जो परिश्रम नहीं करता उसे विपत्तियाँ तथा धनाभाव का संकट करना पड़ता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि गीता तथा अन्य शास्त्रों में वर्णित कर्म का सिद्धान्त आर्थिक विकास की नींव है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य से लेकर वर्तमान काल पर्यन्त आर्थिक क्रियाओं का सम्पादन कर्म के द्वारा ही संभव हो सकता है। जितनी अच्छी और अधिक खाद या रसायनिक पदार्थों को खेत में डाला जायेगा, उतना ही अच्छा अन्न उत्पन्न होगा। यह सिद्धान्त केवल आर्थिक क्रियाओं में ही नहीं अपितु अनार्थिक क्रियाओं में भी प्रमाणिक होता है।

---

१. नियतं कुरु कर्मत्वं कर्मज्यायोऽह्मिकर्मणः।
शरीर यात्रापि च तेन प्रसिद्धयेद्कर्मणा॥

—गीता, अध्याय ३ श्लोक ८

२. सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वाः पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्वकामधुक्॥

—गीता, अध्याय ३ श्लोक १०

३. देवान्भाव यतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयतः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ भाविताः।

—गीता ३, ११, १२

कर्म की आवश्यकता

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि कर्मवाद का सिद्धान्त कोई नया नहीं है। आचार्य मनु तथा सभी श्रुतियों में इसे प्रधानता दी गई है। सृष्टि का सृजन ही कर्म के द्वारा हुआ है। अतः जीवन से कर्म को किसी भी स्थिति में अलग नहीं किया जा सकता। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष अर्थात् चार पुरुषार्थों तथा वर्णाश्रमों की समस्त क्रियायें कर्म पर आधारित हैं। यही कारण है कि सभी प्राचीन मनीषियों ने कर्म की ओर विशेष बल दिया है। राजा और प्रजा के सम्बन्ध के मध्य भी कर्म का महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रजा का कार्य है कि वह कर्म की ओर प्रवृत्त होकर राज्य की समृद्धि एवं विकास को आगे बढ़ाये। राज्य का कर्तव्य है कि प्रजा को कर्म करने योग्य बनाने तथा उसे काम देने के लिये सदा प्रयत्नशील रहे, क्योंकि प्रजा के अकर्मण्य हो जाने के बाद राज्य की सारी गतिविधियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं।

कर्म ही धर्म है

कर्म के अंतर्गत जो पेशा, या रोजगार हम अपनाते हैं, उसी को तन-मन धन लगाकर करना ही परम धर्म है। गीता में इसे स्वधर्म की संज्ञा दी गई है। इसी के लिये स्वधर्म में मरण को श्रेष्ठ और परधर्म को भयावह बताया गया है।[१] शिक्षक का धर्म है अपने विषय का अधिक से अधिक अध्ययन करना और दक्षता से शिष्यों को उस विषय की शिक्षा देना। यही नियम सभी वर्ग के लोगों पर लागू होता हैं। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य ही उसका धर्म है।

जो शास्त्र अथवा विधि नियम कर्म में लगा है, वह कर्मण्य व्यक्ति कहलाता है, किन्तु शास्त्र के विरुद्ध कार्य करने वाला व्यक्ति अकर्मण्य असाधु, कहलाता है। कर्म में उचित एवं अनुचित साधनों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में भी भेद बताया गया है। परन्तु राज्य द्वारा अधिकारों में किसी विशेष परिस्थिति के अनुकूल ही विभेद उत्पन्न किया गया है, जिसे वर्तमान समय में 'समान अधिकार' के रूप में बदल दिया गया।

वैदिक काल में सम्पत्ति का अधिकारी ईश्वर को माना गया। ईश्वर प्रदत्त राजा उसका रक्षक बना किन्तु धीरे-धीरे यह सम्पत्ति व्यक्ति विशेष के अधिकार में आती चली गई। वस्तुतः यह सिद्धान्त रहा है कि जितने में पेट भर जाय (आवश्यक

---

१. स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

—गीता ३.३५

आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय) वहाँ तक देहधारियों का स्वत्व है। इससे अधिक पर जो अपना अधिकार मानता है वह चोर है और दंडनीय है। भारतीय विधि शास्त्रों के आदि आचार्य मनु पहले ही यह व्यवस्था दे चुके थे, जो आर्यों, द्रविण और तत्पश्चात् हिन्दू राज्यों में निरंतर प्रयोग की जाती रही।

कर्म के नियम

गीता में जहाँ पर कर्म करने पर बल दिया गया है, वहीं कर्मों के नियमों का भी उल्लेख किया गया है। गीता में स्पष्ट कहा गया है कि 'मनुष्य को कर्म करना चाहिए, किन्तु फल प्राप्ति की आकांक्षा नहीं होनी चाहिए। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि फल की आकांक्षा त्यागने से कर्म ही न छूट जाए।[1] इसके अतिरिक्त आसक्ति को त्याग कर सिद्धि एवं असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर कार्यरत होने की भी सलाह दी गई है।[2] गीता में कर्म के तीन भेद बताये गये हैं। कर्म, अकर्म, विकर्म या निषिद्ध कर्म।[3] इन्हीं तीनों कर्मों के आधार पर समस्त क्रियाओं का संचालन होता है।

अनासक्ति

वस्तुतः मनुष्य आर्थिक तथा अनार्थिक क्रियाओं में इतना अधिक लिपायमान हो जाता है कि उसे किसी भी कार्य में संतोष की सीमा नहीं प्राप्त होती है। यही कारण है कि गीता में समस्त कामनाओं का परित्याग करने पर बल दिया गया है। यदि मनुष्य आवश्यकता से अधिक किसी कार्य में आसक्त न होगा, तो उसे मानसिक शान्ति एवं संतोष दोनों प्राप्त होगा।[4] मानसिक अशांति का आर्थिक क्रियाओं से

---

१. कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतु र्भूर्मा तेसंगोऽस्त्वकर्मणि।

—गीता, अध्याय २, श्लोक ४७

२. योगस्थः कुरुकर्माणि संगं त्यक्त्वाधनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वासमत्वंयोग उच्यते॥

—गीता अध्याय २, श्लोक ४८

३. कर्मणोह्यपिबोधव्यं बोधव्यं च विकमर्णः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

—गीता, अध्याय ४, श्लोक १७

४. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

—गीता, अध्याय २, श्लोक ७१

घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आज पूंजीवादी देशों में लोगों को अशान्ति का मात्र एक कारण आर्थिक एवं अनार्थिक क्रियाओं में अधिक लिपायमान होना है।

जनसाधारणकृत अर्थव्यवस्था

कर्मवादी अर्थव्यवस्था राज्य द्वारा नियंत्रित उद्योगों का प्रतिपादन नहीं करती। कोई भी व्यक्ति न्यायपूर्वक कितना भी लाभ कमा सकता है। न्यायपूर्वक अर्जित धन को कर्मवाद का साधन नहीं माना जाता। यदि प्रत्येक प्राणी को भोजन, वस्त्र और निवास का मूल अधिकार प्राप्त है, तो राज्य के किसी व्यक्ति को कोई यह आपत्ति नहीं हो सकती, दूसरों के पास कितना धन संचित है। किन्तु यदि देश में प्राप्त अधिकारों में असमानता है, तो राजा मूल अधिकारों की सुरक्षा हेतु समृद्ध वर्ग से अनुपाततः सम्पत्ति बिना किसी प्रतिकार के ग्रहण कर सकता है, क्योंकि उतनी सम्पत्ति वास्तव से उस जरूरतमंद वर्ग की ही सम्पत्ति है, जो धनिकों के हाथ में है। कर्मवादी तंत्र में राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वतंत्र व्यवसाय या पेशा रखने वाले लोगों और सेवा में लगे व्यक्तियों का समान रूप से संरक्षण करे।

कर्ता, कर्म तथा ज्ञान का सामंजस्य

गीता में ज्ञानी तथा अज्ञानी पुरुष के रूप में कर्म करने वालों का उल्लेख किया गया है। ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय को कर्मों का प्रेरक बताया गया है।[1] इसी प्रकार ज्ञान, कर्म तथा कर्ता इनमें भी भेद बताये गये हैं।[2] गीताकार का मत है कि बिना युक्ति तत्व अर्थ से रहित ज्ञान तामस से युक्त होता है।[3] शस्त्र विधि के अनुसार किया गया कर्म सात्विक होता है तथा फल कीं कामना से किया गया कर्म राजस

---

१. ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म संग्रहः ॥

—गीता, अध्याय १८, श्लोक १८

२. ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैवगुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणुतान्यपि ॥

—गीता, अध्याय १८, श्लोक १९

३. यत्तु कृतस्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

—गीता, अध्याय १८, श्लोक २२

कहलाता है ।[1] परिणाम हानि, हिंसा को न विचार कर लिया गया कर्म तामस से युक्त होता है ।[2] कर्त्ता को भी इन्हीं तीनों गुणों में विभक्त किया गया है । इसी के आधार पर कर्मवादी तंत्र में आर्थिक व्यवस्थायें नियोजित की गई हैं ।

सेवा कर्म करने वालों का संरक्षण

गीता का कर्मवाद लोकसेवकों या वैयक्तिक सेवकों में भेद नहीं करता । वह समस्त सेवक वर्ग को और कर्मकारों को एक रूप वेतन और सुविधायें देने के पक्ष में है, क्योंकि सेवक वर्ग मानव समाज का मूल अधिकार माना गया है ।

कर्म का सीधा सम्बन्ध किसी भी प्रकार के कार्य करने से है, सुकर्म एवं दुष्कर्म ये क्रियाओं का परिणाम है, मनुष्य प्रायः दो ही प्रकार के कर्म करता है—आर्थिक एवं अनार्थिक । अतएव प्रारम्भ से ही कर्म की प्रधानता मानी गई है । गीता में वर्णित कर्म का सिद्धान्त भी आर्थिक धार्मिक क्रिया अथवा क्रिया की ओर प्रेरित करता है । 'कर्म' की प्रेरणा से ही आर्थिक विचारों को समय-समय पर प्रगति का अवसर मिला है ।

---

१. यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते वहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

—गीता, १८, २४

२. नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म तत्सात्त्विकमुदाहृतम् ॥

—वही १८, २३

कालिदास

कालिदास

महाकवि, महान् नाटककार कालिदास की रचनाओं का जब हम अनुशीलन करते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि वह मात्र अर्थशास्त्रवेत्ता ही नहीं थे, वरन् उनकी गणना प्रथम कोटि के सामाजिक चिन्तकों और विचारकों में की जा सकती है। उनकी पैनी दृष्टि तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं पर समान रूप से थी। कालिदास ने समाज के आर्थिक जीवन की विषद व्याख्या स्थल-स्थल पर की है और आर्थिक दृष्टि से राजा तथा जनमानस के विभिन्न वर्गों और श्रेणियों के अधिकारों तथा कर्तव्यों पर प्रकाश डाला है, विवेचना की है और मार्गदर्शन किया है। कृषि सभ्यता का प्रतीक स्नेह और करुणा के काव्य रघुवंश में नन्दिनी तथा गाय की रक्षा के लिये अपने प्राणों का बलिदान देने वाले दिलीप का चरित्र-चित्रण करके कालिदास ने शासक के मंगलकारी, प्रजावत्सल, न्यायप्रियस्वरूप को सामने रखा है। प्रसंग है कि आत्मदानी राजा दिलीप से प्रसन्न होकर नन्दिनी ने जब कहा कि "तू दोने में मेरा दूध दुह कर पी जा, मैं तेरी इच्छा पूरी करूँगी" तब राजा दिलीप ने उत्तर दिया "हे मा! मैं चाहता हूँ कि बछड़े के पी चुकने पर और हवन क्रिया से बचने पर ऋषि की आज्ञा लेकर ही मैं उसी प्रकार तुम्हारा दूध ग्रहण करूँ जैसे राज्य की रक्षा करने के उपरान्त मैं उसकी आय का छठा भाग ग्रहण करता हूँ।"[१]

दिलीप के पुत्र महाराज रघु का वर्णन करते हुए कालिदास कहते हैं, "दिग्विजय से लौट कर रघु ने विश्वजित नामक यज्ञ किया जिसमें उन्होंने अपनी सारी सपत्ति दक्षिणा में दे दी। जैसे बादल पृथ्वी से जल लेकर फिर उसे पृथ्वी पर ही बरसा देते हैं, वैसे महात्मा लोग भी धन को दान करने के लिए ही एकत्र करते हैं।"

महादानी महाराज रघु अपना सर्वस्व दान कर चुकने पर बैठे थे कि उनके सामने महर्षि वर्तन्तु के शिष्य कौत्स गुरु दक्षिणा के लिये धन माँगने के लिए आ पहुँचे। रघु ने अतिथि का स्वागत सत्कार करते हुए उनके गुरु का कुशल मंगल

---

१. वत्सस्य होमार्थ विधेश्च शेष मृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुंषष्ठांश मूर्व्यं इव रक्षितायाः॥

—रघुवंश, सर्ग २, श्लोक ६६

पूछा । साथ ही उन्होंने यह भी पूछा, "आपने आश्रम के जिन वृक्षों के थाले बाँध कर उन्हें अपने पुत्र के समान जतन से पाला है और जिनसे पथिकों को छाया मिलती है उन वृक्षों को आँधी पानी से कोई हानि तो नहीं पहुँची है ? और, हरिणियों के वे छोटे बच्चे तो कुशल से हैं न, जिन्हें ऋषि लोग बड़े प्यार से गोद में बैठा कर खिलाते हैं जिनकी नाभि का नाल सूख कर ऋषियों की गोद में ही गिरता है और जिन्हें ऋषि लोग यज्ञ के लिये बटोरी हुई कुशा को भी खाने से नहीं रोकते । हाँ, उन नदियों का जल तो ठीक है न जिसमें आप लोग प्रतिदिन स्नान, संध्या, तर्पण आदि करते हैं और जिनकी रेती पर आप लोग अपने चुने हुए अन्न का छठा भाग राजा का अंश समझ कर छोड़ते हैं ।[1] तिन्नी के जिस अन्न और जिन फलों से आप लोग अतिथियों का सत्कार करते हैं और जिन्हें खाकर ही आप लोग रह जाते हैं, उन्हें आस-पास के गाँवों के पशु आकर चर तो नहीं जाते ? क्या ऋषि ने आपकी विद्वता से प्रसन्न होकर आपको गृहस्थ बन जाने की आज्ञा दे दी है, क्योंकि आपकी इतनी अवस्था भी हो गयी है कि आप विवाह करें और सर्वमंगलकारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें ।"

रघुवंश के सत्रहवें सर्ग में महाराज अतिथि के वर्णन तथा अन्य शासकों के वर्णन में कालिदास ने युग प्रतिष्ठत सभी विद्याओं, चौसठ कलाओं, चार पुरुषार्थों का सर्वत्र ध्यान रखा है और अपने नायकों में इन सारे गुणों और विशेषताओं को मूर्तमान् होते चित्रित किया है। शासन का चित्रण करते समय 'सप्तागों' का भी ध्यान रखा है और उन्हें प्रतिफलित होते दिखाया है।

राज्य

कौटिल्य की भाँति कालिदास ने भी राज्य के सात अंगों को स्वीकार किया है, और आधुनिक राजनीतिज्ञ भी इसे स्वीकार करते हैं । सप्तांग राज्य की परिकल्पना आर्थिक संगठन का द्योतक है । इसी के माध्यम से समस्त क्रियायें सम्पादित की जाती थीं । राज्य के किसी भी अंग के लिए खतरा होने पर उसकी समस्त आर्थिक क्रियाओं में प्रभाव पड़ता था । राज्य के इन सात अंगों में राजा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । कालिदास ने भी राजा को दैवी शक्ति का प्रतीक स्वीकार किया है और उसी के अनुरूप वह उसके व्यक्तित्व और कृतित्व का वर्णन तथा चित्रण करते हैं । कालिदास के अनुसार भी राजा का राज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । समस्त क्रियाओं का

---

१. निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्योनिवापांजलयः पितृणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठांकित सैक्तानि शिवानिवस्तोर्थजलानिकच्चित् ॥
—रघुवंश, सर्ग ५, श्लोक ८

उत्तरदायी वही हुआ करता था ।[1] राज्य की संपदा, सुख-संपन्नता, आन्तरिकशान्ति तथा बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा का सारा उत्तरदायित्व राजा का होता था ।

आर्थिक स्थिति

कालिदास के काव्य एवं नाट्यग्रन्थों में राज्यों, नगरों तथा ग्रामीण जीवन का वर्णन मिलता है। इनका अनुशीलन कर तत्कालीन आर्थिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है । उन्होने जहाँ एक ओर समाज के धनी वर्ग का चित्रण किया है, वहीं दूसरी ओर सामान्य वर्ग के लोगों की सामाजिक एव आर्थिक स्थिति का भी वर्णन किया है। फलत: यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक विषमता उस समय भी विद्यमान थी । इतना अवश्य था कि समाज विकास की दिशा में अग्रसर था और नाना प्रकार के उद्योग-धन्धों, वाणिज्य-व्यवसाय आदि का पर्याप्त विकास हो चुका था । कालिदास के ग्रन्थों का अवलोकन करने पर पता चलता है कि वह आर्थिक प्रगति एवं सामाजिक न्याय के प्रबल समर्थक थे ।

राष्ट्रीय सम्पत्ति

कालिदास ने राष्ट्रीय सम्पत्ति के संवर्द्धन हेतु निम्नलिखित स्रोत बताये हैं । कृषि को राष्ट्रीय संपत्ति का प्रथम साधन माना गया है। उसे वैदिक युग के पूर्व से ही प्रमुख स्थान प्राप्त था । देश की अधिकांश जनता कृषि पर ही निर्भर करती थी । अतएव कृषि से उत्पन्न वस्तुओं से ही राष्ट्र को आय प्राप्त होती थी । पशुपालन लोगों का दूसरा धंधा था । स्वयं राजा दिलीप के पास न केवल असंख्य गौवे थीं बल्कि करोड़ों गाएँ देने की उनमें क्षमता थी ।[2] इसके अतिरिक्त वाणिज्य, (व्यापार) विभिन्न प्रकार की धातुओं जैसे बहुमूल्य पत्थर, हीरे, जवाहरात, सोना, मोती, सूक्ति आदि अनेक प्रकार की धातुओं से भी आय प्राप्त होती थी।

कृषि

कालिदास की कृषि व्यवस्था वैज्ञानिक तो नहीं किन्तु साधन सम्पन्न कही जा सकती है । हरे भरे मैदानों तथा समुद्र के किनारे-किनारे लहलहाती फसलों के वर्णन से सिद्ध होता है कि आर्थिक विचारों में काफी अधिक प्रौढ़ता आ गई थी । कृषकों

---

१. नृपस्य वर्णाश्रमपालनंयत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।

—रघुवंश, सर्ग १४, श्लोक ६७

२. अथैक धेनोरपराध चण्डाद गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि
शक्योऽस्य मन्युभवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः

—रघुवंश, सर्ग २, श्लोक ४९

को इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान था, कि कौन सी भूमि उपजाऊ तथा कौन सी अनुपजाऊ है तथा किस प्रकार से अनुपजाऊ जमीन को उपजाऊ बनाया जा सकता है। उस समय कृषि वर्षा पर आश्रित रही है।[1] कालिदास ने अनेक प्रकार की फसलों का जिक्र किया है। उनके समय में धान की खेती बहुत वैज्ञानिक रीति से की जाती थी।[2] इससे स्पष्ट होता है कि कालिदास स्वयं आर्थिक विचारक थे और उन्होंने तत्कालीन आर्थिक प्रगति को समाज के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया है।

कृषि में अधिकाधिक उत्पादन बढ़ाने के लिये बैलों के द्वारा खेत की जुताई की जाती थी। सांड, खच्चर, ऊँट आदि जानवरों का भी प्रयोग जगंली इलाकों में किया जाता था। कालिदास ने बड़े-बड़े चारागाहों का वर्णन किया है, जिससे पता चलता है कि पशुपालन को दृष्टि में रखकर चारागाह बनाये जाया करते थे। करोड़ों गायों[3] के पालने का जिक्र यह स्पष्ट करता है कि पशुओं को पालने की प्रक्रिया कृषि का एक विशेष अंग थी और पशुपालन अत्यन्त समृद्ध, लोकोपयोगी तथा लोक प्रचलित व्यवसाय था। पशुपालन एक सार्वदेशिक प्रक्रिया थी।

व्यवसाय

लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि तथा पशुपालन ही था, किन्तु स्वर्णकारों, शिल्पियों तथा कलाकारों द्वारा विभिन्न प्रकार की धातु सामग्री से आभूषण आदि निर्मित किये जाते थे।[4] सूत कातने, बुनने, हथियार बनाने, मछली पकड़ने,[5] नाव

---

१. त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीय मानः।
सद्यः सीरोत्कषण सुरभि क्षेत्रमारुह्यमालं
किंचित्पश्च्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण

—पूर्वमेघ, श्लोक १६

२. आपादपद्म प्रणताः कलमा इवते रघुम्। फलैः संवर्धया मासुरुत्खात प्रतिरोपिताः।

—रघुवंश सर्ग ४, श्लोक ३७

३. कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः।

—रघुवंश, सर्ग २, श्लोक ४९

४. अम्हो बउला वलिआ। सहि देविए इदं सिप्पिस आसादो आणोदं गाग मुद्दासणाहं अंगुलीअअंसिणिद्धं णिज्झा अत्तीतुहउवालम्भे पणिदम्हि —

—माल० अंक १

५. अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः
कुटुम्ब भरणं करोमि।

—अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक ६

चलाने[1] तथा अन्य प्रकार के उद्योग धंधों का विवरण कालिदास के साहित्य में प्राप्त होता है। यद्यपि इन व्यवसायों का उल्लेख हमें अन्य युगों में भी प्राप्त हुआ है, किन्तु इस युग में कला की सर्वोच्च प्रधानता रही। इससे स्पष्ट होता है कि श्रमिकों की कुशलता में पर्याप्त अन्तर आ गया था।

बन

कालिदास ने बन सम्पदा को आर्थिक सम्पन्नता का एक महत्वपूर्ण अंग माना है।[2] मकान के निर्माण में प्रयोग की जाने वाली लकड़ी, ईंधन के प्रयोग में आने वाली, 'रूरू' कृष्णासार, हिरण चर्म, मृगनाभि, लाक्षा, आदि का उल्लेख कालिदास ने एक महत्वपूर्ण एवं उपयोयी सम्पत्ति के रूप में किया है। कलिंग तथा कामरूप के जंगलों से हाथी पकड़ कर लाये जाते थे और उनका व्यापार होता था। हाथियों को असम तथा अंग देश से भी लाया जाता था। कालिदास ने हाथियों का वध करने का निषेध किया है।[3] युद्ध के समय में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका मानी गई है। हाथी राज्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्पत्ति के रूप में माने जाते थे। बन-वृक्षों से प्रवाहित वायु बन सम्पदा की समृद्धि का द्योतक है।[4]

व्यापार

कालिदास के युग में व्यापार अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। एक देश से दूसरे देश में अनेक प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करने तथा देश को समृद्ध-शाली बनाने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। व्यापार करने के दो ही मार्ग थे—(१) स्थल मार्ग के द्वारा व्यापार, (२) जल मार्ग (समुद्र) के द्वारा व्यापार किया जाता

---

१. वगानुत्खायतराग नेता नौसधनोद्यतान् ॥

—रघु० ४. ३७

२. ततो वेलातटेनैव फलवत्पूग मालिना।
अगस्त्या चरितामाशामनाशास्य जयोययौ ॥

—रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ४४

३. तमापतन्तं नृपतेरबध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः।
निर्वर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जगान नात्यायतकृष्टशार्ङ्ग ॥

—रघुवंश, सर्ग ५, श्लोक ५०

४. तस्य कर्कश विहार संभवं स्वेदमाननविलग्रजालकम्।
आचचाम सतुषार शीकरो भिन्नपल्लवपुटोवनानिलः ॥

—रघुवंश सर्ग ९, श्लोक ६८

था ।[१] रघु ने स्थल मार्ग के द्वारा व्यापार करने को प्राथमिकता दी है ।[२] कालिदास के महान समीक्षक मल्लिनाथ का कहना है । कि स्थल मार्ग को धार्मिक दृष्टिकोण से अधिक महत्व दिया गया था । क्योंकि जल मार्ग से यात्रा निषिद्ध थी । किन्तु इसे स्वीकार करना उचित नहीं होगा, क्योंकि कालिदास के समय के पहिले से ही व्यापार का अधिकाधिक कार्य जहाजों तथा समुद्री मार्ग के माध्यम से भी होता था । प्रसिद्ध लेखक 'फाह्यान' का समुद्री मार्ग से चीन वापस जाने की बात इस तथ्य की पुष्टि करती है । अतः कालिदास के समय में भारत का अरब, मिश्र तथा रोम आदि देशों से समुद्री मार्ग के द्वारा व्यापारिक सम्बन्ध था ।

कालिदास के समय में सबसे बड़े स्थल मार्ग, जो देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जाते थे, वे हैं—महापथ[3] राजपथ[४] तथा नरेन्द्र मार्ग ।[५] स्थल मार्ग का व्यापार भी सर्वोत्कृष्ट था, जैसा कि मालविकाग्नि मित्रम् में कालिदास द्वारा स्पष्ट किया गया है । उस समय भी व्यापारियों को डाकुओं तथा बदमाशों से मार्गों में खतरा रहता था और यही कारण था कि वे एक समूह बनाकर चला करते थे । रघु की विजय में दक्षिण की ओर के स्थल मार्गों का वर्णन मिलता है ।[६] अज का भोज के देश में जाने वाला मार्ग संभवतः दक्षिण मध्य भारत का दूसरा मार्ग था । कालिदास ने एक तीसरे मार्ग का भी जिक्र किया है जिससे कि मेघदूत में मेघ अलकापुरी के लिये जाता है, किन्तु इस मार्ग को व्यापारिक मार्ग के अलग समझा जा सकता है । क्योकि मेघ की दिशा पृथक मानी गई है । विचार करने के बाद यह स्पष्ट होता है कि उज्ज-

---

१. समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रोनाम नौव्यसने विपन्नः ।

—अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ६, १६२

२. तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
मार्गेनिवासामनुजेन्द्र सूनोर्बभूवुरुद्यान विहार कल्पाः ॥

—रघुवंश, सर्ग ५ श्लोक ४१

३. संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम् ।
भासोज्ज्वलत्कांश्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्गइवाऽवभासे ॥

—कुमारसंभव, सर्ग ७ श्लोक ३

४. ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानांसरयूं च नौभिः ।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥

—रघुवंश, सर्ग १४, श्लोक ३०

५. नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे ।

—रघु, ६, ६७

६. रघु, [illegible]

यिनी का (जिसको कि मेघ के जाने का मार्ग बताया गया है) सम्बन्ध दक्षिण और पश्चिम के देशों से था।

कालिदास के काव्यों से स्पष्ट होता है कि उस समय श्री लंका अथवा सिंहल ब्रह्मादेश, चीन, यवद्वीप, आदि देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। चीन से लाई जाने वाली रेशम को संभवतः समुद्री मार्ग के द्वारा ही आयात किया जाता था। भारत में पंचनद देश में एक मण्डी का पता चलता है, जिसमें चीन से आया माल, विशेषतः चीनांशुक आदि रखा जाता था।

आयात

तत्कालीन भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्वरूप आयात तथा निर्यात पर निर्भर करता था। चीन से एक विशेष प्रकार का रेशमी वस्त्र मंगाया जाता था, जिसे चीनांशुक[1] कहा जाता था। उस समय भारत के लिए पश्चिम से सुन्दर घोड़ों का आयात किया जाता था।[2] अरब देश, कम्बोज आदि देशों से जानवरों का व्यापार होता था। इसके अतिरिक्त कालिदास के समय लवंग आदि मसालों का द्वीपान्तरों से आयात होता था।[3] इसी प्रकार राजाओं के लिये सोने, चाँदी के सिक्के, गायक, यवनियां तथा अनेक धातुओं की बनी सामग्री का आयात निर्यात किया जाता था।

सिक्के तथा माप प्रणाली

व्यापारिक सम्बन्धों में दृढ़ता लाने के लिये तथा विनिमय की सरलता हेतु सिक्कों का प्रचलन उस समय था। सिक्कों की गणना[4] करके व्यापारिक सौदागिरी तय

---

१. (क) गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चाद्संस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिवकेतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥
—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, अंक १ श्लोक ३२

(ख) चीनांशुके कल्पित केतु भालम।
—कुमार० ७-३

२. दीर्घेष्वामी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रा विहायवनगाक्ष वनायुदेश्याः।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानिलेह्यानि सैन्धवशिला शकलानिवाहाः॥
—रघुवंश सर्ग ५, श्लोक ७३

३. अनेन सार्धं विहराम्बु राशेस्तीरेषुतालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवंग पुष्पैरपाकृतस्वेदलवामरुद्भिः॥
—रघुवंश, सर्ग ६ श्लोक ५७

४. अर्थजातस्य गणना —अभिज्ञान शाकुन्तलम्, अंक श्लोक

की जाती थी। एक स्थान पर कालिदास १४ करोड़ सिक्कों की गणना करते हैं।[१] सुवर्ण तथा निष्क देश के प्रचलित सिक्के थे, १०० सोने के सिक्कों के वितरण का विवरण भी प्राप्त होता है। दीनार तथा सुवर्ण ये दोनों प्रकार की मुद्रायें देश में काफी समय से प्रचलित थी। कालिदास ताँबा तथा चाँदी के सिक्कों के प्रचलन का वर्णन नहीं करते। चाँदी के सिक्कों का प्रचलन चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय से प्राप्त होता है और ताँबे की मुद्रा भी उसी के समय से प्राप्त होती है।

निर्यात

कालिदास के युग तक भी यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि कौन सी वस्तुओं का निर्यात भारत से विदेशों के लिये किया जाता था। किन्तु इतना अवश्य है कि भारत अपने खाद्यान्न तथा बहुमूल्य धातुओं के उत्पादन के लिये प्रसिद्ध था। भारत से मसालों का निर्यात् दूर-दूर तक विदेशों में हुआ करता था। वस्त्रों का भी निर्यात भारत से होता था। 'प्लिनी' ने अपनी पुस्तक में भारत तथा रोम के बीच होने वाले निर्यात् का जिक्र किया है। भारत से रोम को काली मिर्च, लवंग, रेशम, सूती कपड़ा तथा नाना प्रकार की अन्य पण्य वस्तुयें जाया करती थीं। कालिदास ने उन प्रदेशों का सविस्तार वर्णन किया है जहाँ चन्दन, लवंग तथा काली मिर्च और केशर पैदा होती थी।[२]

आन्तरिक व्यापार

कालिदास कामरूप[3] के राजा से प्राप्त रत्नोपहारों का वर्णन करते हैं, जिससे रत्नों के व्यापार का संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त वे व्यापारिक साधनों का वर्णन करते हैं, जिनसे भारी मात्रा में रत्न प्राप्त होते थे। एक स्थान पर वह खानों से निकले मणि को खरीदने का संकेत करते हैं।[४] शंख, मोती आदि बहुमूल्य धातुओं का व्यापार एक बाजार से दूसरे बाजारों में किया जाता था और उस

---

१. विन्तस्यविद्यापरिसंख्यायामेकोटिश्चतस्रो दश चाहरेति।

—रघुवंश सर्ग ५ श्लोक २१

२. तस्य जातुमलतस्थलीरतेधृतचन्दनलतः प्रियाकलमम्।
अवचाम सलवंग केसरश्चाटुकारइव दक्षिणानिलः॥

—कुमारसंभवम्, सर्ग ८, श्लोक २५

३. कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम्।
रत्नपुष्पोपहारेणच्छायामानर्च पादयोः॥

—रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ८४

४. दिलोप सूनुर्मणिशाकरोद्भवः प्रयुक्त संस्कार इवाधिकं बभौ॥

—रघुवंश, सर्ग ३, श्लोक १८

समय इसकी बहुत माँग थी। व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर उन्हें बेचा करते थे। इसी प्रकार कलिंग देश से हाथियों का व्यापार किया जाता था। अंग, कामरूप आदि भी व्यापारिक केन्द्र माने जाते थे।

महाजनी

कालिदास के ग्रन्थों में हमें महाजनी प्रणाली का जीता जागता चित्रण मिलता है। उन्होंने 'न्यास' में पुनः वापस लेने के उद्देश्य से जमा की गई धनराशि को 'निक्षेप'[१] शब्द से सम्बोधित किया है। 'न्यास'[२] के अन्तर्गत भी धनराशि को जमा करने की क्रिया महाजनी प्रथा कहलाती थी। विभिन्न प्रकार के कार्यों में खर्च करने के बाद जो धनराशि शेष बचती थी, उसे 'निवि' शब्द से प्रयुक्त किया गया है। फलतः आधुनिक बैंकों की तरह इनमें धनराशि जमा करने तथा ऋण लेने आदि का प्रचलन था।

जनसंख्या

जनसंख्या के दृष्टिकोण से भारत पहले से ही समृद्धशाली था। पारस तथा यूनान आदि देशों के भी कुछ लोग आकर यहीं पर बस गये थे। शक, हूण तथा कम्बोज जाति के लोग भारत के स्थायी निवासी थे। कुछ जातियाँ जङ्गलों में भी निवास करती थीं, जिनमें सोरक जाति को पुलिन्द के नाम से पुकारा जाता था। दूसरी एक ओर जङ्गली जाति थी। कालिदास के विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जनसंख्या का कुछ भाग जङ्गल में और कुछ राज्यों में रहता था। जनसंख्या की बहुतायत के कारण नये-नये ग्राम बसाये जा रहे थे।

सम्पत्ति अधिकार

कालिदास के भी विचारों के आधार पर पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र को बताया गया है। किन्तु यदि किसी के सन्तान नहीं होती, तो उसकी सम्पत्ति का अधिकारी राजा होता था। अभिज्ञान शाकुन्तल के षष्टम् अंक में दुष्यन्त ने यह सूचना पाकर कि धनमित्र नामक व्यापारी के कोई सन्तान नहीं है और उसकी मृत्यु हो गई है, राजा ने खोजने का आदेश दिया कि कहीं उसके अनेक पत्नियाँ तो नहीं

---

१. 'निक्षेप इवार्पितं द्रयं'

—कुमारसंभव, सर्ग ५, श्लोक १३

२. 'प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा'-

—अभिज्ञान शकुन्तल, अंक ५, श्लोक २९

र्था, जिनसे कोई सन्तान हो और वह उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सके।[१] इससे स्पष्ट है कि किसी भी उत्तराधिकारी के रहते राजा सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता था। किन्तु इसके विपरीत यदि सचमुच जिस धन का कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसका उत्तराधिकारी राजा होता था। इतना ही नहीं यह पता चलने पर कि उक्त सेठ के एक पत्नी है, जिसके गर्भ में बच्चा है, राजा स्पष्ट घोषणा करता है कि गर्भ में पलने वाली सन्तति उसकी सम्पत्ति का अधिकारी है।[२]

सामाजिक कल्याण

राजा अपनी प्रजा के हर कष्ट के निवारण हेतु तत्पर रहता था। 'प्रथितः दुष्यन्त चरितः' से स्पष्ट हो जाता है कि राजा सदैव चरित्रवान होते थे और वे समाज के उत्थान की बात सोचते थे।[३] मारीच राजा दुष्यन्त तथा शकुन्तला को आशीष देते हुए कहते हैं कि 'इन्द्र तुम्हारी प्रजा के लिए प्रचुर वृष्टि करे, तुम भी विस्तृत यज्ञों के द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करना।[४] इन वाक्यों में लोक कल्याण की भावना भरी हुई है। राजा का प्रजानुरंजन तथा प्रजा पालन में निरन्तर दत्तचित्त रहना अनिवार्य था। कालिदास ने जहाँ-जहाँ राजा के अधिकारों की चर्चा किया, वहीं-वहीं राजा के कर्तव्यों का भी निर्देश किया है।

---

१. वेत्रवति बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यं।
विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

—शाकुन्तल, अंक ६, १६२

२. देव, इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो
दुहिता निवृतसवना जायाऽस्य श्रूयते।
राजा। ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति।
गच्छ। एवममात्यं ब्रूहि।

—शाकुन्तल अंक ६, १६३-१६४

३. प्रवर्ततां प्रकृति हिताय पार्थिवः–

—शाकुन्तलः अंक ६, श्लोक ३५

४. तव भवतु विडोजाः प्राज्य वृष्टि प्रजासु।
त्वमपि वितत यज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व।
युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्ये
र्नयतमुभयलोकानुग्रह श्लाघनीयैः।

—शाकुन्तल, अंक ७, श्लोक ३४

अध्याय १२

सिंहावलोकन

अध्याय १२

सिंहावलोकन

अभी हमने पिछले अध्यायों में मूल ग्रन्थों के आधार पर आर्थिक विचारों के कतिपय पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। ये विचार वस्तुतः प्राप्त इतिहास के कालक्रम के अनुसार तथा भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों के विचारों के आधार पर वर्णित है। अब हम इस अध्याय में प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों का एक समग्र दृष्टि से अनुशीलन करने का प्रयास करेंगे।

भारतीय आर्थिक विचारों के प्रश्न को अनावश्यक रूप से विवादास्पद बनाना तर्कसंगत न होगा। आर्थिक विचारों का अभ्युदय भी आदि मानव के ही साथ हुआ है। यह सिद्धान्त तो सर्वथा मान्य है कि मानव अथवा किसी भी प्राणी को जीवित रहने के लिये उदर पूर्ति की आवश्यकता पड़ती है। सृष्टि में जब से, चाहे वह कोई भी काल रहा हो, मानव की उत्पत्ति हुई, तभी से उसने अपने को जीवित रखने वाले साधनों की खोज की है। प्रकृति से निरंतर संघर्ष करते रहने के पश्चात उत्पादक शक्तियों का जन्म हुआ और मानव समाज की संरचना के बाद सामाजिक जीवन के अभ्युदय का क्रम प्रारम्भ हुआ।

मानव जाति का प्रारम्भिक इतिहास वन्य मानव से प्रारम्भ होता है। उस समय का मानव आज के मानव से सर्वथा भिन्न था। उसे अपने शरीर को ढंकने तक का भी ज्ञान न था। पेड़ों के पत्तों में छिप कर रहना ही उसका सामाजिक जीवन था। अतएव यह कहा जा सकता है कि मानव की प्रथम सामाजिक संरचना प्रकृति के साथ प्रारम्भ हुई। बर्बर युग में मानव-मानव से आस्था उत्पन्न होने लगी और वे सामूहिक रूप से उदर पूर्ति का प्रयास करने लगे। तीसरे युग में मानव अपनी बर्बर प्रवृत्ति को छोड़कर सामाजिक जीवन व्यतीत करने लगा। यहीं से मानव के सामाजिक प्राणी के रूप में रहने का इतिहास प्रारम्भ होता है।

मानव की प्रगति का वास्तविक स्वरूप हमें सिन्धु घाटी की सभ्यता में देखने को मिलता है। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नामक स्थानों पर की गई खोदाई में प्राप्त ध्वंसावशेषों से पता चलता है कि उस समय तक वन्य युग का मानव कहाँ से कहाँ पहुँच चुका था और उसके विचारों में कितनी प्रौढ़ता आ चुकी थी ? ईंट पत्थरों के बने हुये मकान, स्नानागार, चौड़ी सड़कें, सड़कों के किनारे पर बनी हुई नालियाँ, इस बात

का प्रमाण है कि लोग अच्छे मकानों में रहते थे और वे अपने सामूहिक जीवन अपने रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये प्रयत्नशील थे। खुदाई में प्राप्त मूर्तियाँ उनकी धार्मिक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। फलतः इस युग के मानव में सभ्यता की जागृति हो चुकी थी और वह आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक श्रेणी में अपने जीवन को ढाल चुका था।

इस युग के समय मानव का समुन्नत समाज हमें वैदिक युग में देखने को मिलता हैं। अभी तक का तो इतिहास एवं विचार केवल भूगर्भ की खुदाई करने से प्राप्त ध्वंसावशेषों पर निर्भर करता था, किन्तु वैदिक युग में मानव ने अपनी सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक संरचना को व्यवहारिक रूप में परिवित कर दिया। एक विशेष प्रकार की भाषा को आधार मान कर विचारों का संग्रह किया जाने लगा और वही विचार वेद ग्रन्थों के रूप में बाद में जाने गये। विचारकों ने पेड़ों के पत्तों में एक विशेष प्रकार के रंग अथवा स्याही के द्वारा विचारकों को अंकित करने का कार्य प्रारम्भ किया। सुरक्षा व्यवस्था न होने के कारण कुछ तो पशुओं द्वारा नष्ट कर डाले गये और जो कुछ बच रहे, उन्हें वेदों के रूप में संग्रहीत कर लिया गया। यही कारण है कि आज भी यत्र-तत्र तो हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ पायी गई हैं, उनमें कहीं-कहीं पर कुछ वाक्य अधूरे मिलते हैं। 'अग्रे अजा भक्षिता' इस बात का संकेत है कि इसके आगे के विचारों को बकरी के द्वारा नष्ट कर दिया गया है।

वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें कई हजार मंत्र हैं, जिनके माध्यम से सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक विचारों की अभिव्यक्ति की गई है। इस वेद में वर्णित सभ्यता पूर्व वैदिक सभ्यता के नाम से जानी जाती है। 'ब्राह्मणों मुखमासीद् बाहुः राजन्यः' से मानव जाति के भेद का पता चलता है। यहीं से मनुष्य के कर्मों का निर्धारण होता है और समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। ब्राह्मण धर्म-कर्म से अपनी वृत्ति चलाता है। क्षत्रिय शासक के रूप में, वैश्य व्यापार एवं पशुपालन द्वारा तथा शूद्र परसेवा करके, समाज की नयी संरचना करता है।

'कृषि, गोरक्षं, वाणिज्यं च वार्ता' का यहीं से जन्म हो जाता है। यद्यपि इस विभाजन को पृथक स्वरूप नहीं दिया गया था, किन्तु फिर भी समाज में इसका पूर्णतः पालन होता था। कृषि पशुपालन तथा व्यापार करने की प्रक्रियायें समाज में प्रचलित थीं। इन सबका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। किन्तु जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, हम यह कह सकते हैं कि 'ग्राम्य' सभ्यता का जीता-जागता हुआ चित्रण ऋग्वेद में विद्यमान है।

ऋग्वेद के पश्चात् सामवेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की

गयीं। इन ग्रंथों में वर्णित विचारों से पता चलता है कि ऋग्वेद कालीन सामाजिक जीवन की अपेक्षा इस उत्तरवैदिक युग में मानव 'ग्राम्य' सभ्यता से 'नगर' सभ्यता से पहुँच चुका था। उसके रहन-सहन के स्तर, कृषि, पशुपालन तथा व्यापार करने के तरीकों मे काफी विकास हो चुका था। इस युग तक नये विचारों को समाज में स्थान मिलने लगा था, जिसके परिणामस्वरूप मानव जीवन के आर्थिक ढाँचे में काफी प्रौढ़ता आयी थी। वैदिक संहितायें तथा उपनिषद् ग्रन्थों में सामाजिक प्रवृत्तियाँ धर्म एवं अध्यात्म की ओर खिची हुई अधिक दिखाई पड़ती हैं। उपनिषदों में जहाँ एक ओर धन की प्रशंसा की गयी है, वहीं दूसरी ओर 'धन' अथवा सम्पत्ति में अत्यधिक लिप्त न होने के भी विचार व्यक्त किये गये हैं। अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को इस युग के समाज में स्थान दिया गया था। इन्हीं पुरुषार्थों को जीवन का लक्ष्य मान कर सामाजिक क्रियायें संचालित की जाती थीं।

वैदिक काल के पश्चात् महाकाव्यों का युग आता है। रामायण तथा महाभारत ये दो महाकाव्य तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक स्थिति का परिचय कराते हैं। रामायण, जिसे आदिकवि वाल्मीक ने रचा है, ससार का प्रथम महाकाव्य माना गया है। इसके पश्चात् महाभारत की रचना की गई। इन दोनों महाकाव्यों में राज्य द्वारा शासित प्रजा का वर्णन किया गया है। वेदों तथा उपनिषद् ग्रन्थों में राजा तथा राष्ट्र का उल्लेख अवश्य किया गया है, किन्तु उनमें उनका विस्तृत विवेचन नहीं प्राप्त होता, जितना कि इन महाकाव्यों में प्राप्त होता है। पूर्व के ग्रन्थों में केवल सामाजिक, आर्थिक एव धार्मिक विचारों का ही व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है, किन्तु रामायण तथा महाभारत में राजनीतिक पक्ष को अधिक उजागर किया गया है। इतिहास, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, शास्त्रादि समस्त शास्त्रों का पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण हर पहलू पर विचारकों ने दृष्टिपात किया है। रामायण में राम को आदर्श राजा के रूप में रखकर प्रजा के रहन-सहन तथा राजा के कर्तव्य का सजीव चित्रण किया है। इसी प्रकार महाभारत में कौरव तथा पाण्डव, एक ही परिवार के सदस्यों में आर्थिक बँटवारे के सम्बन्ध में मतभेद बताकर सम्पत्ति अथवा धन को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

इस युग में राजा और प्रजा का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। प्रजा की देख-रेख की सारी जिम्मेदारी राजा पर होती थी। यदि राजा अपने कर्तव्यों का पालन न करता तो उसे राज्य करने का कोई अधिकार नहीं था। आर्थिक एवं सामाजिक नियमों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। वैदिक युग में जन्म लेने वाले अर्थवाद ने अपना काफी विस्तार कर लिया था। सामन्तवादी समाज का एक अलग प्रारूप बनता जा रहा था। वैदिक युग में जहाँ समुन्नत समाज का रूप देखने को मिलता है,

वहीं महाकाव्यों में अलग-अलग राज्यों की भिन्न-भिन्न आर्थिक व्यवस्था देखने को मिलती है ।

रामायण तथा महाभारतकालीन समाज की संरचना को अधिक परिष्कृत करने के उद्देश्य से गृहसूत्रों तथा श्रौत सूत्रों की रचना हुई । इन सूत्रों में वर्णाश्रम धर्म तथा नित्य प्रति सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं से सम्बन्धित नियमों का प्रतिपादन किया गया । गौतम, शालिहोत्र, पाराशर, बृहस्पति आदि अनेक विचारकों ने सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक नियमों का प्रतिपादन कर उन्हें समाज में कार्यान्वित करने की सलाह दी । आरण्यक, त्रिपिटक एवं जातक ग्रन्थों की भी रचना इसी युग में की गई । इन ग्रन्थों में वर्णित कथाओं अथवा विचारों से समाज को आर्थिक एवं अनार्थिक क्रियाओं का परिज्ञान हो सका । इन्हीं ग्रन्थों में वर्णित विचारों को सिद्धान्ततः स्वीकार कर सामाजिक रहन-सहन के स्तर में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया गया । प्रायः समाज में लोगों ने जिन विचारों को सिद्धान्ततः स्वीकार किया, वे उन्हीं के अनुयायी बन गये । उस समय यह आवश्यक न था कि हर व्यक्ति एक सिद्धान्त को स्वीकार करे । विशेषतः यह समाज धार्मिक प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित रहा ।

स्मृति साहित्य में सामाजिक स्थिति में तो कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया, किन्तु हर व्यक्ति के बौद्धिक एवं शारीरिक विकास को ध्यान में रखकर ग्रन्थों की रचना की गई । स्मृतिकारों का यह प्रमुख लक्ष्य था कि सदाचारी व्यक्ति समाज के अच्छे स्वरूप का निर्माण कर सकता है । मनुस्मृति, गौतम स्मृति, नारद स्मृति आदि अनेक स्मृतियों में वर्णित विचारों द्वारा हर व्यक्ति को आचरण युक्त होकर व्यवहार करने की सलाह दी गई है । इस साहित्य से समाज को भी बहुत अधिक बल मिलता है ।

पुराणों की रचना के समय तक समाज पूरी तरह विकसित हो चुका था । रहन-सहन, उद्योग-धन्धे तथा व्यापार के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन किये जा चुके थे । इनमें जहाँ एक ओर धार्मिक प्रवृत्ति के अनुपालन पर बल दिया गया है, वहीं दूसरी ओर आर्थिक संरचना को पूर्णरूपेण विकसित करने का प्रयास किया गया है । यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वन्य मानव, जिसे आरम्भ में कोई भी ज्ञान न था, कितने हजार वर्षों के बाद इस समाज को जन्म दे सका होगा । प्रकृति के शाश्वत परिवर्तनशील सिद्धान्त के अनुसार समाज बदलता गया और अनेक उत्थान-पतन के बाद भी उसकी स्थिति सुदृढ़ होती गई ।

प्राचीन विचारकों में प्रमुख नाम जिन विद्वानों का लिया जाता है, उनमें बृहस्पति, कामन्दक, कौटिल्य तथा शुक्र मुख्य हैं । इन विचारकों ने समाज के प्रत्येक पहलू पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य डाला है । बृहस्पति अर्थशास्त्र के जन्मदाता

माने गये हैं। सुशासित राज्य की आर्थिक व्यवस्था का प्रारूप देने का प्रमुख श्रेय इन्हीं को है। वृहस्पति अर्थशास्त्र, वृहस्पति स्मृति आदि ग्रन्थों में आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने पर बल दिया गया है। कामन्दक ने अपने ग्रन्थ 'कामन्दकीय नीतिसार' में नीति विषयक विचारों के माध्यम से सामाजिक ढाँचे को आदर्श बनाने का उल्लेख किया है। कौटिल्य तथा शुक्र ये दोनों विद्वान् प्रौढ़ समाज के विचारक हैं। कौटिल्य ने 'अर्थमेव प्रधानम्' को मानकर समाज के हर पहलू पर दृष्टिपात किया है। इसी प्रकार शुक्र ने अपने ग्रन्थ शुक्रनीतिसार में अपने पूर्ववर्ती विचारों का अनुकरण किया है। इन चारों विद्वानों ने सामाजिक जीवन को वातावरण के अनुकूल ढाल कर एक आदर्श समाज की रचना के निर्देश दिये हैं।

उपर्युक्त विचारकों के मतों में कहीं-कहीं पर भेद भी पाये जाते हैं। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ पर विचारों में भिन्नता पायी गई है, वहाँ पर पारम्परिक समान विचारों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिये 'नेतिकौटिल्यः', शब्द से यह स्पष्ट किया गया है कि कौटिल्य इस विचार से सहमत नहीं है। इन विद्वानों द्वारा लिखित ग्रन्थों को देखने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन चारों विचारकों ने जो बातें कही हैं, उनके समर्थन में तर्क भी साथ में दिये हैं। इन तर्क सम्मत विचारों का समाज के विकास में काफी योगदान रहा है। प्राचीन काल के अन्तिम विचारक दार्शनिक एवं साहित्यकार कालिदास, भवभूति, वाणभट्ट आदि ने भी अपनी रचनायें पूर्ववर्ती समाज को ध्यान में रखकर की है। उन्होंने अपने युग में मान्य एवं सर्वस्वीकृत आर्थिक विचारों को अपने साहित्य में स्थान ही नही दिया, वरन् यह भी दर्शाया कि किस प्रकार ये विचार राजा, सामन्त, व्यापारी वर्ग और कृषकों तथा श्रमिकों द्वारा स्वीकृत और व्यवहृत भी होते थे।

प्राचीन समाज का आर्थिक विकास चार विद्याओं पर निर्भर करता था। "आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः", अर्थात् आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति इन चारों विद्याओं को आधार मान कर पृथक-पृथक क्षेत्र में सामाजिक संगठन और विकास प्रारम्भ हुआ। इन विद्याओं का जन्म ऋग्वेद कालीन सभ्यता में ही हो चुका था, किन्तु तब इनका पृथक अस्तित्व निखर कर सामने नहीं आया था। बाद में वेदों में वर्णित सामाजिक जीवन के अनुशीलन के आधार पर ही इन विद्याओं को चार भागों में विभक्त कर इनका अलग-अलग अध्ययन किया जाने लगा। त्रयी के अन्तर्गत सामवेद, ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का अध्ययन किया जाता था। "सामार्यजुर्वेदा-यस्त्रयी", की विचारधारा से विधानों का क्रम प्रारम्भ हुआ। आन्वीक्षिकी को तर्क-शास्त्र (न्याय तथा आत्म विद्या) के अध्ययन हेतु प्रतिष्ठित किया गया। शुक्र ने इसे

'अन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदान्ताद्यं' के रूप में परिभाषित किया है। वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन, व्यापार की आरम्भ में कल्पना की गयी और उसे समाज में व्यवहृत किया गया। पश्चात् इसके अन्तर्गत कुसीद अर्थात् व्याज को भी जोड़ दिया गया—"कृषि पशुपाल्ये वाणिज्यां च वार्ता", इस परिभाषा से कौटिल्य ने स्पष्ट कर दिया कि वार्ताशास्त्र के अन्तर्गत, कृषि पशुपालन तथा व्यापार ही आता है। किन्तु शुक्र ने आगे चलकर 'कुसीद कृषिवाणिज्य गोरक्षा वार्तयोच्यते' कह कर इसमें व्याज को और जोड़ दिया है। भागवत पुराण में भी इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। दण्डनीति का सीधा सम्बन्ध राज्य व्यवस्था से है। इसके अन्तर्गत राजनीति विषयक विचारों तथा सिद्धान्तों की कल्पना कर उन्हें व्यवहार में परिणित किया गया है।

इन चारों विद्याओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी काफी विवाद रहा है। कतिपय आचार्यों ने तीन ही विद्याओं को प्रमुखता दी है, जब कि अन्य विद्वानों ने चारों को प्रधानता दी है। गौतम धर्मसूत्र में आन्वीक्षिकी को दर्शन शास्त्र के रूप में माना गया है, जबकि अम्य कई स्थानों पर तर्कशास्त्र, न्याय एवं अध्यात्म विद्या के रूप में इसका अध्ययन किया गया है। कौटिल्य इसके अन्तर्गत सांख्य, योग तथा लोकायत को सन्निहित मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्हें कपिल, पतंजलि, बृहस्पति आदि आचार्यों का समर्थन प्राप्त था।

वेदों में इन चारों विद्याओं के मूलभूत तत्व विद्यमान थे। किन्तु इनके महत्वपूर्ण विकास का काल महाकाव्यों से प्रारम्भ होता है। वैदिक काल की समग्र क्रियाओं को केन्द्रीभूत कर विचारकों ने चार शास्त्रों को जन्म दिया। रामायण तथा महाभारत में एक सुशासित राज्य की कल्पना की गई है। अतएव नई विधाओं का भी पूर्णरूपेण परिपालन किया गया। सूत्र ग्रन्थों, स्मृतियों, पुराणों तथा बाद के आचार्यों ने सामाजिक विकास के क्रम का निर्धारण इन्हीं विद्याओं के आधार पर किया, किन्तु उन्होंने तर्क पद्धति को जन्म देकर अपने विचारों की पुष्टि का प्रयास किया है। तर्क जन्य प्रणाली में परस्पर मत-मतान्तरों का होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि बृहस्पति, कामन्दक, कौटिल्य तथा शुक्र के विचारों में मौलिक साम्य होते हुए भी कहीं-कहीं पर अन्तर आ गया है।

समाज को चार वर्णों में विभक्त कर दिया गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन चारों वर्णों के आधार पर सारे समाज का वर्गीकरण कर दिया गया था। उपर्युक्त चारों विद्याओं के अर्जन का विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त था। बाद में उन्हीं के द्वारा नियमों का प्रतिपादन किया गया, कि कौन सा वर्ण किस विद्या का अधिकारी है। राजा को भी सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान कराने की जिम्मेदारी उन्हीं पर सौंप दी गयी थी। मनुष्य की आयु का निर्धारण १०० वर्ष तक किया गया और इस आयु को जन्म से लेकर मृत्यु तक षोड्श संस्कारों में विभक्त कर दिया गया था। इन

संस्कारों को सम्पन्न कराने का उत्तरदायित्व ब्राह्मण वर्ग पर ही हुआ करता था। क्षत्रिय का कार्य शस्त्रविद्या एवं प्रजा की रक्षा के कार्यों में दक्ष होना था। जो राजा शासक के गुणों से परे होता, उसकी सर्वत्र निन्दा की जाती थी। वैश्य को उद्योग धंधे चलाने, व्यापार करने, तथा पशुपालन में दक्ष होने का दायित्व सौंपा गया था। शूद्र का कार्य केवल दूसरों की सेवा करना था। फलतः इन चारों वर्णों की वृत्ति तथा जीविका के अलग-अलग उपाय तथा साधन बताये गये थे।

प्राचीन विचारकों की महानता का परिचय हमें इसी से मिलता है कि समाज के स्वरूप का ज्यों-ज्यों विस्तार होता गया, त्यों-त्यों उसकी समुचित व्यवस्था की रूप रेखा तैयार होती गयी। प्रागैतिहासिक काल तक समाज का सम्यक् संगठन नहीं हो सका था और न ही इस सम्बन्ध में उस समय की कोई प्रामाणिकता प्राप्त होती हैं। किन्तु वैदिक युग में समाज की रचना इतनी व्यापक और विस्तृत हो गयी थी कि विचारकों को वर्ण विभाजन कर, उनके कार्यों को अलग-अलग ढंग से निर्धारित करना पड़ा। इस युग तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों के कार्यों का क्षेत्र सीमित था। ब्राह्मण वर्ण पर ही सबसे अधिक दायित्व यज्ञ आदि की क्रियाओं को सम्पन्न कराने का रहा, क्योंकि वेदों में यज्ञ को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। लोगों का ऐसा विश्वास था कि जितने अधिक यज्ञ किये जायेंगे, उतनी ही अधिक सामाजिक प्रगति सम्भव हो सकेगी।

इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवताओं की स्तुतियाँ वेदों में की गई हैं। ऋग्वेद कालीन समाज में तो इन्हें ही सृष्टि को चलाने वाला माना गया है। उस समय के लोग यह भली-भाँति जानते थे कि समुद्र का देवता वरुण है, अतएव समुद्र से जब जल की परिणति वाष्प के रूप में होगी। और इन्द्र जल वृष्टि करेगा तभी कृषि फलवर्त्ता होगी। कृषि से प्राप्त अन्न को पकाने की शक्ति अग्नि में है और उसी से सारी यज्ञ की क्रियायें सम्पन्न होंगी। इसलिए यह आवश्वक था कि उक्त तीनों देवताओं को प्रसन्न रखा जाय। इस कथन की पुष्टि श्री मद्‌भगवत गीता से हो जाती है। "यज्ञादि भवन्ति पर्जन्यो: यज्ञ: कर्म समुद्‌भावा' इस बात का प्रमाण है कि समाज को चलाने के लिये इनकी सबसे अधिक आवश्यकता थी। इस युग में क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों की व्युत्पत्ति का उल्लेख तो मिलता है और यह भी बताया गया है कि उन्हें कौन से कार्य करने चाहिए किन्तु व्यावहारिक रूप में किये गये कार्यों की विशेष प्रधानता नहीं दृष्टिगत होती है। ब्राह्मण संहिता तथा उपनिषद ग्रन्थों में वर्ण विभाजन के यही क्रम चलते आये है। आर्थिक दृष्टि से समाज की भले ही प्रगति हुई हो, किन्तु इस विभाजन में कोई अन्तर नहीं आया। बाजसनेयी संहिता में अवश्य ही मिश्रित जाति (वर्णसंकर) का उल्लेख मिलता है, किन्तु उसे कोई अलग से अधिकार प्रदान किये गये हों, इसका कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता।

महाकाव्य काल क्षत्रियों के उत्कर्ष का समय रहा है। वैदिक काल में जो स्थान ब्राह्मणों को मिलता था, वही स्थान महाकाव्य काल में क्षत्रियों को प्राप्त हुआ। सबसे अधिक व्यवहार के क्षेत्र में जो खुलकर आये हैं, वे क्षत्रिय थे। भारत भूखण्ड के विस्तृत समाज को पृथक-पृथक राज्यों में बाँट दिया गया था और उस क्षेत्र के राजा पर प्रजा की रक्षा का सारा दायित्व होता था। वैश्यों का भी पृथक अस्तित्व व्यवहार के रूप में इसी काल में प्रचलित हुआ है। शूद्रों को तो कोई अधिकार दिया नहीं गया था। दूसरों की सेवा करने से अर्जित धन ही उनकी वृत्ति थी। उनके कार्य एवं व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया था। जैसे-जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य अपनी मर्यादा की उच्च सीमा तक पहुँचते गये अथवा उनके अन्दर स्वाभिमान की भावना आती गयी, शूद्र बेचारा बन्धन में जकड़ता गया, उसके लिये कठोर से कठोरतर नियम बनाये जाने लगे। सूत्र, स्मृति एवं पुराणों में प्रत्येक वर्ग के लिये नियम बनाये गये, जिन्हें आदर्श मानकर चलना आवश्यक था। गौतम धर्मसूत्र में तो शूद्र को इतनी निम्न दृष्टि से देखा गया है कि उसके द्वारा स्पर्श किये गये भोजन एवं जल का उपयोग करना पाप समझा गया है। यदि कहीं ऐसा हो जाय, तो उसके लिये बताये गये नियमों के आधार पर शुद्ध होना आवश्यक था। मनुस्मृति में चारों वर्णों के लिये करने एवं न करने वाली क्रियाओं के नियमों का उल्लेख मिलता है। बृहस्पति, कामन्दक, कौटिल्य तथा शुक्र ने इन चारों वर्णों के कार्य-व्यवहार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इन आचार्यों ने केवल उनके कार्य व्यवहारों का वर्णन ही नहीं, अपितु उन्हें सम्पन्न करने हेतु आवश्यक नियमों का भी प्रतिपादन किया है। इनके समय तक सामाजिक व्यवस्था इतनी प्रौढ़ हो चुकी थी कि उसके नियन्त्रण हेतु संविधान का होना आवश्यक था। जिस प्रकार वर्तमान समाज को नियन्त्रित करने हेतु संविधान की रचना की गयी है, उसी प्रकार उस समय भी विद्वानों ने पृथक-पृथक विचारों को मान्यता देकर एक संविधान की रचना की थी। इन विचारकों में यदा-कदा मत-मतान्तर भी हो गये हैं, किन्तु वे वातावरण के अनुकूल कार्यान्वित किये जाते रहे हैं। उदाहरण के लिये वैदिक काल में ब्राह्मण को केवल धार्मिक वृत्ति से जीविका चलाने का अधिकार था, किन्तु बाद में मनु, कौटिल्य आदि आचार्यों ने यह संशोधन किया कि यदि ब्राह्मण की वृत्ति उससे न चल सके तो वह कृषि एवं व्यापार भी कर सकता है। इस प्रकार यह तर्क मान्य है कि वर्ण-विभाजन सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख अंग था।

अभी हमने वर्ण तथा उनके कार्यों के बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त की है। तत्कालीन विचारकों के मस्तिष्क में यह विचार था कि यदि हर व्यक्ति के कार्यों को करने के समय का भी विभाजन कर दिया जाय तो सामाजिक व्यवस्था और

अधिक सुचारु ढग से चल सकती है, और भावी पीढ़ी के लिये भी मार्ग प्रशस्त होता चलेगा। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास, इन चार आश्रमों में रहकर कार्य करने के लिये १०० वर्ष की आयु का विभाजन कर दिया गया। ब्रह्मचर्य आश्रम २५ वर्ष तक की आयु का माना जाता था। इस आश्रम में रहकर प्रत्येक बालक का कर्त्तव्य होता कि वह विद्या का अर्जन करे। विद्या अर्जित कर चुकने के पश्चात् वह ग्रहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में रहकर वह अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष के साधनों पर विशेष बल देता था। 'अपत्यार्थे स्त्रियः स्रष्टा' की भावना से प्रेरित होकर वंश परम्परा में वृद्धि करना भी हर व्यक्ति का दायित्व होता था। वानप्रस्थ तथा सन्यास ये दोनों अन्तिम आश्रम थे। गृहस्थ आश्रम के सुखों की प्राप्ति के बाद व्यक्ति अपना दायित्व पुत्र अथवा उत्तराधिकारी पर सौंप देता तब उसमें वैराग्य की भावना उत्पन्न होती थी। ये दोंनों अवस्थायें ऐसी होती थीं, जिनमें मनुष्य इच्छा से रहित होकर केवल अपनी उदर पूर्ति के लिये भिक्षावृत्ति पर आश्रित रहता था।

वैदिक युग में आश्रम के नियमों का पालन करने के कठोर नियम बनाये गये थे और उनका पालन भी किया जाता था। आश्रम के नियमों का पालन न करने वाले व्यक्ति को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। उपनिषद् साहित्य तक इन नियमों का परिपालन पूरी तरह से किया जाता था, किन्तु बाद में कठोरता का ह्रास होता गया। आश्रम के सारे नियमों को राजा के ऊपर लाद दिया गया। राजा को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास इन चारों आश्रमों के नियमों का पालन करना आवश्यक था। महाकाव्य काल अर्थात् रामायण तथा महाभारत में राजा द्वारा अनुशासित सामाजिक व्यवस्था विद्यमान थी। अतएव राजा को सर्वोपरि मान कर चारों आश्रमों के नियमों का पालन करना राजा के लिये अनिवार्य कर दिया गया था। इस काल तक में १०० वर्ष की आयु सीमा के निर्धारण का अस्तित्व क्षीण हो चला था, क्योंकि अधिकांश लोग निर्धारित आयु सीमा के पूर्व ही युद्ध में अथवा रोगग्रस्त होकर काल कवलित हो जाते थे। रामायण में राजा दशरथ राम को राज्य का कार्य भार सौंप कर वानप्रस्थ को प्राप्त करना ही चाहते थे कि उनकी मृत्यु हो गयी। अतएव वह गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ एवं सन्यास तक पहुँच ही नहीं सके। जैसे-जैसे हम सूत्रग्रन्थों, स्मृतियों तथा पुराणों की ओर आते हैं, पता चलता है कि वर्णाश्रम धर्म का व्यवहारिक स्वरूप क्षीण होता जाता है। किसी के लिये यह अनिवार्य नही रह जाता कि वह चारों आश्रमों के नियमों का पालन करे। बृहस्पति, कौटिल्य, कामन्दक तथा शुक आदि आचार्यों ने केवल वर्णाश्रम के अस्तित्व को कायम रखा है। इस पर विशेष बल नहीं दिया। महाकवि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध

नाटक अभिज्ञानशाकुन्तम् में अवश्य वर्णाश्रम व्यवस्था का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था के नियमों का अस्तित्व काफी दिनों तक बना रहा है। भले ही उसे पूर्णतया व्यावहारिक रूप न मिल सका हो।

उपर्युक्त आश्रमों का आर्थिक व्यवस्था के नियन्त्रण में बहुत बड़ा हाथ था। प्रत्येक आश्रम में रहने वाले व्यक्ति की जीविका के लिये अलग-अलग नियम बनाये गये थे।

प्राचीन समाज में वर्ण एवं वर्णाश्रम के नियम तो विद्यमान ही थे, किन्तु विद्वानों ने समाज को नियन्त्रित रखने के उद्देश्य से राजा की भी परिकल्पना कर ली थी। राजा प्रजा का स्वामी माना जाता और प्रजा का पालन करना उसका प्रमुख कर्तव्य समझा जाता था। राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर रहे हैं। वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है कि राजा ईश्वर का भेजा हुआ प्रतिनिधि है। ऋग्वेद में राजा के अभाव में प्रजा के बीच हो रहे संघर्ष का वर्णन किया गया है। समाज में जिस समय संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उस समय देवतागण मिलकर ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने किसी एक को सारी प्रजा का नियन्ता बनाने की सलाह दी, किन्तु कोई भी तैयार नहीं हुआ। ब्रह्मा ने यह सलाह दी कि जिसे राजा बनाया जायेगा, उसे प्रजा द्वारा उत्पादित वस्तुओं का १।६ भाग प्राप्त होगा। अन्ततोगत्वा राजा की नियुक्ति की गई। तभी से राजा के अधिकार एवं कर्तव्यों का पृथक् स्वरूप बन सका। संक्षेप में आर्यों तथा अनार्यों के बीच हुये संघर्ष के परिणाम-स्वरूप राजा की उत्पत्ति हुई।

प्रागैतिहासिक तथा सिन्धु सभ्यता के युग में तो राजा की स्थिति का कोई परिज्ञान नहीं होता, किन्तु ऋग्वेद से इसके इतिहास का क्रम प्रारम्भ होता है। वैदिक युग में ही विस्तृत राष्ट्र की कल्पना की जा चुकी थी। 'आ राष्ट्रे राजन्य: शूर इषव्यो' यजुर्वेद का यह मंत्र स्पष्ट करता है कि राजा एवं राष्ट्र दोनों का पर्याप्त विकास हो चुका था। राजा का कृषि, यज्ञ तथा अन्य क्रियाओं में हिस्सा होता था। यहाँ तक कि राज्य में प्रजा अगर पाप कर्म करती है, तो उस पाप का भागी राजा भी हुआ करता था। दूसरी ओर प्रजा का भी यह कर्तव्य था कि वह कोई ऐसा कार्य न करे जिससे राजा को पाप का भागी होना पड़े। राजा अपने तथा प्रजा के योग क्षेम के लिये यज्ञ-क्रियाओं को सम्पन्न करता था, ताकि देवतागण प्रसन्न रह कर उसके राज्य में शान्ति बनाये रखें। राजा यदि प्रजा के पालन करने अथवा उनकी रक्षा करने में उदासीनता दिखाता, तो सर्वत्र उसकी निन्दा की जाती। वेद, संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उपनिषदों में इनकी विशेष चर्चा नहीं की गई है।

महाकाव्य काल में राज्यों का अत्यधिक विस्तार हो गया था। अतएव रामा-

यण तथा महाभारत में राजा के अधिकार एवं कर्तव्यों की विषद व्याख्या की गई है। रामायण में दशरथ, राम, जनक, जैसे राजाओं का चित्रण किया गया है। इनका वर्णन आदर्श शासक के रूप में किया गया है, किन्तु दूसरी ओर रावण जैसे राक्षसी वृत्ति वाले राजाओं का उल्लेख भी मिलता है। महाभारत में भी राजा को दैवी शक्ति के रूप में माना गया है। 'कालोहि कारणं राज्ञो राजा कालस्य कारणम्' के द्वारा उसे सर्वशक्तिमान बताया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में राजा के कर्तव्यों की विस्तृत चर्चा की गयी है। इस काल तक राज्यों को अनेक भागों में बाँट दिया गया था। प्रत्येक राज्य के अलग-अलग राजा होते, जिनमें परस्पर मैत्री एवं द्वेष के भाव बने रहते थे। यद्यपि यह विभाजन काफी पूर्व का था, किन्तु इस युग में परस्पर संघर्षों का विवरण अधिक प्राप्त होता है। संघर्षों का मात्र एक कारण आर्थिक व्यवस्था एवं भूमि तथा प्रजा पर अधिकार था। महाभारत में वर्णित कौरव तथा पांडवों का युद्ध आर्थिक विभाजन का ही द्योतक है।

सूत्रग्रन्थों में राजा के अधिकार एवं कर्तव्यों से सम्बन्धित नियम बताये गये हैं। जातक कथाओं में भी राजाओं से सम्बन्धित अनेक कथायें प्रचलित हैं। इन सब में राजा को सर्वोपरि बताया गया है। स्मृतियों में राज्य व्यवस्था में राजा को क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिये, इसका सम्यक् विवेचन किया गया है। मनु-स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक व्यवस्था का अधि-कारी राजा को ही बताया गया है। स्मृति साहित्य में केवल नियमों का प्रतिपादन किया गया है। वास्तव में व्यवहारिक स्वरूप का चित्रण इन ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता किन्तु नियमों का प्रतिपादन तभी सम्भव है, जबकि समाज में कोई व्यवहारिक ढाँचा विद्यमान हो। बाद के आचार्य कामन्दक ने 'राजास्य जगतो हेतुर्वृद्धेर्वृद्धाभिसंमतः', के रूप में राजा को परिभाषित किया है। उनके अनुसार यदि राजा का आचरण अच्छा नहीं है, तो प्रजा भी सदाचरणयुक्त न होगी अतएव राजा का आचरण से युक्त होना अति आवश्यक था। 'यदि नस्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा' से इस कथन की पुष्टि होती है। कौटिल्य ने राजा कौन था, इस प्रश्न पर विशेष ध्यान न देकर अथवा अपने तर्कपूर्ण विचार न देकर राजा को प्रजापालन के लिये क्या करना चाहिये—इसी का विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु आचार्य शुक्र ने राजा के व्यव-हारिक तथा अव्यवहारिक दोनों पक्षों की व्याख्या की है। इस युग तक पहुँचते-पहुँचते इतना परिवर्तन अवश्य हुआ कि 'महतो हि देवता एषा नर रूपेण तिष्ठति' के महा-काव्य (महाभारत) कालीन विचार 'शासक' तक सीमित रह गये थे। राजा को शासक के रूप में अधिक महत्व दिया जाने लगा था। बाद में कालिदास, भवभूति आदि विचारकों ने व्यवहारिक पक्ष को अधिक महत्व प्रदान किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का मात्र एक नियन्ता राजा होता था। उसी के बनाये गये नियमों के आधार पर सामाजिक क्रियाओं का संचालन होता था। परन्तु राजा शास्त्रों द्वारा बताये गये नियमों का उल्लंघन कर कोई भी कार्य नहीं कर सकता था।

भारतीय समाज का स्वरूप एवं आकार जब तक अल्प था तब तक राजा की कोई आवश्यकता न थी, किन्तु ज्यों-ज्यों समाज का विस्तार होता गया, त्यों-त्यों वर्ग संघर्ष की भावना बढ़ती गयी और एक समय ऐसा आया, जबकि वृहद्‌आकार समाज को राज्य के रूप में जाना जाने लगा। इस राज्य के नियंत्रण हेतु राजा की आवश्यकता हुई। तभी से समस्त कार्य शासक एवं उसके द्वारा शासित प्रजा के रूप में होने लगे।

भारतीय समाज का इतिहास तो वन्य मानव से प्रारम्भ होता है। इसके बाद प्रागैतिहासिक एवं सिन्धु सभ्यता तक राज्य की कोई कल्पना नहीं की गई और न उसका कोई प्रामाणिक स्वरूप देखने को मिलता है। वैदिक काल में आकार राज्य की उत्पत्ति का इतिहास प्राप्त होता है। ग्राम्य, नगर तथा तत्पश्चात् शासित राज्य व्यवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। वैसे तो ऐतिहासिक तथा वैदिक कल्पना में अन्तर पाया जाता है, फिर भी निष्कर्ष यही निकलता है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों एवं काल में राज्य का जन्म हुआ।

महाकाव्य काल में महाभारत तथा रामायण में राज्य तथा उसके सप्तांगों का वर्णन मिलता है। राजा, आमात्य, कोश, सैन्य, ग्राम, देश तथा मित्र' इन सात अंगों का होना राज्य के लिये आवश्यक था। रामायण में कोसल, विदेह आदि नामों से राज्यों का उल्लेख किया गया है। महाभारत में भी हस्तिनापुर जैसे राज्यों का वर्णन मिलता है। इस युग में राज्यों के विकास के लिये सर्वाधिक प्रयास किया गया है। इस युग में गणराज्य तथा संघात्मक दोनों प्रकार की राज्य व्यवस्थायें विद्यमान थीं। इस युग को राज्यों के विकास का स्वर्णिम युग कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। राज्य का संचालन राजा के द्वारा होता था। अतएव राजा के ही प्रयत्न पर राज्य का विकास संभव था। महाभारत के शान्तिपर्व में राज्य व्यवस्था की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

सूत्र तथा स्मृति साहित्य में राज्यों के सम्बन्ध में अत्यधिक अल्प सामग्री उपलब्ध होती है। इससे सिद्ध होता है कि महाकाव्यों के बाद का कुछ समय राज्य चिन्तन से मुक्त था। राज्य व्यवस्था सम्बन्धी नियमों का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु राज्य की कल्पना से सम्बन्धित विचारों में कोई परिवर्तन आ गया हो, ऐसी कोई बात न थी। पुराणों में पुनः अनेक नगरों तथा राज्यों का वर्णन किया गया है।

अतएव तत्कालीन व्यवस्था से यह स्पष्ट होता है कि राज्यों का विकास अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था।

आचार्य वृहस्पति, कामन्दक, कौटिल्य तथा शुक्र ने राज्य के विकास हेतु अनेक उपाय बताये हैं। इन विचारकों ने भी राज्य को सप्तांगों से युक्त बताया है और समस्त क्रियाओं के तन्त्र के रूप में उसकी कल्पना की है। उपर्युक्त चारों आचार्यों में कौटिल्य तथा शुक्र ने राज्य को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न करने हेतु आय के अनेक साधनों का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने तो नागरिक प्रणिधिः से लेकर पण्याध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष आदि अनेक अध्यक्षों की नियुक्ति कर राष्ट्रीय आय को संग्रहीत करने का कठोर मार्ग अपनाया था। उन्होंने राज्य एवं राजा से सम्बन्धित ऐसे नियम बताये हैं, जिनका व्यावहारिक जीवन में प्रयोग किया जाता था। बाद के तीनों आचार्य राजनीतिशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे।

अभी हमने भारतीय सामाजिक संगठन का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। हम देखते हैं कि कोई भी समाज तभी विकासशील कहलाता है, जब वह आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो और उससे प्रजा को संतोष हो। आज हम आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाले जिस शास्त्र को 'अर्थशास्त्र' कहते हैं, उसे प्राचीन काल में 'वार्ता-शास्त्र' के नाम से जाना जाता था। 'वार्ता' को भी चार विद्याओं में से एक माना गया था। 'वार्ता' के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। बाद के आचार्यों ने कुसीद अर्थात् ब्याज को और जोड़ दिया और उसे भी वार्ता का अंग माना जाने लगा।

भूमि तथा वन की व्यवस्था स्वाभाविक रूप से कषि के अन्तर्गत आ जाती है। खनिज पदार्थों तथा अन्य शिल्पकारी द्वारा निर्मित की गई वस्तुओं का अध्ययन हम वाणिज्य के अन्तर्गत करते हैं। इस प्रकार अर्थ के उत्पादन, विनिमय तथा वितरण का भी विचार हम वार्ताशास्त्र के ही अन्तर्गत कर लेते हैं। वार्ता के नियम जीवन के सामान्य नियमों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। वार्ताशास्त्र को इसीलिए अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

वार्ताशास्त्र का इतिहास तो तभी से प्रारम्भ हो जाता है, जब से मानव पशुओं का पालन और कृषि करना सीख गया। खेती करना तो मनुष्य प्रागैतिहासिक काल में ही जान गया था किन्तु सिन्धु सभ्यता में कृषि, पशु-पालन तथा व्यापार इन तीनों क्रियाओं का पर्याप्त प्रचलन था परन्तु विधिवत् इसका अध्ययन अनुशीलन किया गया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इन्हीं सब क्रियाओं का विकास धीरे-धीरे होता गया और जब मनुष्य की चिन्तन-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और वह कुछ विचार करने लगा तब समस्त पृथक-पृथक क्रियाओं का

संकलन कर उन्हें नियमों के रूप में आबद्ध कर दिया। इन समस्त क्रियाओं ने आगे चल कर चार विद्याओं का रूप ले लिया।

यदि हम इस विद्या को आरम्भिक कृषि व्यवस्था से लेते हैं, तो निश्चय ही वार्ता सभी क्रियाओं से प्राचीन क्रिया है। क्योंकि 'त्रयी' की स्थापना काफी बाद में की गयी।

वैदिक काल में कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि से सम्बन्धित क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। अतएव इससे स्पष्ट होता है कि वेदों में वार्ता का महत्वपूर्ण स्थान था, किन्तु इस युग में इसका कोई पृथक अस्तित्व विचारकों की दृष्टि से नहीं रहा है। आगे चल कर त्रयी, वार्ता, दण्डनीति तथा आन्वीक्षिकी के रूप में विचारकों ने समग्र क्रियाओं का विचार किया। महाभारत तथा रामायण ग्रन्थों में समाज को वार्ता पर आश्रित रहने की सलाह दी गयी है। उक्त दोनों ग्रन्थों में कहा गया है कि "वार्ता पर आश्रित रहने से यह संसार सुख पाता हैं"—यह कथन इस बात की पुष्टि करता है कि आर्थिक क्रियाओं को ही सुख का साधन माना गया है। किन्तु इसके पूर्व उपनिषद ग्रन्थों में धन अथवा अर्थ को सुख का साधन नहीं माना गया है। इतना अवश्य था कि लोग उसको सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उपनिषद काल के लोग धन लिप्सा के पक्ष में बिलकुल नहीं थे। सूत्र तथा स्मृति ग्रन्थों में वार्ताशास्त्र के अन्तर्गत आने वाली क्रियाओं का अध्ययन किया गया है। इन्हीं क्रियाओं से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख मिलता है, किन्तु पुराणों में वार्ता शब्द की विस्तृत व्याख्या देखने को मिलती है। वायु पुराण में 'वार्तार्थसाधिकाप्यन्या वृत्तिस्तासांहि कामतः' के रूप में परिभाषित किया गया है।

वृहस्पति, कामन्दक, कौटल्य तथा शुक्र आदि विचारकों ने वार्ता सम्बन्धी क्रियाओं का विस्तृत विवेचन किया है। कौटिल्य ने वार्ता को उपकार करने वाली विद्या बताया है। राजा को वार्ता का ज्ञान होना आवश्यक था। इसीलिए वार्ता विषयक पाठ्यक्रम राजा के लिये निर्धारित किया था। विचारकों का ऐसा अनुमान था कि जिस राजा को वार्ता का ज्ञान नहीं है, वह किसी भी स्थिति में सामाजिक व्यवस्था कायम नहीं कर सकता।

अभी वार्ता के अन्तर्गत हमने अर्थ प्राप्त करने वाली क्रियाओं का परिचय प्राप्त किया। वास्तव में प्राचीन भारतीय समाज में अर्थ की विस्तृत विवेचना की गयी है। तत्कालीन समाज में सम्पूर्ण अर्थतन्त्र को चार पुरुषार्थों के माध्यम से नियंत्रित किया जाता था। उस समय अर्थ का क्षेत्र केवल धन तक सीमित न था, अपितु समाज में ऐहिक सुख प्रदान करने वाली सत्ता से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ा था। फिर भी अनेक स्थानों पर अर्थ शब्द का प्रयोग धन के रूप में किया गया है।

अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष. इन चारों पुरुषार्थों में अर्थ को प्रमुख स्थान दिया गया है, यही कारण है कि प्रारम्भ से ही मानव ने अर्थ को जीवन की प्रथम आवश्यकता माना है। फलतः अर्थ के बिना संसार का जीवन असम्भव है। अतएव अर्थ प्राप्ति का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

ऋग्वेद में अर्थ का प्रयोग धन के रूप में किया गया है। ऋग्वेद के १०वें मण्डल में 'एकापादभूयो, द्विपादो विचक्रमे' मन्त्र से स्पष्ट होता है कि मनुष्य की अभिलाषा धनप्राप्ति की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। इसी प्रकार तैतरीय ब्राह्मण में 'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि अन्न को जीवन सगी मान कर लोग चलते थे। उपनिषदों में भी अन्न की प्रशसा की गई है, किन्तु कठोपनिषद में वर्णित 'न वित्तेन तर्पणीयोमनुष्यः' से उपनिषदकार ने वित्त को प्रधानता नहीं दी है। उनका कहना है कि धन से मनुष्य की तृप्ति कभी नहीं होती।

इस काल मे अर्थ प्राप्ति के सम्बन्ध में जो सबसे महत्वपूर्ण बात कही गई है, वह यह है कि 'धर्म एवं नैतिकता के साथ-साथ समाज मे प्रचलित नियमों को ध्यान मे रखकर धनार्जन करना चाहिए।' इस सम्बन्ध में सबसे विचित्र बात तो यही थी कि यदि एक ओर धन की प्रशंसा की गई है, तो दूसरी ओर उसकी निन्दा। इन दोनों विचारों का लौकिक एवं पारलौकिक जगत की आवश्यकताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था। यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि तत्कालीन भारतीय विचारों में अर्थ शब्द से जो तात्पर्य समझा जाता था वही वर्तमान काल में पश्चिमा अर्थशास्त्र में समझा जाता है। नामलिंगानुशासन (२,८,८०) में इस शब्द के 'द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थरैविभवा अपि' आदि अनेक पर्याय बताये गये हैं।

महाकाव्यों में भी अर्थ को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इस काल में विस्तृत राज्य व्यवस्था होने के कारण अर्थसंग्रह के लिये 'कोष' की व्यवस्था कर दी गई थी। राजा के लिये यह अनिवार्य था कि वह अर्थ प्राप्ति के साधनों का अधिक से अधिक उपयोग कर 'कोष' को भरपूर रखे, जिससे संकट के समय में कठिनाइयों से मुकाबला किया जा सके। उस समय आर्थिक क्रियाओं तथा अर्थ प्राप्त करने के साधनों का काफी विस्तार हो गया था। इतना ही नहीं, यह युग पूर्व की अपेक्षा काफी समृद्ध हो गया था। किन्तु विचारकों की दृष्टि में अर्थ का क्षेत्र सीमित नहीं रहा। सूत्र ग्रन्थों में धन अथवा अर्थ की मान्यता में कोई परिवर्तन नहीं आया। धर्म सूत्रों में अवश्य ही पवित्र एव अपवित्र धन की व्याख्या की गई है और पवित्र धन के उपभोग पर बल दिया गया है। वैसे तो अर्थ एवं धर्म दोनों में सामंजस्य वैदिक काल से चला आ रहा था, किन्तु स्मृतियों में इस पर विशेष रूप से विचार किया गया। याज्ञवल्क्य का कहना है 'अर्थशास्त्र तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' अर्थात् अर्थ एवं

धर्म दोनों में अर्थ का स्थान प्रथम है। महाकाव्यों तथा पुराणों में राजाओं द्वारा अपने राज्य विस्तार के लिये दूसरे राजा पर आक्रमण कर धन प्राप्त करने का बहुशः उल्लेख मिलता है। इसी से यह समझा जा सकता है कि धन या अर्थ का कितना अधिक महत्व बढ़ गया था।

आचार्य बृहस्पति, कामन्दक, कौटिल्य तथा शुक्र ने धन अथवा अर्थ की विस्तार से विवेचना की है। कौटिल्य ने 'अर्थमेव प्रधानं' कहकर इसे सर्वोपरि कर दिया है। वस्तुतः आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने आथिक क्रियाओं के समग्रशास्त्र 'अर्थ-शास्त्र' की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। एडम स्मिथ ने इसे धन का विज्ञान माना है। आगे चलकर मार्शल, पीगू आदि विद्वानों ने इसके व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया है। किन्तु प्राचीन भारतीय विचारकों से तुलना करने पर ये समस्त परि-भाषायें फीकी पड़ जाती हैं। भारतीय विचारकों ने जितना अच्छा धन का स्वरूप वैदिक युग से लेकर महाकाव्यों, सूत्रों, स्मृतियों तथा उसके बाद के ग्रन्थों में वर्णित किया है वह अकाट्य है। ऐसा लगता है कि उसी को आधार मानकर पाश्चात्य देशों के अर्थशास्त्रियों ने विचार प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के लिये आज के अर्थशास्त्री धन एवं द्रव्य में अन्तर स्पष्ट करते हैं। यही भेद भारतीय विचारक आचार्य शुक्र के द्वारा भी किया गया है। धन और द्रव्य में भेद करते हुए शुक्र कहते है "जो वस्तुयें क्रय-विक्रय में प्रयुक्त होती हैं, वे द्रव्य के अन्तर्गत आती हैं तथा अन्य सभी वस्तुएँ जो समाज के लिये उपयोगी हैं, जिनको मोल लिया और बेचा जा सकता है, जिनकी उपयोगिता है, जिन्हें प्राप्त करने की मनुष्य इच्छा करता है, वह सब धन है।"

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि भारतीय अर्थशास्त्र काफी समृद्ध हो चुका था। तत्कालीन समाज के नियंत्रण-परिचालन में उसकी अत्यधिक उपयोगिता थी।

प्राचीन भारतीय समाज में अर्थ को अत्यधिक महत्व दिया गया था, किन्तु उस अर्थ प्राप्ति के साधन कौन-कौन से थे, इनका जानना भी अति आवश्यक है। आरम्भिक समाज में अर्थ अथवा धन प्राप्ति सम्बन्धी क्रियाओं में कृषि, पशुपालन तथा व्यापार ही आती है। वैसे तो अर्थ से तात्पर्य उन सभी वस्तुओं से है, जो मनुष्य के दैनिक उपयोग में आती है। फिर भी कुछ अर्थजन्य क्रियायें अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। उपर्युक्त तीनों उत्तम क्रियायें वार्ता के अन्तर्गत आती हैं। परन्तु अर्थशास्त्र की दृष्टि से इन सब क्रियाओं का अध्ययन हम उत्पादन के अन्तर्गत करते हैं। इसके विस्तृत विवेचन से पूर्व यह जानना आवश्यक होगा कि वास्तव में उत्पादन किसे कहते हैं ? और किन-किन वस्तुओं का उत्पादन कैसे सम्भव हो सका है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न पक्षों को जोड़ दिया है, जिससे इसका क्षेत्र विस्तृत हो गया है। किन्तु प्राचीन काल में इसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। उत्पादन की क्रियाओं का जन्म तो आदिकालीन सभ्यता से ही

हो जाता है, क्योंकि प्रारम्भ में मनुष्य पत्थरों के बने हुये हथियारों से वन में जानवरों का शिकार करते और उसी से अपना पेट भरते थे। अतएव 'मनुष्य के द्वारा किये गये श्रम के बदले में जो कुछ मिले और उससे उसे संतुष्टि हो, वह उत्पादन है, उस उत्पादन के लिये प्रयुक्त शक्तियाँ ही साधन कहलाती हैं। हम देखते हैं कि आरम्भ में भी मनुष्य के सामने जीवन निर्वाह संतुष्टि तथा उसके लिये किसी वस्तु का उत्पादन, ये तीन समस्यायें थीं। उत्पादन के लिये जिन साधनों को अपनाया गया, उनमें श्रम, भूमि तथा क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिये अपनाये गये शस्त्र, इनकी प्रमुख भूमिका रही। इसी उद्देश्य एवं साधनों को लेकर, कृषि, पशुपालन तथा व्यापार आदि की क्रियाओं का शुभारम्भ हुआ। यहाँ पर हम प्रत्येक क्रियाओं एवं साधनों के उपयोग पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

कृषि उद्योग के बारे में आरम्भ में मनुष्य को कोई ज्ञान न था, किन्तु विकास के प्रथम चरण में सर्वप्रथम इसका जन्म हुआ। खेती करने के लिये सर्वप्रथम जिन साधनों की आवश्यकता पड़ी वह थी 'भूमि'। मानव ने जंगली भूमि को इस योग्य बनाना प्रारम्भ किया, ताकि उसमें कुछ उत्पादन किया जा सके। लगातार परिश्रम करते रहने के बाद उसने सफलता प्राप्त की और वहीं से उत्पादन की क्रिया के विकास का प्रथम चरण शुरू हुआ। इस क्रिया को सम्पन्न करने के लिये जो विचार मानव मस्तिष्क में सर्वप्रथम आये, वही भारतीय समाज के प्रथम आर्थिक विचार कहलाये।

सर्वप्रथम लोगों ने भूमि को ही उत्पादन का प्रमुख साधन माना और बाद में श्रम तथा अन्य साधनों का प्रयोग किया गया। आज के अर्थशास्त्री भूमि के अन्तर्गत केवल 'भूमि' अर्थात् पृथ्वी को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण प्राकृतिक वस्तुओं का अध्ययन करते हैं। किन्तु प्राचीन काल में ऐसा न था। भूमि को देवता के तुल्य समझा जाता था। यहाँ तक कि लोग उसकी पूजा करते थे। ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल में वर्णित 'सा नः पयस्वती दुहामुत्तरां समाम, शुनः नः फला विकृषन्तु भूमि शुनं कीनाश अभियन्तु वाहैः' मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है कि भूमि की मर्यादा का पालन प्राचीन काल में लोगों ने बड़े ही आदरपूर्वक किया है।

महाभारत तथा रामायण में वार्ता शब्द का अनेकशः उल्लेख किया गया है। इस वार्ता की आधारशिला इस युग में भी भूमि को माना गया है। इस समय तक भूमि को कई भागों में विभक्त कर दिया गया था। एक तो वह भूमि, जो खेती करने योग्य होती, दूसरी वह भूमि, जिसे चारागाह के लिये छोड़ दिया जाता था। तीसरे प्रकार की भूमि वह थी, जिसे 'ऊसर' कहते थे और उसमें वस्तुओं का उत्पादन नहीं हो पाता था।

महाकाव्य युग तक भूमि की उपयोगिता उत्पादन के क्षेत्र में अत्यधिक बढ़ गयी थी। 'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' की भावना के साथ-साथ कौन सी भूमि उपयोगी है, किस भूमि पर खेती करना चाहिये आदि विषयों पर विशेष रूप से विचार किये जाने लगे थे। भूमि के बँटवारे का पूरा हिसाब किताब राजा के हाथ में होता था, क्योंकि उसे उत्पादन का १।६ भाग प्राप्त करने की चिन्ता रहती थी। सूत्र तथा स्मृति ग्रन्थों में भी भूमि की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है, किन्तु कोई विस्तृत विवेचना एवं विचारों में परिवर्तन नहीं पाया गया। आगे चल कर कौटिल्य अर्थशास्त्र में भूमि की विषद व्याख्या की गयी है। आचार्य कौटिल्य ने व्यवहारिक रूप में भूमि को अत्यधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया है। 'सहोदकम् आहार्योदकं व सेतुं बन्धयेत्। अन्येषां वा बध्नतां भूमि मार्ग वृक्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्।' कौटिल्य के ये विचार भूमि में तालाब खुदवाने, वृक्षारोपण करने की सलाह देते हैं। फलतः इस समय तक विचारों में इतनी प्रौढ़ता आ चुकी थी, कि वे भूमि के उपयोग के व्यवहारिक पक्ष का अध्ययन विशेष रूप से करने लगे थे। इससे यह तात्पर्य नहीं कि लोगों की धार्मिक आस्था जाती रही हो। आचार्य मनु ने इसे देवतुल्य मान कर अनादर न करने की सलाह दी है। बृहस्पति, कामन्दक, शुक्र आदि आचार्यों ने भूमि को उत्पादन का प्रमुख अंग माना है। निष्कर्ष यह है कि पृथ्वी, जल, वायु, आकाश तथा अग्नि, ये सृष्टि के प्रथम अंग हैं। अतएव इन्हें ही प्राचीन विचारकों ने पंच-तत्व की संज्ञा दी है। भले ही आधुनिक वैज्ञानिक इस तथ्य से सहमत न हों, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उक्त तत्वों के आधार पर ही समस्त क्रियायें विकसित हो सकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भूमि का क्रमिक विकास सामाजिक वातावरण एवं विचारों के अनुकूल बदलता गया। वास्तव में उसका लक्ष्य चाहे प्राकृतिक वस्तुयें हों और चाहे, मनुष्य द्वारा उत्पादन की जाने वाली, सभी को समान रूप से विकसित करना रहा है। अन्तर केवल इतना रहा है कि मनुष्य द्वारा उत्पादित वस्तुओं का कोई एक निश्चित उद्देश्य होता है, प्रणाली और व्यवस्था होती है और प्राकृतिक वस्तुये स्वयं उत्पन्न हो किसी न किसी रूप में उपयोगी बन जाती है।

उत्पादन का प्रथम साधन भूमि था। इसके बाद सबसे महत्वपूर्ण साधन श्रम था। क्योंकि इसके बिना किसी भी प्रकार की क्रिया का होना असंभव था। आरम्भ में लोग, पत्थर के बने शस्त्रों के द्वारा जंगलों में शिकार करते थे। लोगों की यह क्रिया भी श्रम के द्वारा होती रही। इसके बाद धीरे-धीरे जब लोगों ने कृषि का कार्य प्रारम्भ किया, तब श्रम की और अधिक आवश्यकता पड़ी। फलतः लोग एक परिवार एवं बाद में समाज की रचना कर परस्पर सहयोग से कार्य करने लगे। जैसे-जैसे समाज का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे श्रम की आवश्यकता एवं उसका महत्व बढ़ता गया।

ऋग्वेद में वर्णित वर्ण विभाजन श्रम विभाजन के नियमों पर आधारित हैं। समाज का जब काफी विस्तार हो गया, तब विचारकों ने सम्पूर्ण समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में बाँट दिया। जिसके फलस्वरूप सभी कार्यों का बटवारा हो गया और वे अपने-अपने कार्य करने लगे। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने श्रम विभाजन के सिद्धान्त को अर्थशास्त्र में सर्वोपरि मान्यता दी है। यह श्रम विभाजन का सिद्धान्त भारतीय व्यवस्था में वेद काल से विद्यमान था। इस श्रम विभाजन के फलस्वरूप ही 'श्रम' के कई भेद हो गये और कृषि उद्योग के अतिरिक्त शिल्पकार, कलाकर तथा नाना प्रकार के उद्योग धन्धों का जन्म हुआ।

प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार 'श्रम' मानव की वह शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये वस्तुओं का उत्पादन करता है। अतएव मनुष्य की आवश्यकताओं के साथ-साथ श्रम का विकास प्रारम्भ हुआ। वास्तव में श्रम आगे चल कर कितने भागों में विभक्त हो गया, इसका उल्लेख करना कठिन होगा, क्योंकि जितने प्रकार की क्रियाओं का जन्म होता गया, उतने ही प्रकार का रूप श्रम का भी बनता गया।

आरम्भिक ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि प्रारम्भ में लोग सामाजिक वस्तुओं के उपभोग के बदले में श्रम देते थे, किन्तु बाद में वे कर देने लगे। यहाँ तक कि दास के रूप में कार्य करने की प्रक्रिया सम्पूर्ण श्रम को दे देने की प्रक्रिया का द्योतक है।

महाकाव्य काल में रामायण तथा महाभारत में श्रम सम्बन्धी नियमों में कड़ा प्रतिबन्ध लगाया जाने लगा। शासक के निर्देशानुसार समाज के हर वर्ग को कार्य करना आवश्यक था। यदि वह बताये गये नियमों के आधार पर कार्य न करता, तो उसको दंडित किये जाने का भी विधान था। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि यह श्रम बाद में समाज के एक ही वर्ग के हाथ में रह गया, जिसे श्रमिक वर्ग कहा गया। श्रम के आधार पर समाज को कई वर्गों में बाँट दिया गया था। एक वर्ग तो वह था जो स्वयं अपने कार्यों को करता था, दूसरा वर्ग वह, जो स्वयं कार्य न कर दूसरों को मजदूरी देकर काम करवाता था। इसी वर्ग विभेद ने पूँजीवाद को जन्म दिया और समाज में एक नयी क्रान्ति की लहर फैल गयी।

विद्वानों ने इस श्रम को कर्म के रूप में भी मान्यता दी है और उनका आग्रह था कि समाज के हर व्यक्ति को कर्म करना चाहिये। अतएव कर्म एवं श्रम दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। विचारकों का यह सिद्धान्त रहा है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिलना चाहिए और प्रत्येक कार्य के लिये व्यक्ति मिलने चाहिये। इसीलिये समाज को विभिन्न वर्गों में विभक्त कर प्रत्येक व्यक्ति के

लिये कार्य निश्चित कर दिये गये थे। कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार, मनचाहा कार्य नहीं कर सकता था। परन्तु हर व्यक्ति की जीविका के साधन उपलब्ध थे। कोई भी व्यक्ति जीवन निर्वाह के साधनों से अलग न था। व्यक्ति के जीवन में अनिश्चितता एवं भय की कोई भावना न थी। उसको यह चिन्ता न थी कि उसके जीवन में आगे चल कर क्या होगा। 'भारतीय धारणा के अनुसार व्यक्ति जिस कुल में जन्म लेता है, उसमें पैतृक संस्कार के रूप में कुछ न कुछ गुण अवश्य विद्यमान होते हैं। फलतः परम्परागत चले आ रहे कार्यों का ज्ञान उसे स्वयं हो जाता है। वातावरण के अनुकूल भी प्रत्येक कार्य का उसे पूर्ण ज्ञान होता जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति को मनचाहा कार्य करने की स्वतंत्रता देने का अर्थ, उसकी भौतिक महत्वाकांक्षाओं को स्थान देना है। इसके अतिरिक्त जब व्यक्ति का कार्य उसकी आध्यात्मिक उन्नति के आधार पर निश्चित किया गया है, तो उसे मनचाहा कार्य करने की स्वतंत्रता देने का अर्थ है, उसको उस कार्य की अनुमति देना, जिसके विषय में गुणानुसार मान्यता नहीं है।

भारतीय विचार में कार्य निर्धारण का मापदंड मानसिक स्तर नहीं है। प्राचीन काल में यह निर्धारण आध्यात्मिक स्तर को आधार मान कर लिया गया है। यद्यपि श्रेष्ठ गुणवाले व्यक्ति का मानसिक स्तर भी कम न होगा, ऐसी मान्यता प्रदान की गयी है। जिसके फलस्वरूप भी प्रत्येक व्यक्ति की जीविका को ध्यान में रख कर कार्यों का निर्धारण किया गया है। किन्तु यह मान्यता आज जैसी न थी। वर्तमान समय में तो मानसिक स्तर को ही ध्यान में रख कर कार्यों का निर्धारण अथवा जीवन निर्वाह की वृत्ति का बँटवारा होता है। उस समय प्रत्येक कार्य के लिये आवश्यक व्यक्ति भी मिल जाते थे। समाज की सम्पूर्ण रचना आध्यात्मिक विचारों पर आधारित होने के कारण श्रम का मूल्य आंकना भी आसान था। किसी भी प्रकार के कार्य को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। हर व्यक्ति सामाजिक विकास की दिशा मे प्रयत्नशील था। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मे भी श्रमिक सघ की भूमिका रही है, किन्तु आज जैसा संगठनात्मक स्वरूप नहीं था। भारतीय अर्थव्यवस्था में उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम में भी कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि विचारकों का यह मत रहा है कि बहुत से ऐसे कार्य हैं, जो बाहर से अनुत्पादक दिखायी पड़ते हैं और समाज के लिए बहुत उपयोगी हैं। उदाहरण के लिये ब्रह्मचारी एवं सन्यासी का कार्य आध्यात्मिक वातावरण के लिये उपयोगी हैं, किन्तु स्त्रियों का कार्य एक सामान्य गृह कार्य है। इसका अपना एक अलग अस्तित्व है। अनाथ, वृद्ध, विधवा, कन्या, अपराधिनी तथा जिनके पति परदेश गये हों उनसे गृहकार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य करवाने का विधान है। इन स्त्रियों के लिये काम का विधान इसलिये रखा गया है, ताकि उनका जीवन निर्वाह होता रहे। किन्तु परिवार की देखभाल करने वाली गृहणियों

को केवल समाज के प्रथम अंग बालक तथा परिवार को सुव्यवस्थित रखने का आग्रह किया गया है। स्त्रियों के भी शारीरिक तथा मानसिक गुणों को ध्यान में रख कर कार्य सौंपे गये हैं।

श्रम के अन्तर्गत शिल्पी, कारीगर तथा कुटीर उद्योग धन्धों में लगे हुये लोगों का कार्य भी आता है। रामायण, महाभारत तथा सूत्र ग्रन्थों में अनेक प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख मिलता है। शुक्र ने कारीगरों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के नियमों का उल्लेख किया है। इसके पूर्व आचार्य कौटिल्य ने जुलाहा, धोबी, सुनार, लुहार आदि कार्यों में लगे हुये श्रमिकों के श्रम का उल्लेख किया है।

अभी हमने श्रम तथा कर्म के बीच सामांजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। वास्तव में कर्म की कल्पना अत्यन्त पुरानी है, जबकि श्रम की कल्पना बाद की है। आज भी कुछ लोग यह मानते हैं कि पूर्व जन्म के कर्मों का फल मनुष्य या कोई भी प्राणी दूसरे जन्म में भोग करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी इस तथ्य की गहराई तक पहुँच कर इसे मान्यता देते हैं। यदि इसे हम स्वीकार करते हैं, तो यह निश्चय है कि कर्म का चक्र बराबर चलता रहता है, इसका कोई अन्त नहीं है।

प्राचीन ग्रन्थों में कर्म को सर्वाधिक मान्यता प्रदान की गयी है। चारों वर्णों को शास्त्र विहित कर्मों को करने का निर्देश दिया गया है। इसके विपरीत कर्म को करने वाला शास्त्र विरोधी एवं दन्ड का भागी होता था। भगवद् गीता में कर्म को ही प्रधान मानकर जीवन निर्वाह करने की सलाह दी गयी है। 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते माफलेषुकदाचन' कर्म करो फल की आकांक्षा मत करो, यह शास्त्र का आदेश था। इसी प्रकार आचार्य शुक्र ने भी 'कर्मैव कारणं चात्र सुगतिं दुर्गतिं प्रति' के रूप में कर्म को पारिभाषित कर स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य की अच्छाई एवं बुराई कर्म पर ही आधारित है। पाप और पुण्य के फल को प्रदान करने वाला कर्म ही होता है। अतएव समाज के हर व्यक्ति को शास्त्रों के निर्देशानुसार कार्य करना चाहिये। शुक्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा म्लेछ आदि जातियों का उद्भव गुण और कर्म के कारण मानते हैं।

सामाजिक दृष्टिकोण से मानव शक्ति को सर्वोपरि माना गया है। यद्यपि भारतीय विचार में जनसंख्या के सम्बन्ध में कोई सैद्धान्तिक विवेचना नही की गयी फिर भी इतना अवश्य है कि जनसंख्या को सीमित करने का कोई भी उपाय उचित नहीं माना गया है। भारतीय विचारों में कन्या एवं पुत्र को भी रत्न की संज्ञा दी गई है। अर्थात् उसे भी सम्पत्ति के रूप में माना गया है। सन्तानोत्पत्ति के लिये लोग नाना प्रकार के उपाय करते थे। यही कारण था कि विद्वानों ने हर व्यक्ति

के साथ 'पितृ ऋण' से मुक्त होने का प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसीलिये यह भी नियम बनाया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके वैवाहिक जीवन व्यतीत करना चाहिये। धर्म ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से इन नियमों का उल्लेख किया गया है कि ऋतु काल में पुरुष को सन्तानोत्पत्ति के लिये अपनी पत्नी से सम्बन्ध अवश्य स्थापित करना चाहिए।

प्राचीन काल में भारतीय विद्वानों ने दर्शन को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया था। दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर यह माना गया है कि शिशु पहले वीर्य रूप में पुरुष के शरीर में ही वास करता है, किन्तु पुरुष और स्त्री के संयोग से वह शरीर धारण करता है। ऐसी स्थिति में संतति निरोध का प्रयत्न उसको उसके स्वाभाविक जन्म से वंचित करता है, अर्थात् उसकी भ्रूण हत्या करता है। इस लिए भ्रूण की हत्या ही पाप नहीं अपितु प्रतिमाह स्त्री से सन्तानोत्पत्ति की दृष्टि से सम्बन्ध न करना भी भ्रूण हत्या के समान ही पाप है।

प्रारम्भ में स्त्रियों का महत्व संतति उत्पन्न करने की दृष्टि से ही रहा है, किन्तु बाद में वे भी जीविका चलाने के लिये नाना प्रकार के कार्यों में हाथ बटाने लगीं। भारतीय विचारकों ने 'अपत्यार्थे स्त्रियाः सृष्टा' के सिद्धान्त को जन्म दिया और बाद में इन्हें देवताओं की सहवासिनी के रूप में प्रतिष्ठित किया। यजुर्वेद के इस मंत्र 'आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योतिव्याधी महारथो जायतां द्रोग्ध्रीधेनुः सप्तिः पुरन्ध्रि जोष्णू रथेष्ठाः' से समाज में स्त्रियाँ कैसी होनी चाहिये, इसका पता चलता है। महाभारत एवं रामायण में द्रोपदी, कुन्ती, सीता आदि आदर्श नारियों के माध्यम से सामाजिक आदर्श उपस्थित किया गया है। बाद में आचार्य मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'यत्र नार्यास्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवताः' अर्थात् जहां पर नारियों की पूजा होती है, वहीं देवतागण निवास करते हैं। महाभारत में १८ हजार अक्षोहणी सेना का जिक्र किया गया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जनसंख्या के बारे में लोगों के विचार क्या रहे होंगे और किस प्रकार से उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी।

तत्कालीन अर्थव्यवस्था से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि लोग आलस्य विहीन होकर कार्य करते थे और जनसंख्या घटाने के बारे में कभी सोचते भी न थे। इसके विपरीत सन्तानोत्पत्ति के लिये सर्वत्र मंगलकामना की जाती थी, आशीर्वाद दिया जाता था। संभव है उस समय समाज की उन्नति के लिये जनसंख्या की आवश्यकता रही हो।

जनसंख्या के अलावा सामाजिक कार्यकुशलता का भी विवेचन बड़े ही विद्वतापूर्ण ढङ्ग से किया गया है। इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थ रहने के आदेश दिये गये हैं। 'सत्यंवद, धर्मचर स्वाध्याद् माप्रमदः, शास्त्र के इस आदेश को पालन

करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य था। आहार, निद्रा, मैथुन आदि क्रियाओं के लिये उचित नियम बनाये गये थे ताकि मनुष्य नियमित रूप में कार्य करके स्वस्थ रह सके।

उदाहरण के लिये दिन में केवल दो बार भोजन करने का नियम था। भोजन कैसा भी क्यों न हो उसे सुरुचिपूर्ण ढङ्ग से खाने का निर्देश था। इसी प्रकार निद्रा के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'दिवा मा 'स्वाप्सीः' दिन में मनुष्य को नहीं सोना चाहिए। क्योंकि इसका प्रभाव मनुष्य स्वास्थ्य के पर पड़ता है। व्यक्ति के जीवन में शुद्धि का नियम, किसी की जूठी वस्तु को न खाने की सलाह, स्पर्श का विवेक, ये सारी बातें स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर सिद्ध होती थी। विचारकों का मत था कि 'प्रातः काले प्रबुद्धः' अर्थात् ब्राह्म मूहूर्त में उठना, दंत मार्जन, स्नान, प्राणायाम, आसन आदि का शारीरिक विकास में प्रभाव पड़ता है और उसी से मनुष्य स्वस्थ रहता है।

वेदों में 'जीवेम शरदः शतम्, श्रुणुयाम शरदः शतम् पश्यामि शरदः शतम्' की प्रार्थना इस बात का प्रमाण है कि लोगों के मन में सौ वर्ष तक जीने की कामना थी। भारतीय बिचारक भली भाँति यह समझते थे कि स्वस्थ शरीर से ही कुशल कार्य किया जा सकता है। अतएव इसके लिये सिद्धान्तों के आधार पर नियमों में आबद्ध होकर प्रत्येक व्यक्ति को जीवन व्यतीत करना अनिवार्य था।

उत्पादन के लिये एक बहुत बड़ी आवश्यकता पूंजी की समझी गई है। बिना मूल पूंजी के किसी वस्तु का उत्पादन करना असंभव है। आरम्भ में पूंजी का क्षेत्र बहुत सीमित था, किन्तु मनुष्य की आवश्यकताओं के साथ-साथ उसमें वृद्धि होती गयी और बाद के अर्थशास्त्री उसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की वस्तुओं का अध्ययन करने लगे। साधारण अर्थ में पूंजी मनुष्य के द्वारा संचित की गयी, वह धनराशि है, जिसके द्वारा वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वस्तुओं का उत्पादन कर उसमें वृद्धि करता है।

आदिकालीन मानव ने प्राकृतिक वस्तुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें अपना बनाया और बाद में उनका प्रयोग कर अन्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने लगा। उस समय की पूंजी केवल पत्थरों एवं अन्य प्रकार की बनी धातुओं के शस्त्र थे, क्योंकि इन्हीं के द्वारा वे पशुओं का शिकार कर अपने उदर की पूर्ति करते थे। वेदों में पूंजी का अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। भूमि पर स्वामित्व कर लोगों ने उसे अपनी पूंजी मान लिया और यह परम्परा आज तक समाज में बराबर चली आ रही है। भौतिक, अभौतिक, आध्यात्मिक हर प्रकार की क्रियाओं में मनुष्य पूंजी का प्रयोग करने लगा। धातुओं की खोज के बाद लोगों ने उसका एक विशेष रूप मान कर सिक्कों को जन्म दिया और पूंजी के रूप में उनका भी प्रयोग किया जाने लगा।

पूंजी के फलस्वरूप ही समस्त सामाजिक क्रियाओं का विस्तार हो सका, इसमें सन्देह नहीं है।

पूंजी के सम्बन्ध में भारतीय धारणा यह है कि आर्थिक जीवन के लिये पूंजी का होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिये करों का वर्णन करते समय यह आदेश दिया गया है कि 'कर इस प्रकार नहीं लगाना चाहिए कि जिससे मूल पूंजी ही नष्ट हो जाय। माली का उदाहरण देते हुये कहा गया है कि 'जिस प्रकार माली फूलों को चुनकर कलियों को छोड़ देता है। उसी प्रकार पूंजी को छोड़कर राजा को प्रजा से कर वसूल करना चाहिए। यह भी कहा गया है कि राजा को अपनी तृष्णा को शान्त करने के लिये दूसरे के मूल को नहीं नष्ट कर देना चाहिए।'

भारतीय विचारकों ने व्यापार तथा अन्य आर्थिक कार्यों में तो पूंजी का उपयोग करना श्रेयस्कर माना है, किन्तु इसके विपरीत कंजूसी करके धन एकत्रित करना अच्छा नहीं माना गया है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने पूंजी के दो भेद माने है—प्रथम चल पूंजी तथा दूसरी अचल पूंजी। ठीक यही सिद्धान्त हमारी प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था में भी था। भूमि को अचल पूंजी माना गया है, जब कि सिक्के तथा वस्तुओं का आदान प्रदान चल पूंजी के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार उद्यान, तालाब, मन्दिर आदि उपयोगी चीजों का निर्माण भी स्थिर पूंजी के अन्तर्गत आता है। धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में ब्याज तथा धरोहर आदि के नियम पूंजी पर ही आधारित बताये गये हैं। भारतीय ग्रन्थों में इनकी विषद व्याख्या की गयी है।

मनुष्य के पास जब पूंजी का संग्रह अधिकाधिक होने लगा, तब वह महत्वपूर्ण कार्यों तथा जिनमें पूंजी अधिक खर्च होना था, उनमें परस्पर सहयोग से पूंजी लगा कर कार्य करने लगा। कार्य करने की यह प्रक्रिया साझेदारी प्रथा कहलायी। सामूहिक कार्य प्रणाली का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण रहा है। साझेदारी के सम्बन्ध म बनाये गये नियमों में साझेदारों का उतरदायित्व, उनके बंटवारे में प्राप्त लाभांश तथा मृत्यु के समय प्राप्त होने वाले अंश का वर्णन किया गया है।

पूंजी की तुलनात्मक आवश्यकता वर्तमान काल के समान न थी। आर्थिक जीवन में सेवाओं का मूल्य वस्तुओं के द्वारा भी चुकाये जाने की व्यवस्था थी। पूंजी के अन्तर्गत केवल धन ही नहीं आता। इसके अन्तर्गत उत्पादन के साधनों का भी अध्ययन किया जाता था। भारतीय अर्थव्यवस्था में पूंजी के साथ-साथ उत्पादन में यंत्रों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। भारतीय विचारकों की दृष्टि में छोटे यंत्रों का प्रयोग अधिक श्रेयस्कर समझा गया है, क्योंकि उनका विचार था कि बड़े यंत्रों के प्रयोग से पूंजी थोड़े से हाथों में संचित हो जाती है और समाज को सारी आर्थिक

सत्ता उन थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। वे थोड़े से व्यक्ति ही सारे समाज का संचालन करते हैं।

बड़े यन्त्रों के प्रयोग से मनुष्य श्रम से दूर हट जाता था और उसके स्थान पर यन्त्र ही कार्य करने लगते, जिससे मानवीय श्रम की महत्ता घट जाती। वर्तमान काल में असामान्य आर्थिक व्यवस्था का मात्र एक कारण बड़े यन्त्रों का प्रयोग है। कुछ लोग वैज्ञानिक यन्त्रों के उपयोग से पूंजी इकट्ठा कर लेते हैं, जब कि दूसरे वर्ग के पास पूंजी का संग्रह नहीं हो पाता।

प्रारम्भिक इतिहास से पता चलता है कि पत्थरों तथा धातुओं के बने हुये यंत्र ही पूंजी का कार्य करते थे, किन्तु बाद में धातुओं के उत्पादन के साथ-साथ पूंजी का विस्तार होता गया। वैदिक युग में पशु धन, कृषि आदि को पूँजी माना गया है, इन्हीं को आधार मानकर क्रय-विक्रय आदि की क्रियायें सम्पन्न होती थी। उस युग में भी सिक्कों का उल्लेख मिलता है। अतएव आर्थिक व्यवस्था के संचालन में सिक्कों को माध्यम बनाया गया। महाभारत एवं रामायण काल में पूंजी का और अधिक विस्तार हुआ। इस युग में राष्ट्रीय पूंजी ने अपना अलग स्थान बना लिया। राजा राष्ट्र कोष के सम्वर्धन हेतु प्रयत्नशील रहता था। क्योंकि इस संग्रहीत पूंजी का उपयोग राज्य व्यवस्था के लिये किया जाता था। सूत्र एवं स्मृति ग्रन्थों में सम्पत्ति के बंटवारे या सम्पत्ति के उत्तराधिकार से सम्बन्धित नियम प्राप्त होते हैं। इन्हीं नियमों के आधारपर पूंजी के उत्तराधिकारी को पूंजी में हिस्सा बंटाने का अधिकार दिया गया था।

उत्पादन के इन साधनों से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में प्राकृतिक वस्तुओं के उत्पादन का तो महत्व है ही, सोने, चाँदी, लकड़ी तथा अन्य धातुओं की बनी वस्तुओं के उत्पादन का भी महत्व समझा गया है। 'भूमि' या प्रकृति उत्पादन का प्रमुख साधन थी। इसे तो भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रमुख स्थान दिया ही गया था, किन्तु श्रम तथा पूंजी का महत्व कुछ कम न था। पूंजी का उपयोग अधिकांशतः व्यापार तथा वस्तुओं के निर्माण के लिये किया जाता था। श्रम का मूल्य साधारणतया वस्तुओं के द्वारा भुगतान किया जाता था और पूंजी लगा कर बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना करने की उस समय कोई परिकल्पना न थी। जिसके परिणामस्वरूप आज की भाँति श्रम तथा पूंजी में सामंजस्य स्थापित करना संभव न था। बड़े यन्त्रों के प्रयोग का प्रचलन न होने के कारण व्यापारिक अथवा व्यवसायिक संगठनों के अतिरिक्त कोई अन्य संगठनों को महत्व नही प्रदान किया गया था।

वर्तमान काल की आर्थिक परिस्थितियाँ उस समय से बिल्कुल भिन्न है। उस समय श्रम को केवल उत्पादन का ही साधन न मानकर मानव हितों एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से उसे उपयोगी बताया गया है। मनुष्य को केवल आर्थिक प्राणी न मानकर

सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न बताया गया है। जबकि आज के वैज्ञानिक समाज में उसकी उपयोगिता अर्थ की दृष्टि से ही आंकी जा रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक जीवन उसका एक अंग माना गया है। मनुष्य का वास्तविक विकास आध्यात्मिक पक्ष को ध्यान में रखकर किया गया है। समाज के हर व्यक्ति को जीवन निर्वाह का अधिकार देकर उसे अपने कर्तव्यों का पालन करने की सलाह दी गयी है।

उपर्युक्त सभी साधन परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। श्रम, पूंजी दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। बिना श्रम के पूंजी की कोई उपयोगिता नहीं और पूंजी के बिना श्रम का कोई महत्व नहीं है।

उत्पादन के साधनों के पश्चात् यह जानना आवश्यक होगा कि भारतीय अर्थव्यवस्था में किस चीज के उत्पादन को अधिक महत्व दिया गया है और इसका इतिहास क्या रहा होगा ? साधनों के बारे में जानकारी करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रम, पूंजी दोनों की लागत से जिस आवश्यक वस्तु का उत्पादन होता है वह उत्पादित वस्तु कहलाती है अर्थात् दोनों के संयोग से जब कोई तीसरी वस्तु तैयार होती है, वह उत्पादन कहलाता है। प्राचीन आर्थिक व्यवस्था में पूंजी तथा श्रम को विशेष महत्व दिया गया है। सर्वप्रथम उत्पादन के यही प्रमुख अङ्ग थे, किन्तु बाद में वर्तमान अर्थशास्त्रियों के परिश्रम से उत्पादन के उद्यम और साहस ये दो अङ्ग और आकर जुड़ गये।

उत्पादन का इतिहास कृषि प्रणाली से प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम लोगों ने अपने जीविकोपार्जन के लिये खेती करना प्रारम्भ किया। ऐतिहासिक आधार पर प्रागैतिहासिक काल में ही लोगों को खेती करने का ज्ञान हो चुका था। सिन्धु सभ्यता में भी गेहूँ जौ आदि अनेक खाद्यान्नों का उत्पादन किया जाता था।

वैदिक युग में आकर कृषि करने के नियमों का अधिक विस्तार हो गया। लोग खाद इत्यादि डालकर भूमि को उर्वरा बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। वे खेती करने के लिये हल बैलों का प्रयोग करते थे 'युनक सीरा वियुगा तनध्वं कृते योनम् वपतेह बीजम्' ऋग्वेद के इस मंत्र से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन लोग कृषि को उन्नतिशील बनाने के लिये हर प्रकार के साधनों का प्रयोग करते थे। वेदों में इन्द्र से बार-बार याचना की गयी है, कि वह जलवृष्टि करें, ताकि खेती फलवती हो। खाद्यान्नों में गेहूँ, जौ, धान्य आदि अनेक प्रकार की फसलों का उल्लेख मिलता है।

ब्राह्मण, आरण्यक एवं मंत्र संहिताओं में कृषि की और अधिक उपयोगिता

बताया गया है। इस युग में २४ बैलों के द्वारा खेती करने का उल्लेख मिलता है। लोग ऐसे अनाजों को पैदा करने की कला को जान गये थे, जिसका पहले ज्ञान न था।

महाकाव्य काल में राज्यों का विस्तार हो जाने के कारण कृषि उद्योग का और अधिक विस्तार हो गया। खेती करने से सम्बन्धित अनेक प्रकार के नियम बनाये गये थे। महाभारत में सिंचाई को दृष्टि में रखते हुये कहा गया है कि 'यस्य क्षेत्रा-दप्युदकं क्षेत्रमन्यस्य गच्छति, न तन्म निच्छतस्तस्य भिद्येरन सर्व सेतवः 'अर्थात् सींचने के हेतु बंधी बाँध कर संग्रह किये गये जल को बहाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। सूत्रों तथा स्मृति ग्रन्थों में खेती करने के अनेक नियमों का उल्लेख किया गया है। परन्तु इस युग में कृषि की प्रगति का कुछ विशेष स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता। इसके बाद पुराणों में, आचार्य कौटिल्य, कामन्दक आदि विचारकों के ग्रन्थों में कृषि सम्बन्धी विपद व्याख्या की गयी है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुएं, अन्य पदार्थ तथा पशुओं एवं खनिज पदार्थों से प्राप्त वस्तुओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। कौटिल्य ने सिंचाई के विभिन्न साधनों, वस्तुओं की सिंचाई कब और कैसे की जानी चाहिए, कौन सी वस्तु के लिये मौसमी खाद दी जानी चाहिए तथा फसलों को बोने आदि से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कृषि के रोगों तथा विभिन्न प्रकार की बाधाओं को, जैसे टिड्डी, चूहे, पक्षी आदि से किस प्रकार खेत की रक्षा करनी चाहिए, किस स्थान में खेती में पानी अधिक उपयोगी होता है, बीजों का संग्रह किस प्रकार होना चाहिए, इन सभी आवश्यक विचारों का विवेचन कौटिल्य अर्थशास्त्र में किया गया है।

सीताध्यक्षः के अन्तर्गत कृषि की सम्पूर्ण व्यवस्था का चित्रण किया गया है। 'कृषि तंत्र शुल्ब वृक्षायुर्वेदज्ञः कर्षण यंत्रोपकरण बली वर्देश्चैषामसंगं कारयेत्' अर्थात् कृषि तंत्र, वृक्ष, आयुर्वेद तथा शुल्ब तंत्र आदि के नियमों के बारे मे पर्याप्त रूप से वर्णन किया गया है। कृषि की व्यवस्था का वर्णन करते हुये कौटिल्य कहते हैं कि 'यदि खेत का स्वामी बीज न बोवे, तो उसे दंड दिया जाना चाहिए। यदि खेत में कोई दोष अथवा बीमारी आ गयी हो अथवा कृषक स्वयं असमर्थ हो तो उसका कोई दोष नहीं है। ऐसी स्थिति मे यदि किसान चाहे तो वह खेत को अन्य व्यक्ति को दे दे। यह भी विधान बताया गया है कि यदि एक व्यक्ति खेत को न जोते और दूसरा उसकी पैदावार ठीक से कर सके, तो ५ वर्ष तक उसके उपयोग का अधिकारी हो सकता है। इतना ही नहीं ग्रामों में रहकर कृषि करना अनिवार्य था, क्योंकि कौटिल्य

का कहना है कि यदि ग्रामवासी खेती न करे तो गाँव के ही लोगों को चाहिए कि वे उसे दंडित करें।'

आचार्य शुक्र कृषि व्यवस्था का वर्णन करते हुये कहते हैं कि खेती करने में असमर्थ कृषक की सहायता राज्य की ओर से की जानी चाहिए, किन्तु आचार्य कौटिल्य का मत है कि राज्य द्वारा ली गयी इस प्रकार की सहायता को धीरे-धीरे लौटा देना चाहिए, उनका यह भी कहना है कि दंड, बेगार, कर आदि की बाधाओं तथा चोर, हिंसक, रोग आदि से कृषि की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है। अग्नि पुराण तथा कामन्दक दोनों में इस कथन की पुष्टि की गयी है। कौटिल्य के अनुसार कृषि व्यवस्था की जानकारी के लिये गुप्तचर की नियुक्ति की जानी चाहिये और उस समय यह व्यवस्था मौजूद थी।

पशुओं से खेती की रक्षा करने के नियम कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुमृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में विस्तार से दिये गये हैं। सिंचाई का महत्व वैसे तो प्रारम्भ से ही रहा है किन्तु कौटिल्य ने राज्य को इसके लिये उत्तरदायी बताया है। वैदिक युग में वर्षा के जल पर लोग विशेष कर निर्भर करते थे, किन्तु कौटिल्य के समय तक में केवल वर्षा पर ही निर्भर रहना उचित नहीं माना जाने लगा था। आचार्य कौटिल्य का कहना है कि 'राजा स्वयं सिचाई के साधन बाँध आदि बनवाये और यदि अन्य लोग बनवाने की इच्छा रखते हों, तो उन्हें भूमि, मार्ग, उपकरण आदि की सहायता प्रदान करें। यदि कोई नया तालाब बनवाये तो उससे तीन वर्ष तक शुल्क नहीं लेना चाहिए। परन्तु इन साधनों की उचित व्यवस्था न कराने पर दण्ड का भी विधान था।

कृषि उत्पादन के साथ-साथ, खनिज पदार्थों का पता लगाना उत्पादन का महत्वपूर्ण अंग था। खानों के सम्बन्ध में यह नियम बनाया गया था कि उसकी सारी व्यवस्था राज्य को करनी चाहिए। उनकी व्यवस्था में राज्य की अनुमति लेना आवश्यक था। संक्षेप में खानों को राज्य की सम्पत्ति माना गया है और यह नियम बताया गया है कि खानों के संचालन में राज्य का आधा भाग होना चाहिये। खनिज वस्तुओं का अपहरण करने वाले के लिये अपहृत वस्तु के मूल्य का आठ गुना दण्ड देने का विधान था।

'निधीनां तु पुराणानां धातुनामेव च क्षितौ' से स्पष्ट है कि खनिज वस्तुओं को सर्वाधिक महत्व दिया गया था। चोरी से खाद्य पदार्थ निकालने को बंधन में डालकर काम कराने का नियम था। यदि कोई व्यक्ति अपराधी की सहायता करता तो वह दण्ड का भागी होता था।

वन भी उत्पादन का एक प्रमुख अंग था क्योंकि खेती से उत्पन्न की गयी

वस्तुयें जितना उपयोग में लायी जाती थीं, उतनी ही उपयोगिता वनों में उत्पन्न सामग्री की थी। इन्हें भीं राज्य के अधिकार के अन्तर्गत बताया गया है। वनों में उत्पन्न होने वाले वृक्ष उत्पादन के आरम्भिक अंग रहे हैं, जिन्होंने मनुष्य को प्रश्रय दिया। इसी की शाखाओं पर रैन बसेरा करते-करते मनुष्य को ज्ञान प्राप्त हुआ था। प्राचीन ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों के विभाजन कर दिये गये थे और वनों में उत्पन्न की गयी वस्तुओं के संग्रह करने का आग्रह किया गया था।

वन सम्पत्ति का प्राकृतिक दृष्टिकोण से महत्व है ही, किन्तु आर्थिक दृष्टि से इसकी विशेष उपयोगिता रही है। नाना प्रकार की औषधियों का निर्माण न केवल आर्थिक दृष्टि से हितकर था, अपितु स्वास्थ्य के लिये भी अत्यन्त लाभकारी था। यजुर्वेद में अनेक प्रकार के वृक्षों की गणना कर उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। वनों का महत्व इससे भी समझा जा सकता है कि भारतीय विचार में वनों की रक्षा का आग्रह है किन्तु जहाँ-जहाँ पर दण्ड एवं प्रायश्चित का उल्लेख किया गया है, वहीं पर वृक्षों के काटने, उनकी डालों को काटने, फल फूलों को नष्ट करने पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है। उत्पादन के अन्तर्गत जल से प्राप्त होने वाली वस्तुओं का भी वर्णन किया गया है। साथ ही इनसे राज्य को प्राप्त होने वाली आय का भी उल्लेख है।

पशुधन का भारतीय अर्थव्यवस्था में अत्यधिक महत्व रहा है। इसे हम उत्पादन से अलग नहीं करते वैसे तो इसका सर्वाधिक प्रयोग विनिमय के रूप में किया गया है, किन्तु उत्पादन के लिये यह धन अत्यन्त उपयोगी रहा है। बैलों की सहायता से खेत को जोत कर बीज बोना और उत्पादन करना लोगों का प्रमुख कार्य था। पशुओं के ही गोबर एवं मूत्र से खाद बनायी जाती, जिसका उपयोग खेतों की उपज बढ़ाने में किया जाता था। आदि काल से ये विचार कार्य रूप में प्रयुक्त किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त दूध, घी आदि के द्वारा निर्मित अनेक वस्तुएँ भी उत्पादन का एक भाग हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पशुपालन का महत्व प्राचीन आर्थिक व्यवस्था में प्रारम्भ से ही रहा है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया उनके द्वारा उत्पादन को अधिक बल मिलता गया।

उपभोग

अब तक हमने उत्पादन तथा उसके क्रमिक इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। अब हम उत्पादित वस्तुओं का किस प्रकार से उपभोग किया जाता

था, उपभोग की क्या मान्यता थी, इसके नियम क्या थे, आदि आदि विषयों पर चर्चा करेंगे।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उपभोग की परिभाषा करते समय अर्थशास्त्र के अनेक पक्षों पर विचार किया है, किन्तु प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था में इसका सीधा सम्बन्ध उत्पादित वस्तुओं की खपत समाज में किस प्रकार की जाय, इससे रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था में धन के उपभोग की व्यवहारिक रूप में तीन गतियाँ बतायी गयी हैं, जिनमें दान की गति सर्वाधिक श्रेष्ठ मानी गयी है। धन की अन्तिम गति के बारे में कहा गया है कि किसी कार्य में न लगाये जाने एवं अनावश्यक रूप में संग्रह किया जाने वाला धन नाश को प्राप्त होता है।

प्राचीन विचारकों की यह धारणा है कि मनुष्य की सम्पूर्ण आवश्यकताओं में से न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य की जानी चाहिये। उपभोग का महत्व समझे जाने के कारण ही, जीविकोपार्जन के लिये बनाये गये नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। यही कारण है कि गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ मान कर उसे मनुष्य के लिये अनिवार्य बताया गया है। साथ ही इसी आश्रम में सभी वस्तुओं का उपभोग कर सन्तुष्टि प्राप्त करने की सलाह दी गयी है। उपभोग का महत्व समझने के कारण ही स्मृतियों में यह नियम बनाया गया है कि तीन दिन तक उपवास करने वाला व्यक्ति यदि चौथे दिन खलिहान अथवा खेत से अन्न की चोरी कर ले तो उसे चोर नहीं समझा जाना चाहिये।

उपभोग का क्रम तो तभी से प्रारम्भ हो गया था, जब से आदि मानव अपनी जीविका के साधनों की खोज की। कुछ समय तक तो वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भर के लिये उत्पादन कर उसका उपभोग करता था किन्तु बाद में जैसे-जैसे उसकी आवश्यकताओं में वृद्धि होने लगी, वह अधिकाधिक उत्पादन करने लगा। वह उत्पादित वस्तुओं का आवश्यकतानुसार उपभोग कर शेष को पूंजी के रूप में संचित करने लगा। उसी पूंजी से क्रमागत विकसित समस्त आर्थिक क्रियाओं का संचालन होने लगा। प्रागैतिहासिक काल एवं सिन्धु सभ्यता में लोगों के रहन-सहन के स्तर से पता चलता है कि वे धन का उपभोग करना भली-भाँति जानते थे।

सामाजिक स्थिति के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय धन का उपभोग आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक इन तीन प्रकार की क्रियाओं के लिये किया जाता था। वैदिक आर्यों ने यज्ञ को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। वे उत्पादन का अधिक से अधिक भाग याज्ञिक क्रियाओं को सम्पन्न करने में खर्च करते थे। क्योंकि तत्कालीन विचारकों का यह मत था कि यज्ञ की क्रियाओं से ही इन्द्र, वरुण आदि देवता प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसन्न होने पर ही कृषि फलवती होती है।

उपभोग की दृष्टि से हम तत्कालीन मानव प्रवृत्ति को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त करते हैं—(१) आर्थिक, (२) धार्मिक। आर्थिक क्रिया के अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थशास्त्र तथा आर्थिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत धर्मशास्त्र का अध्ययन किया जाने लगा। इन दोनों क्रियाओं को सम्पन्न करने का माध्यम धन रहा। इस धन का उपभोग आर्थिक विकास एवं धार्मिक तुष्टि के लिये किया जाता था।

इन दोनों क्रियाओं को सम्पन्न करने वालों के अतिरिक्त समाज में एक वर्ग ऐसा भी हुआ, जो धन का अपव्यय करने लगा और इस अपव्यय का कुछ भाग "ऐश्वर्योपभोग' के रूप में बदल गया, जो बाद में पूँजीवादी समाज की स्थाना का कारण बना। यद्यपि प्राचीन विचारकों ने आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धनार्जन को अधिक महत्व दिया है, किन्तु इससे यह तात्पर्य न था कि धन का अपव्यय करने अथवा धन को संग्रहीत करने की धारणा भारतीय विचारधारा में मान्य थी।

उपभोग का सिद्धांत मुख्य रूप से सामाजिक व्यवस्था के अनुसार चार वर्णों एवं चारों आश्रमों पर निर्भर करता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को पृथक-पृथक ढंग से धन का उपभोग करने का आदेश दिया था। इसी प्रकार ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थो तथा सन्यासी के लिये यह नियम बनाये गये थे, कि वे शास्त्र के नियमों के अनुसार धनार्जन तथा उसका उपभोग करें। इन सभी प्रकार के वर्णों एवं आश्रमों मे उपभोग का माध्यम चार पुरुषार्थ (अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष) माने गये हैं। इस युग में मर्यादित उपभोग की कल्पना की गयी थी। उस समय भी मनुष्य की इच्छायें अनन्त थीं, किन्तु सन्तोष को एक निर्धारित बिन्दु माना गया था। धार्मिक प्रवृत्तियाँ मनुष्य को उस सन्तोष के बिन्दु तक भेजतीं, जहाँ से उनकी इच्छायें समाप्त हो जाती थीं। वैदिक युग में एक विशेषता समष्टिवादी आर्थिक भावना की रही है। लोगों के विचार केवल अपने तक सीमित न थे, वे पूरे समाज के हित में उपयोगी होते थे। आदिकालीन समाज में तो मनुष्य ने अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की ही पूर्ति का प्रयास किया था, किन्तु बाद में परिवार, कुल, ग्राम तथा राज्य की कल्पना हुई और सामूहिक विचारधारा का जन्म हुआ।

महाकाव्यों में धन के उपयोग की मर्यादायें तो इसी प्रकार चलती रहीं, किन्तु उपभोग के नियमों तथा प्रकार में काफी अन्तर आ गया था। उपभोग का सम्बन्ध आय-व्यय से जुड़ गया और उसी के आधार पर विभिन्न मदों में खर्च किया जाने लगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन पद्धति का अन्त हो गया हो, किन्तु उपभोग के क्षेत्र का काफी विस्तार हो गया था। 'अलब्ध लाभो लब्धस्य तथैव च विवर्धनम्, प्रदानं च विवृद्धस्य तथैव च विवर्धनम्' महाभारत के शांतिपर्व के अध्याय ५८ में वर्णित इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि लाभ प्राप्त कर उसकी

वृद्धि करना तथा उसका यथोचित उपभोग करना आवश्यक था। उस समय भी चार पुरुषार्थों को ही उपभोग का आधार माना गया था। मनुस्मृति में 'धर्मार्थौ उच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च' तथा वसिष्ठ सूत्र में अथातः पुरुषानिः श्रेयसार्थ धर्मजिज्ञासा' का उल्लेख कर विचारकों ने स्पष्ट कर दिया है कि धर्म के कार्यों में धन का उपभोग सबसे श्रेयस्कर माना गया है। इसी प्रकार आपस्तम्ब सूत्रकार का भी कहना है कि 'एवं धर्मं चर्यमाणं अर्था अनुत्पद्यन्ते' अर्थात् धर्म का आचरण करते हुए अर्थ का उत्पादन करना चाहिये। फलतः इन सबसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुरुषार्थों को साथ लेकर चलने पर ही धन का समुचित उपभोग सम्भव था।

आगे चलकर कामन्दक, कौटिल्य तथा शुक्राचार्य ने उपभोग के नियमों का स्पष्ट उल्लेख किया है कि समाज में किस प्रकार से उपभोग को स्थान दिया जाय, ताकि किसी प्रकार की दुर्व्यवस्था न हो। शुक्र का कहना है कि 'भूत्वा महाधनः सम्यक् पोष्य वर्गं तो पोषयेत्' अर्थात् महान धन वाला होने के बाद भी धन का उपभोग पालन-पोषण के योग्य व्यक्तियों में किया जाना चाहिये। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'स देशः प्रवरो यत्र कुटुम्ब परिपोषणम्' अर्थात् वही देश सर्वश्रेष्ठ है, जहाँ पर कुटुम्ब का भली-भाँति पालन-पोषण होता हो। इन विचारों से जो सबसे महत्वपूर्ण बात समझ में आती है वह यह कि प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था में भी आर्थिक विषमता को दूर करने का काफी प्रयास किया गया था। आचार्य शुक्र का तो यहाँ तक कहना है कि अधिक व्यय करने वाले को राज्य से बाहर निकाल देना चाहिये। बुद्धिमान व्यक्तियों से यह आग्रह किया गया है कि वे धन का अधिक व्यय अथवा दुरुपयोग न करें। कौटिल्य ने तो ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले तथा धन का अनुचित व्यय करने वाले व्यक्ति को ऐसा करने से रोकना राजा का कर्तव्य बताया है। अतएव राजा को यह अधिकार प्राप्त था कि वह देखे कि धन का उपयोग समुचित ढंग से किया जा रहा है अथवा नहीं। यदि धन के दुरुपयोग के बारे में उसे पता चले, तो वह उसे रोकने का प्रयत्न करे।

आरम्भ में तो धन का उपयोग एक सीमित दायरे में किया जाता था, किन्तु बाद में जैसे-जैसे इसके क्षेत्र का विस्तार होता गया, उसे सीमित करने का प्रयत्न किया जाने लगा। इसे सीमित करने के लिये एक तो यह नियम बनाया गया कि धन का उपभोग जीवन के एक चतुर्थ भाग में ही किया जाना चाहिये। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास इन तीन आश्रमों में तो केवल जीवन निर्वाह के नियम बनाये गये थे। गृहस्थ आश्रम में ही मनुष्य को धन के उत्पादन तथा

उपभोग की पर्याप्त छूट थी। गृहस्थ आश्रम में भी धनोपभोग को मर्यादित करने के लिये यह नियम बनाया गया था कि व्यक्ति को यज्ञ कार्यों से बचे भाग का ही उपभोग करना चाहिये। दान, भोग तथा नाश इन तीनों गतियों में उपभोग की सीमा निर्धारित कर दी गयी थी।

भारतीय अर्थव्यवस्था में वर्णित उपभोग के सिद्धांत को गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है कि इसका नियम ही ह्रासमान उपयोगिता पर आधारित था। ब्रह्मचर्य आश्रम से क्रमशः मनुष्य की इच्छाओं में वृद्धि होती गयी और गृहस्थ आश्रम तक आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं में सर्वाधिक वृद्धि हो गयी है। उसके बाद वानप्रस्थ एवं सन्यास में एक ऐसी स्थिति पहुँचती है जबकि न तो आवश्यकतायें ही रह जाती हैं और न उपभोग की इच्छा ही रह जाती है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इसी आधार पर उपयोगिता के ह्रासमान नियम को प्रतिपादित किया है।

संक्षेप में भारतीय उपभोग के विचार का सार यह है कि शरीर की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये साधनों का होना नितांत आवश्यक है, क्योंकि सांसारिक जीवन व्यतीत करना आवश्यक माना गया है। अतएव आवश्यकताओं की पूर्ति मर्यादित ढंग से किये जाने, और पूर्णरूपेण सुखोपभोग के पश्चात् कामनाओं से रहित होकर संसार से विरक्त हो जाने को ही श्रेयस्कर माना गया। भारतीय विचारकों ने वास्तविक सुख की प्राप्ति तभी माना है जब मनुष्य सभी कामनाओं से निवृत्त हो जाय। कठोपनिषद् के 'न वित्तेन तर्पणीयोमनुष्यः' इस कथन की पूर्ण रूप से पुष्टि करता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में उपभोग का अध्ययन करते समय यह जानना आवश्यक है कि भारतीय विचारों में व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता प्राप्त थी। प्रारम्भ में तो इसका स्वरूप अत्यन्त संकुचित था, किन्तु बाद के विचारकों ने इस पर पर्याप्त चिंतन किया है। गोतम ने वस्तु का स्वामित्व प्राप्त करने के पाँच साधन बताये हैं—(१) उत्तराधिकार, (२) क्रय, (३) सम्पत्ति का विभाजन, (४) जिस वस्तु का कोई उत्तराधिकारी न हो, उसे ग्रहण करना (परिग्रह), (५) किसी वस्तु का कहीं प्राप्त कर लेना। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के लिये दान, क्षत्रियों के लिये विजय, वैश्यों के लिये व्यापार अन्य साधनों के रूप में बताये गये हैं, किन्तु शूद्रों की व्यक्तिगत सम्पत्ति का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। वसिष्ठ ने स्वामित्व के ८ साधनों का उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय भी व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता प्राप्त थी। किन्तु वर्तमान समय में परिस्थितियां बिल्कुल विपरीत हो गयी हैं। उत्पादन के साधन एवं धन के वितरण पर राज्य और समाज का स्वामित्व होना अनिवार्य समझा जाता रहा है। परन्तु इससे यह

तात्पर्य नहीं कि उस समय समाज को कोई अधिकार ही न था। सामाजिक अधिकार तो प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति में स्वीकार किया गया था और वह इस दृष्टि से था कि चाहे किसी भी श्रेणी का व्यक्ति हो, उसके द्वारा सम्पत्ति का प्रयोग वर्जित था। उत्पादन एवं उपभोग की क्रियाओं में राज्य का जो अंश होता, उसे प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार राज्य को था, किन्तु कृषि, दान, उद्योग-धन्धों आदि का संचालन व्यक्तिगत हाथों में था। इसके अतिरिक्त पूंजी एवं संगठन पर राज्य का कोई अधिकार न था। किन्तु यदि आर्थिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर संगठनों का गठन किया जाता तो उन संगठनों के नियमों को मान्यता देना और उनके कार्यान्वित होने में उत्पन्न बाधाओं को दूर करना अथवा सहायता प्रदान करना राज्य का कर्तव्य होता था।

उपभोग के साथ ही साथ आय-व्यय के इतिहास का जन्म हुआ। उत्पादित वस्तु में श्रम-पूंजी तथा अन्य उत्पादन के साधनों का खर्च काटकर जो लाभांश प्राप्त होता, वही व्यक्ति की वास्तविक आय होती। इस आय में से कितना किस मद में खर्च किया जाना चाहिये, किन मदों में खर्च करना आवश्यक है, इन सब बातों का पूर्ण रूप से ध्यान रखा जाता था।

आय-व्यय का निर्धारण एक परिवार से प्रारम्भ होता है और इसके लिये परिवार की मालकिन ही सब कुछ होती थी। उसे ही गृहस्वामिनी कहा गया है। उसके लिये यह नियम बनाये गये थे कि प्रत्येक गृह कार्यों में वह मितव्ययिता के साथ खर्च करे। आय व्यय के लेखा-जोखा की यह पारिवारिक स्थिति ही बाद में विस्तृत रूप धारण कर समाज एवं राज्य के मदों में उपयोगी सिद्ध हुई। अगले पृष्ठों में हम आय-व्यय का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

भारतीय समाज में व्यय की वास्तविक स्थिति का अनुमान तत्कालीन रहन--सहन के स्तर से लगाया जा सकता है। प्रागैतिहासिक काल में व्यय का कोई विशेष स्वरूप न था, किन्तु सिन्धु सभ्यता के अवशेष इस बात के द्योतक हैं कि उस समय के लोगों का रहन-सहन का स्तर काफी ऊंचा था। अतएव वे नाना प्रकार के मदों में खर्च करते थे, जिसमें विलासिता भी शामिल है।

वैदिक आर्य धन का सबसे अधिक व्यय यज्ञ की क्रियाओं तथा दान में करते थे। व्यस्त जीवन के लिये यह भी आवश्यक था कि कोई न कोई मनोरंजन का साधन अवश्य हो, अतएव इसी युग से 'द्यूत' (जुआ) का प्रारम्भ मनोरंजन के रूप में हो गया था, किन्तु बाद में यही धन के दुरुपयोग का कारण बना। महाकाव्य काल तक में इसका इतना अधिक महत्व बढ़ गया कि प्रत्येक राजा के लिये जुआ खेलना अनिवार्य हो गया। यहां तक कि महाभारत में पाण्डवों ने जुआ के दांव में द्रौपदी को भी

लगा दिया और अपना सर्वस्व हार कर वे जंगलों में चले गये। तब से यह प्रथा आज तक धन के दुरुपयोग का एक अङ्ग बनी हुई है।

सूत्र तथा स्मृति साहित्य में धनोपार्जन तथा व्यय के नियमों में सम्पूर्ण राज्य को आबद्ध कर दिया गया था। मनुस्मृति के अध्याय १ में कहा गया है कि 'क्षणशः कणश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत्, न त्याज्यौ तु क्षण कणौ नित्यं विद्याधनार्थिना' अर्थात् समय एवं धन दोनों के एक-एक क्षण का उपयोग विद्यार्जन में किया जाना चाहिए। आगे चलकर शुक्र ने तो बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि 'पत्नी, पुत्र, मित्र तथा दानादि क्रियाओं के लिये धन का उपयोग (व्यय) किया जाना चाहिए, यदि ऐसा नहीं किया जाता तो धनार्जन से क्या मतलब ? 'सुभार्यापुत्र मित्रार्थ हितं नित्यं धनार्जनम् दानार्थं च विना त्वेतैः किं धनैश्च जनैश्च किम्'। शुक्र ने मुख्यतः सुविधा, सेवाकार्य, युद्धकला, कृषि, ब्याज के लिये ऋण देना, व्यापार आदि के मदों में खर्च किये जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है।

भारतीय समाज में रहन-सहन के स्तर को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। १—आदर्श एवं विकासोन्मुख स्तर, २—आकांक्षा विहीन स्तर। प्रथम स्तर वैदिक ग्रन्थों, महाकाव्यों, स्मृतियों, कौटिल्य, कामन्दक, बृहस्पति आदि के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि लोग नियमों से आबद्ध सामाजिक विकास की आकांक्षाओं को लेकर अच्छी तरह से रहना चाहते थे, किन्तु दूसरे उपनिषद् एवं बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त विवरण से पता चलता है कि लोग आवश्यकताविहीन एक पृथक् संघ बनाकर रहते थे। परन्तु ये दोनों प्रकार के रहन-सहन उच्चकोटि के कहे जा सकते हैं। उपभोग की दृष्टि से भले ही प्रथम की उपयोगिता अधिक और दूसरे की कम थी। क्योंकि दूसरे प्रकार के रहन-सहन के स्तर वाले लोग उपभोग की क्रियाओं में विशेष लिप्त नहीं होते थे।

समाज में विलासिता का जीवन व्यतीत करने वाला एक वर्ग अवश्य था, किन्तु उसके लिये अनेक प्रकार के नियम एवं दण्ड के विधान बनाये गये थे। समाज में सामान्य वर्ग के लोगों पर इस विलासिता का कोई प्रभाव न था, किन्तु जैसे-जैसे पूंजीवाद का विकास होता गया, वैसे-वैसे विलासिता की भावना में वृद्धि होती गई। यद्यपि वैदिक युग में भी इन्द्र को सोमपायी अर्थात् सोम का पान कर स्वच्छन्द रूप से विचरण करने वाला माना गया है, किन्तु इसका कोई बुरा प्रभाव समाज पर नहीं पड़ा था। बाद में राजाओं की स्वतन्त्रता, विलासिता के रूप में बदल गई और समाज में उसका बुरा प्रभाव पड़ने लगा।

हम देखते हैं कि उपभोग का आधार उस समय भी वही था जो आज है।

किसी भी वस्तु का उपभोग उसकी माँग पर निर्भर करता है। प्राचीन काल में भी माँग का अस्तित्व था। वेदों में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थनायें की गई हैं, किन्तु इस बात का पता नहीं चलता कि लोगों द्वारा की गई माँग की पूर्ति कितनी होती थी। अथर्ववेद का यह मन्त्र 'इमे गृहाः मयोभुवः' स्पष्ट करता है कि मनुष्य अपने जीवनयापन की वस्तुओं की माँग करता था। यद्यपि पूर्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता, किन्तु तत्कालीन सामाजिक स्थिति को देखने से पता चलता है कि लोगों द्वारा की गई माँग की पूर्ति भी होती थी। वैदिक युग की माँग का सम्बन्ध आध्यात्म से कहीं अधिक रहा है। व्यावहारिक जीवन में उसे चरितार्थ करने का कोई प्रश्न ही न था। किन्तु महाकाव्यकाल में यही माँग व्यवहारिक रूप में अधिक प्रयुक्त होने लगी। नाना प्रकार के उद्योग-धन्धों के कारण शिल्प कला आदि का क्षेत्र काफी विकसित हो चुका था। अतएव गुरु के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकतायें भी काफी बढ़ चुकी थीं। किन्तु यह युग चरमोत्कर्ष का युग रहा है। इसलिये माँग और पूर्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं था। लोग काफी परिश्रम करते थे और उत्पादित वस्तुओं का उपभोग पूरी तरह से करते थे। राजा को हमेशा अपने कोश वृद्धि की चिन्ता बनी रहती थी अतएव सबसे अधिक माँग राजा की ही थी। राजा व्यक्तिगत नहीं अपितु राज्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील रहता था।

वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में माँग सम्बन्धी अनेक प्रकार के नियम एवं प्रकार बन गये हैं। लोचदार, कमलोचदार, अधिक लोचदार, पूर्ण लोचदार आदि अनेक प्रकार की मांगों के बारे में उल्लेख मिलता है, किन्तु इस प्रकार के कोई नियम प्राचीन काल में नहीं बनाये गये थे। तत्कालीन माँग प्रणाली के आधार पर भले ही हम कह सकते हैं कि कौन-सी माँग किस श्रेणी में आती है।

वितरण

भारतीय समाज में एक सुदृढ़ आर्थिक स्थिति को कायम रखने के लिये वितरण व्यवस्था को उचित स्थान देना आवश्यक माना गया था। यह एक स्वीकृत मत था कि समुचित वितरण व्यवस्था के आधार पर ही समाज के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन का संचालन होता है। समाज के विभिन्न अवयवों में प्राप्त आय का वितरण किस प्रकार से किया जाना चाहिए, इसका भली-भाँति ज्ञान इस वितरण व्यवस्था से हमें हो जाता है।

भारतीय समाज व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों को आय के साधनों का उल्लेख पृथक-पृथक किया गया है। ब्राह्मण को

अध्यापन कार्य से जो गुरुदक्षिणा प्राप्त होती, यज्ञ क्रिया एवं दान से जो आर्थिक लाभ होता था वही उसकी आय होती थी। ब्राह्मण के लिये नियम बनाये गये थे कि उन्हें न तो कुछ माँगना चाहिए और न किसी चीज की उपेक्षा ही करनी चाहिए। उनके लिये अधिक धन के संचय का भी निषेध था। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक होगा कि आधुनिक अर्थशास्त्री भविष्यनिधि, को अधिक महत्व प्रदान करते हैं, किन्तु प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था में भविष्य निधि को कोई महत्व नही दिया गया है।

ब्राह्मणों के लिये, अध्ययन, अध्यापन, यजन, दान आदि के नियम वैदिक युग तक ही सीमित रहे। इसके बाद महाभारत, मनुस्मृति एवं सूत्र ग्रन्थों में ब्राह्मणों के सम्बन्ध में यह भी नियम बनाये गये कि यदि धर्मवृत्ति से उनकी जीविका नहीं चलती तो उन्हें उन विशेष परिस्थितियों में कृषि, व्यापार आदि के द्वारा भी जीवन-निर्वाह करना चाहिए, इसमें कोई दोष न होगा। क्षत्रियों के लिये समाज की रक्षा द्वारा प्राप्त की गई आय से जीविका निर्वाह का विधान बनाया गया था। इसीलिये प्रारम्भ से ही उत्पादन का १।६ राजा को दिये जाने का नियम था। राजा दो प्रकार की आय प्राप्त करता था। एक तो वह जिससे स्वयं जीविका चलाता दूसरे वह जिसे प्रजा के हित में खर्च करता था। वैदिक काल में आय की प्राप्ति के साधन सीमित थे, किन्तु बाद में उनमें काफी वृद्धि हो गई। इसी प्रकार वैश्यों की आय के साधन कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन थे और शूद्रों की जीविका की व्यवस्था करने का दायित्व तीनों वर्णों पर सौंपा गया था। बाद में एक तीसरी 'मिश्रित' जाति का जन्म हुआ, जिसके लिये कारीगरी तथा अन्य उद्योगों से प्राप्त आय से जीविका चलाने का नियम बन गया था। इसी जाति को वर्णसंकर भी कहा गया है। स्त्रियों के लिये गृह कार्य करने के नियम थे। यही कारण है कि विधवा, अनाथ तथा जिनके पति विदेश में हों, उन्हें छोड़कर अन्य स्त्रियों के लिये स्वतन्त्र कार्य की व्यवस्था नहीं थी।

भारतीय समाज में स्त्री एवं पुरुष को समान स्थान दिया गया है। उनको एक ही शरीर के दो अंग के रूप में माना गया है। इन दोनों को केवल कामोपभोग तथा सन्तानोत्पत्ति तक ही सीमित न रखकर जीवन में परस्पर सहयोगी तथा इनमें एकात्मक जीवन का सम्बन्ध बनाया गया है। स्त्री तथा पुरुष दोनों के गुणों के अनुसार कार्य का विभाजन किया गया है। दोनों एक दूसरे के पूरक है। जिस प्रकार पुरुष अपनी जीवन व्यवस्था के लिये स्त्री पर निर्भर करता है, उसी प्रकार स्त्री भी पुरुष पर निर्भर करती है। भारतीय विचारकों की दृष्टि में धन ही सब कुछ न था। यही कारण है कि सबसे कम आय प्राप्त करने वाले ब्राह्मण को समाज मे सबसे अधिक

सम्मान दिया गया था। जीविका की नियमित एवं एक स्थायी व्यवस्था होने के कारण ही, स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति एवं सीमित सुख साधनों के उपयोग की कमी थी और यही कारण है कि वर्ग विद्वेष की भावना उस समय समाज में विशेष न थी। किन्तु वर्तमान समाज में धन के असमान वितरण के कारण ही वर्ग विद्वेष को अधिकाधिक प्रश्रय मिला।

वितरण से अभिप्राय मुख्य रूप से उत्पादित वस्तुओं के उपयोग में लाने से है। राष्ट्रीय आय अथवा लाभांश को भी वितरण के अन्तर्गत माना गया है। वैसे तो सामान्य रूप से समाज के विभिन्न अंगों में आय के बँटवारे के रूप में इसका अध्ययन किया जाना चाहिए, किन्तु वर्तमान अर्थशास्त्र एवं समाज। में उत्पादन तथा वितरण का अधिक महत्व होने के कारण 'वितरण' का अर्थ उत्पादन के विभिन्न साधनों में आय का बँटवारा माना गया है। संक्षेप में वितरण उस सिद्धान्त का अध्ययन है, जिसके अनुसार उत्पादन के प्रत्येक साधन को उत्पादन क्रिया में भाग लेने के बदले, प्राप्त होने वाला प्रतिफल निर्धारित किया जाता है।

उत्पादन के साधनों में 'भूमि' से जो आय का भाग प्राप्त होता है उसे लगान अथवा भाटक कहते हैं और उसमें से श्रम को जो भाग प्राप्त होता है, उसे पारिश्रमिक कहते हैं। इसी प्रकार पूंजी को प्राप्त होने वाले भाग को ब्याज तथा संगठन के भाग को लाभ कहते हैं। वितरण का सम्यक् विवेचन तभी सम्भव है, जब कि प्रत्येक साधन का पृथक-पृथक ढंग से अध्ययन किया जाय।

पिछले पृष्ठों में हमने भूमि के सम्बन्ध में कतिपय विचार रखे हैं। वास्तव में प्रारम्भ में तो 'भूमि' का कोई लेखा-जोखा नहीं था, किन्तु सामाजिक विकास के साथ ही साथ 'भूमि प्रबन्ध' की व्यवस्था की जाने लगी। आगे चलकर जो व्यक्ति जिस भूमि खण्ड पर खेती करता, वही उसका भू-स्वामी कहलाता था। बाद में भूमि का यह स्वामित्व राजाओं को प्राप्त हो गया और वे खेती करने के लिये भूमि कृषकों को बाँटने लगे। राजा की ओर से 'सीताध्यक्ष' की भी नियुक्ति कर दी गई थी, जो भूमि सम्बन्धी व्यवस्था की देख-रेख करता था। राजा उत्पादन के १।६ भाग का अधिकारी होता, किन्तु वास्तविक भूमि स्वामित्व उसी के हाथ में होता जो खेती करता था। कात्यायन का यह कथन ''भूस्वामी तु स्मृतो राजा नान्य द्रव्यस्थ सर्वषा'' से स्पष्ट है कि यद्यपि भूस्वामित्व का अधिकार राजा को था, किन्तु उसी के बदले में वह १।६ भाग प्राप्त करता था।

भूस्वामी को उसके द्वारा अधिकृत भूमि से जो आय प्राप्त होती थी, उसी को लगान कहा गया है। भूमि का उत्पादन अधिक होने पर, बाजार का संगठन एवं व्यापारिक साधनों पर आय निर्भर करती थी और उसी आय के आधार पर

लगान की गणना की जाती थी। किन्तु प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने लगान का प्रमुख कारण उत्पादन को नहीं बताया है।

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था में लगान का कोई सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया गया है, केवल इतना विचार किया गया है कि उत्पादन का अधिकांश भाग कार्य करने वालों को तथा कुछ भाग राज्य को दिया जाना चाहिए। वैदिक काल में तो उत्पादन के १/६ भाग को राजा के लिये देने का विवरण प्राप्त होता है, किन्तु आगे चल कर स्मृति साहित्य में विभिन्न प्रकार के उत्पादनों का १/८, १/१२ भाग तक राज्य को दिये जाने का विधान था।

मनुस्मृति में कहा गया है कि जिन खेतों में सिंचाई की व्यवस्था हो, उन खेतों में से राज्य के लिये उत्पादन का अधिक हिस्सा देना चाहिए। इस सम्बन्ध में १/३, १/४ तथा १/२ भाग तक देने के नियम बनाये गये थे। इसके विपरीत जो भूमि अनुपजाऊ अथवा पथरीली होती, उस पर भूमि की उत्पादन क्षमता के आधार पर लगान माना गया है। खानों पर आधा भाग लगान का बताया गया है। रिकार्डो ने भी अपने लगान सिद्धान्त में चार प्रकार की भूमि पर लगान का होना बताया है।

आचार्य शुक्र ने कृषि व्यवस्था के साथ-साथ खानों से प्राप्त आय का विस्तृत विवेचन किया है। उनके अनुसार रत्न एवं लवण की खानों से राज्य को १/२ भाग प्राप्त होना चाहिए, किन्तु सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, शीशा आदि की खानों से इससे कम भाग राज्य को प्राप्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त शहद, औषधि, वनस्पति, फल-फूल, रस, मूल, पत्तियाँ शाक, घास आदि पर भी लगान के दृष्टिकोण से १।६ भाग राज्य को दिये जाने का विधान था। लगान की यह परम्परा आज भी माल-गुजारी के रूप में किसानों से प्राप्त की जाती है। आज कल की भाँति उस समय भी किन्हीं विशेष परिस्थितियों में राजा लगान को माफ अथवा कम कर सकता था।

प्रारम्भ में तो यह लगान उत्पादन के एक भाग के रूप में लिया जाता था, किन्तु बाद में विनिमय प्रथा के कार्यान्वयन में तेजी आने पर तथा सिक्कों का प्रचलन अधिक होने पर इसकी अदायगी सिक्कों के रूप में की जाने लगी। कौटिल्य ने 'ऊसर' भूमि को लगान से मुक्त बताया है। मनु ने भी राजा को भली भाँति समझ-बूझ कर लगान की वसूली करने की सलाह दी है 'यथाफलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्, तथावेक्ष्य नृपोराष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान्'—यह इस बात का द्योतक है कि राजा को कर अथवा लगान सम्बन्धी पूर्ण विचार कर लेना चाहिए।

भारतीय व्यवस्था में राजस्व का मूल्यांकन करने पर पता चलता है कि भूमि से

आय प्राप्त करने की दरें अल्प एवं सामान्य दोनों प्रकार की निर्धारित की गयी थी। राजा की आय में वृद्धि करने के भी नियम बनाये गये थे, किन्तु यह वृद्धि युद्ध के समय या आपत्ति के समय ही सम्भव थी।

लगान वसूली के साथ-साथ यह आवश्यक था कि उत्पादन लागत तथा लगान दोनों में आनुपातिक सम्बन्ध बना रहे। वास्तव में भूस्वामी को उत्पादन का कितना भाग प्राप्त होता था, इसका विस्तृत विवेचन नहीं प्राप्त होता किन्तु अनुमानतः कुल उत्पादन का १/१२ भाग (लगभग ८ प्रतिशत) का वह भागी होता था।

प्रारम्भ में लोग स्वयं अपने श्रम का प्रयोग करते थे, किन्तु बाद में जैसे-जैसे समाज का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे उन लोगों का सहारा लेना पड़ा, जिन्हें सचमुच जीविकोपार्जन की आवश्यकता होती। इस प्रकार मजदूरी करके भरण-पोषण करने वाले व्यक्ति ही बाद में श्रमिक कहलाये।

श्रमिकों का आरम्भिक स्वरूप 'दास' के रूप में सर्वप्रथम समाज में उभर कर आया। वैदिक काल में अनेक बार दासों की चर्चा की गयी है परन्तु श्रमिक एवं दास में काफी अन्तर है। दास प्रथा से तात्पर्य यह था कि कुछ लोगों को धन लेकर बेंच दिया जाता था और बिके हुये लोग जीवन पर्यन्त अपने नये मालिक के यहाँ कार्य करते और अपना भरण-पोषण करते थे। प्राचीन काल में यह प्रथा बहुत अधिक प्रचलित थी। दासों की बिक्री खुले बाजार में हुआ करती थी। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन थी किन्तु उन्हें कभी भी सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार नहीं प्रदान किया गया। धीरे-धीरे जैसे ही समाज का स्तर ऊँचा उठा, यह प्रथा समाप्त होती गयी और लोग मजदूरी लेकर काम करने लगे। उसी मजदूरी से वे अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे।

श्रमिकों को मजदूरी देने की प्रक्रिया भी वितरण का प्रमुख अंग है। भारतीय अर्थव्यवस्था में परिश्रम के आधार पर वेतन का निर्धारण किया जाता था। यदि वेतन निश्चित न किया जाता, तो कार्य एवं समय के आधार पर वेतन दिया जाता था। सामान्यतः लाभ का १०वां भाग वेतन के रूप में दिये जाने का नियम था।

वैदिक ग्रन्थों में श्रम का महत्व समझा गया है। वैदिक समाज के लोग नाना प्रकार के उद्योग धन्धों में लगे रहते थे, इसका विवरण मिलता है किन्तु वेतन तथा मजदूरी के नियमों की विस्तृत चर्चा वेदों में नहीं की गयी है। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा है कि वैश्य यदि राजा या किसी दूसरे की ६ दुधारू गायों का एक वर्ष तक पालन करे, तो उनमें से एक गाय का दूध स्वयं पिये अर्थात् वही उसके लिये वेतन है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्यों में वेतन सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया

गया था। बाद के आचार्यों में कौटिल्य तथा शुक्र ने मजदूरी सम्बन्धी नियमों की विस्तार से चर्चा की है। स्मृतियों में श्रम की चर्चा विशेष रूप में कर्म के रूप में की गयी है। शुभ और अशुभ, कर्म के ये दो भेद बताये गये है। शुभ कार्य करने वाले का अच्छा फल अर्थात् अच्छा वेतन तथा अशुभ कार्य करने वाले को वेतन से रहित बताया गया है। अर्थात् कर्म के आधार पर ही वेतन मिलने के नियम थे। नारद स्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'कर्मापि द्विविधं ज्ञेयम्, अशुभं शुभमेव च। अशुभं दास कर्मोक्तं शुभं कर्म कृतां स्मृतम्' यहाँ पर दास कर्म को अशुभ माना गया है।

वेतन के सम्बन्ध में शुक्र ने सरकारी एवं गैरसरकारी नियमों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। दैनिक कार्य का काल, छुट्टियाँ पेंशन आदि सब की व्यवस्था निश्चित की गयी थी। ये नियम श्रमिकों के विभाजन के आधार पर बनाये गये थे। कुशल एवं अकुशल दो प्रकार के श्रमिक कार्य करते थे। अतएव शुक्र ने उत्पादकता तथा योग्यता के आधार पर वेतन देने के नियम बताये हैं। उनके अनुसार प्रत्येक श्रमिक को इतना वेतन प्राप्त होना चाहिए कि उसके परिवार का पालन-पोषण हो सके। घर के लिये काम पर लगाये गये भृत्यों के बारे में भी कहा गया है कि दिन अथवा रात्रि में श्रमिक को तीन घन्टे की छुट्टी देना अनिवार्य है।

श्रमिकों के वेतन के साथ-साथ उनके कर्तव्य भी निर्धारित किये गये हैं। जो व्यक्ति निश्चित किया हुआ कार्य न पूरा कर सके उसके वेतन के कुछ भाग में कटौती कर लेने का नियम था। परन्तु यदि श्रमिक जान-बूझ कर काम न करे तो नियम यह था कि उसका पूरा वेतन काट लेना चाहिए। इसके अलावा यह भी नियम था कि जो श्रमिक कार्य न करे उसके वेतन में कटौती करने के साथ-साथ उसे दण्ड भी देना चाहिए। अस्वस्थ श्रमिक के लिये स्वस्थ होने पर अथवा बदले पर किसी अन्य के द्वारा काम कराने का भी विधान था। यदि श्रमिक अधिक परिश्रम कर मालिक को अधिक लाभ पहुँचाये, तो उसे भी लाभांश प्राप्त होना चाहिए। इसी लाभांश को आज 'बोनस' के रूप में श्रमिकों को दिया जाता है।

विष्णु धर्म सूत्र तथा आचार्य कौटिल्य का कहना है कि यदि कार्य कराने वाले लोग श्रमिक को छोड़ दें या श्रमिक कार्य करना छोड़ दे तो दोनों को दण्ड दिया जाना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था में मजदूर एवं मालिक के सम्बन्धों को कायम रखने के लिये अनेक प्रकार के नियम बनाये गये थे। दोनों से अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने का आग्रह किया गया है। मालिक एवं मजदूर परस्पर एक दूसरे के पूरक थे। श्रमिक अपने श्रम का मालिक था और वह निश्चित मूल्य पर अपने श्रम को बेचता था। उसके पास श्रम करके उत्पादन करने के लिये खेत अथवा अन्य साधन न थे। वह अपना श्रम बेचकर ही जीविकोपार्जन

कर सकता था। भू-स्वामी उसके श्रम का मुआवजा देकर उसका सहयोग प्राप्त कर उत्पादन करता था।

भारतीय अर्थव्यवस्था में ब्याज तथा लाभ के नियमों का भी विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। प्राचीन अर्थशास्त्री भलीभांति जानते थे कि उद्योगों के लिये पूंजी कितनी महत्वपूर्ण है। ब्याज की आवश्यकता पर भी उनके विचार स्पष्ट हैं। लाभ, ब्याज तथा वास्तविक ब्याज के भेदों की भी व्याख्या प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने प्रस्तुत की है। ब्याज की दरें क्या होनी चाहिए, किस व्यक्ति को ब्याज पर ऋण देना चाहिए इसका उल्लेख भारतीय अर्थव्यवस्था में प्राप्त होता है। अर्थशास्त्रियों ने साधारण ब्याज, संयुक्त ब्याज और चक्रवृद्धि ब्याज के आधार पर नियमों का निर्धारण किया है।

ब्याज के सम्बन्ध में यह नियम बनाये गये थे कि साधारणतया यदि कोई व्यक्ति बन्धक रखकर ऋण ले तो प्रति मास १।८० अथवा १५ प्रतिशत वार्षिक ब्याज लेना चाहिए या फिर वर्णक्रम के अनुसार २,३,४,५ के प्रतिशत के अनुपात में मासिक ब्याज लेने का विधान मनुस्मृति में बताया गया है। परन्तु इससे अधिक ऋण लेना अथवा चक्रवृद्धि की दर पर ब्याज लेना वर्जित था। याज्ञवल्क्य स्मृति, अग्नि पुराण, कौटिल्य अर्थशास्त्र में जङ्गली वस्तुओं का व्यापार करने वालों से १० प्रतिशत तथा समुद्र से व्यापार करने वालों से २० प्रतिशत ब्याज लेने का नियम बताया गया है।

ब्याज का आरम्भ में कोई स्वरूप न था। ऋण देकर ब्याज लेना पाप समझा जाता था। ब्राह्मणों (श्रोत्रिय) आदि से ब्याज लेना वर्जित है। किन्तु औद्योगिक विकास के साथ-साथ यह आवश्यकता बढ़ती गई और इसका अध्ययन वार्ताशास्त्र के अन्तर्गत किया जाने लगा।

ऋण के लेन-देन की भी अनेक प्रणालियाँ प्रचलित थीं। उस समय का सबसे समृद्धशाली वर्ग 'वणिक' कहलाता था। अधिकांशतः लेन-देन का कारोबार वही करता था। यदि ऋण देने वाला गिरवी रखी गई वस्तु का भोग करता तो उसे उसका ब्याज न दिये जाने का नियम था। गिरवी रखी गई वस्तु यदि ऋणदाता के द्वारा भोग किये जाने के कारण नष्ट हो जाय तो उसे उसका मूल्य चुकाना पड़ता था और यदि वस्तु नष्ट नहीं हुई है तो उसके माँगे जाने पर हिसाब करके उसे वापस कर देने की बाध्यता थी।

प्राचीन अर्थव्यवस्था का यदि आज की अर्थव्यवस्था से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो हम देखते हैं कि तत्कालीन ब्याज की दरें आज की अपेक्षा अधिक थीं, किन्तु नियमों की कड़ाई के कारण आज की भांति मनमानी लूट नहीं की जाती

थी। आरक्षित ऋण पर भी ब्याज लेने का नियम था। प्राचीन ऋण प्रणाली ने, पितृ ऋण के रूप में जन्म लिया और इसी के आधार पर इसका विकास प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार पितृ ऋण की कई पीढ़ियों तक श्राद्ध कर्म के द्वारा अदायगी का विधान था। उसी प्रकार ऋण चुकाने की भी व्यवस्था की गई थी, पिता द्वारा लिये गये ऋण को आगे आने वाली कई पीढ़ियों के बाद तक में भी अदा करना सामाजिक कर्तव्य था।

'लाभ' उत्पादन का वह अंश होता, जो उत्पादित वस्तु के साथ लगाये गये साधनों के अतिरिक्त शेष बचता था। श्रम, पूंजी, मजदूरी, कर आदि देने के बाद जो कुछ बचता था—वही लाभांश होता था। विभिन्न प्रकार के उद्योगों में लाभ का भाग पृथक्-पृथक् होता था, इसका कोई सुनिश्चित स्वरूप न था।

विनिमय

विनिमय का सामान्य अर्थ क्या है ? किसी वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु ले लेना अथवा सिक्कों के माध्यम से आवश्यक वस्तु को खरीद लेना ही विनिमय है। भारतीय समाज के विस्तार के साथ-साथ विनिमय प्रणाली में भी परिवर्तन होता गया और आज नाना प्रकार के नियमों एवं सिद्धान्तों का विवेचन देखने को मिलता है। वैदिक युग में वस्तु विनिमय की प्रथा अधिक प्रचलित थी। पशुपालन को अत्यधिक महत्व दिया गया था। अतएव आवश्यक वस्तुओं के लेन-देन में गायों तथा अन्य पशुओं का प्रयोग किया जाता था। इस युग में भी सिक्कों अर्थात् 'निष्क' का उल्लेख मिलता है, किन्तु क्या विनिमय का माध्यम सिक्के या निष्क थे ? इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। स्वर्ण मुद्राओं का प्रयोग विनिमय के रूप में किया जाता था। वैदिक युग में तो कम किन्तु महाकाव्यों में मुद्राओं के लेन-देन की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। विनिमय का यह विकास क्रम मुद्रा, व्यापार, बैंकिंग तथा बाजार के संगठन के रूप में अर्थव्यवस्था में प्रविष्ट हुआ। अतएव हम इन्हीं चारों की संक्षिप्त रूपरेखा पर प्रकाश डालेंगे।

विनिमय के अन्तर्गत सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वस्तु के मूल्य का निर्धारण किस प्रकार किया जाय। भारतीय विचारकों को इसका ज्ञान था कि किसी वस्तु का मूल्य निर्धारण उसकी सुलभता एवं दुर्लभता पर निर्भर करता है। वस्तु में लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने का गुण है अथवा नहीं इसकी पूरी जानकारी के बाद मूल्य का निर्धारण किया जाता था। दूसरे शब्दों में प्राचीन विचारकों को यह ज्ञान था कि किसी वस्तु का मूल्य उसके लाभ और आकर्षण अर्थात्

माँग और पूर्ति पर निर्भर करता है। मूल्य निर्धारण करते समय जिन बातों का विचार किया जाता था, उनमें वस्तु की आवश्यकता, उपयोगिता प्रमुख थी। जब तक वस्तु की कोई उपयोगिता न होती, तब तक उसकी माँग नहीं और माँग पर ही मूल्य का निर्धारण होता था। शुक्र का कहना है कि 'न मूल्यं गुण-हीनस्य व्यवहारा-क्षमस्य च' अर्थात् गुण से रहित वस्तु का व्यवहार में कोई मूल्य नहीं होता। इसी प्रकार 'यथा देशं यथा कालं मूल्यं सर्वस्य कल्पयेत्' का सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि देश तथा काल के अनुसार भी मूल्य का निर्धारण किया जाता है। शुक्र का कहना है कि चाँदी सोने ताँबे तथा व्यवहार के काम मे आने वाली अन्य वस्तुओं को द्रव्य कहते हैं। जितना व्यय करने के बाद कोई वस्तु मिले, वही उसका मूल्य होता है। उनके अनुसार मणि धातु आदि (द्रव्य) का मूल्य कभी भी कम नहीं करना चाहिए, इनके मूल्य की हानि राजा के दोष से उत्पन्न होती है। उन्होंने रत्न की परिभाषा करते हुये कहा है कि जो वस्तु इस संसार में दुर्लभ है वे सभी रत्न हैं।

उपर्युक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु का मूल्य निर्धारण पूर्ति एवं माँग पर ही निर्भर था, जैसा कि आज के अर्थशास्त्री भी मानते हैं। पूर्ति के लिये उत्पादन लागत तथा माँग पक्ष में उपयोगिता, आवश्यकता, सुगमता एवं दुर्लभता का ज्ञान रखना आवश्यक था।

कभी-कभी वस्तुओं की तुलना में विनिमय के साधनों अर्थात् द्रव्य का मूल्य भी कम हो जाता था, परन्तु यह तभी होता, जब कि राजा अपने दोष के कारण द्रव्य की मात्रा बढ़ा दे। ऐसा करने पर द्रव्य के मूल्य मे कमी आ जाती थी। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में भी द्रव्य अर्थात् रुपये की मात्रा अधिक हो जाने पर जब उसके मूल्य मे कमी आ जाती है तब सरकार को अवमूल्यन करना पड़ता है, जिसका प्रभाव सारी अर्थव्यवस्था पर पड़ता है।

आचार्य कौटिल्य ने पण्याध्यक्ष की नियुक्ति का निर्देश दिया है, ताकि वह वस्तुओं की बिक्री, उसकी सुलभता एवं दुर्लभता का पूरा-पूरा ध्यान रख सके। 'पण्याध्यक्षः स्थल जलजानां नानाविधानां पण्यानां स्थल पथ वारि पथोपयातानां सार ल्गवर्धान्तरं प्रिया प्रियतां च विद्यात्।' इसके साथ-साथ इस बात का भी आग्रह किया गया है कि किसी भी परिस्थिति में उपभोक्ताओं का ध्यान रखा जाना चाहिए। आचार्यों का यह भी कहना है कि जिस वस्तु के मूल्य के आधिक्य से प्रजा को पीड़ा हो उसके मूल्य के आधिक्य को रोक देना चाहिये।

समस्त आर्थिक क्रियाओं का संचालन राज्य के द्वारा होता था। अतएव मूल्य निर्धारण का उत्तरदायित्व भी राज्य को सौंपा गया था। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति मे वस्तुओं के क्रय-विक्रय एवं मूल्य निर्धारण सम्बन्धी अनेक नियमों का

विवेचन किया गया है। वस्तुओं के आवागमन, क्रय-विक्रय, लाभ एवं हानि पर विचार करने का दायित्व राजा को ही सौंपा गया था। पाँच दिन अथवा १५ दिन वस्तु के आने का समय व्यतीत हो जाने के बाद राजा स्वयं प्रत्यक्ष नीति से वस्तु का मूल्य निर्धारण कराता था, यह उसका कर्तव्य था। मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का कहना है कि स्वदेश की वस्तु पर ५ प्रतिशत तथा विदेश की वस्तु पर १० प्रतिशत लाभ को दृष्टि में रखकर मूल्य का निर्धारण किया जाना चाहिए।

किसी भी वस्तु का मूल्य निर्धारण करते समय यह आवश्यक था कि उसकी उत्पादन लागत का मूल्यांकन किया जाय। वर्तमान काल में भी मूल्य निर्धारण सम्बन्धी सिद्धान्त में उत्पादन लागत पर विचार किया जाता है। व्यापारियों से, किस दर पर कर लेना चाहिए, तथा वस्तु के वास्तविक एवं बिक्री मूल्य के सम्बन्ध में किस प्रकार विचार करना आवश्यक था, इसकी चर्चा मनुस्मृति में है। मनुस्मृति में कहा गया है कि—"आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धि क्षयावुभौ, विचार्य सर्वपण्याना कारयेत क्रय-विक्रयौ" अर्थात् राजा को वस्तु के आने का समय, वस्तु की मात्रा, हानि, लाभ तथा उपभोक्ताओं की माँग को ध्यान में रखकर मूल्य निर्धारित करना चाहिए।

ऐसा भी उदाहरण मिलता है कि विभिन्न युगों में किसी-किसी वस्तु का एक-सा मूल्य निर्धारित किया गया है।

विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के क्रय-विक्रय एवं मूल्यांकन का जो स्थान निर्धारित किया गया था, उसे बाजार कहा जाता था। इस बाजार में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से वस्तुओं का आगमन होता और वहीं से वे एक निर्धारित मूल्य पर आवश्यकतानुसार बेच दी जाती थीं। भारतीय विचारकों ने बाजार के संगठन तथा उसके प्रबन्ध का विस्तृत विवेचन किया है। प्रारम्भ में बाजार का संगठन स्वतन्त्र था। वणिक अथवा व्यवसायी वर्ग आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करते, किन्तु धीरे-धीरे बाजार में अनेक प्रकार की गड़बड़ियाँ आ गयीं, जिसके फलस्वरूप राजा को बाजारों पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। राजा इसकी देखभाल के लिये पण्याध्यक्ष की नियुक्ति करता और वही बाजार की सम्पूर्ण व्यवस्था के लिये जिम्मेदार होता था।

बाजार में भी व्यापारियों के कई वर्ग हो गये थे। कुछ तो थोक माल की बिक्री करते और कुछ फुटकर माल बेचते थे। इस प्रकार धनी एवं सामान्य वर्ग दो प्रकार के व्यापारी भारतीय बाजारों में देखने को मिलते हैं। उस समय भी व्यापारी वस्तु की माँग को देखते हुये, वस्तुओं को छिपा लेने, बाद में उन्हें दुगुने मूल्यों पर

बेचने, मिलावट करने, कर वंचन करने, नकली वस्तुओं की बिक्री आदि करने का प्रयास करते थे। इन सबकी रोकथाम के लिये राजा द्वारा नियम बनाये गये थे। इस प्रकार का कार्य करने तथा उपभोक्ताओं को धोखा देने वालों के लिये दण्ड का विधान था। मनुस्मृति के ९वें अध्याय में कहा गया है कि "प्रकाशवंचकास्तेषां नाना पण्योपजीविनः, प्रच्छन्न वंचकास्त्वैते ये स्तेनाटविकादयः" अर्थात् एक तो वे व्यापारी होते जो खुले तौर पर ठगी करते थे और दूसरे वे जो चोरी से अर्थात् आँख बचाकर उपभोक्ताओं का वंचन करते थे। इस प्रकार के व्यापारियों के लिये कठोर दण्ड का विधान था। उनके अपराधों के अनुसार ही दण्ड दिया जाता था।

प्राचीन भारतीय, सामाजिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि भारतीय व्यापार आरम्भ से ही काफी प्रगतिशील और समुन्नत रहा है। सिन्धु सभ्यता एवं वैदिक युग के प्राप्त तथ्यों से पता चलता है कि जल एवं स्थल दोनों मार्गों के द्वारा राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता था। मिस्र, चीन आदि देशों के साथ भारत का अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध रहा है। वैदिक युग तक हमें केवल व्यापार की रूपरेखा ही मिलती है, किन्तु बाद में तत्सम्बन्धी नियमों का भी पर्याप्त विवेचन प्राप्त होता है। महाभारत तथा रामायण में अनेक प्रकार के व्यापारिक नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है।

मनुस्मृति में आचार्य मनु का कहना है कि चोर डाकू आदि तो गुप्त रूप से रहने वाले वंचक हैं, परन्तु जो विभिन्न प्रकार के व्यापार से जीवित रहने वाले हैं, वे खुले रूप में वंचन करने वाले हैं। याज्ञवल्क्य का कहना है कि अक्सर व्यापारी गण मिलकर वस्तुओं का विक्रय रोक देते हैं। उनके अनुसार वस्तुओं का विक्रय रोक देने तथा मूल्य घटाने बढ़ाने वाले व्यापारियों को दण्ड दिया जाना चाहिए। मनु मूल्य निर्धारण पर अधिक बल देते ही हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि राज्य द्वारा माप तौल के साधनों की भी प्रत्येक ६ मास में परीक्षा होनी चाहिए। व्यापारिक वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण रखने के लिये यह भी नियम था कि व्यापार की वस्तु का विक्रय उत्पादन के स्थान पर न होकर बाजार में ही होना चाहिए, ताकि मूल्यों की गड़बड़ी पकड़ी जा सके। साथ ही व्यापारी शुल्क से वंचित न रह सके और उनसे वस्तुओं पर उचित शुल्क लिया जा सके। इन सब नियमों के बावजूद अधिकांश माल की बिक्री उत्पादन के स्थानों पर ही हो जाती थी और राज्य को शुल्क की वसूली से वंचित रह जाना पड़ता था।

यही कारण है कि व्यापार तथा व्यापारी की पूरी जानकारी करने के लिये कौटिल्य ने गुप्तचरों के संगठन पर बल दिया है। मनु ने भी इन्हें कण्टक कहकर

अपेक्षित सुधार हेतु गुप्तचरों की नियुक्ति करने के नियम बताये हैं। आचार्य कौटिल्य तथा शुक्र ने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के क्रय-विक्रय तथा व्यापारिक सम्बन्धों की विस्तार से चर्चा की है। शुक्र का व्यापार के सम्बन्ध में कहना है कि हाथी आदि पशुओं चाँदी, सोना, रत्न, मादक वस्तु, विष आदि का क्रय-विक्रय राज्य की आज्ञा के बिना नहीं किया जाना चाहिए। उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि व्यापार सम्बन्धी नियमों में समाज के हित तथा उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है। इस बात का प्रबल आग्रह था कि राज्य इस बात पर पूरी तरह से ध्यान दें कि व्यापार समाज विरोधी ढंग से न किया जाय।

व्यापार वार्ता का एक प्रमुख अंग था। आरम्भ में तो यह केवल वणिकों तक ही सीमित रहा, किन्तु बाद में अनेक वर्ग के लोग इसमें शामिल हो गये और यह संघ एवं संगठन के रूप में परिवर्तित हो गया। यह राज्य की आय प्राप्ति के मुख्य साधनों में से एक था। अतएव इसे प्रोत्साहन देना राज्य का कर्तव्य था। राज्य के लिये यह नियम था कि शुल्क निश्चित करने अथवा मूल्य निर्धारण में व्यापार के लाभ का ध्यान रखना चाहिए। प्रजा के हित को ध्यान में रखकर निर्धा-रित मूल्य से घट बढ़ करने का अधिकार भी राजा को प्राप्त था। व्यापार को प्रोत्साहित करने तथा प्रजा की सुविधा को ध्यान में रखकर नये-नये बाजारो की स्थापना करना राज्य का कर्तव्य था। इसके अतिरिक्त वस्तुओं की बिक्री, व्यापार का उचित स्थान, व्यापारिक मार्गों का निर्माण, व्यापारियों की सुरक्षा आदि का भी उत्तरदायित्व राज्य को सौंपा गया था। शीघ्र विक्रय की जाने के योग्य वस्तु के लिये ऐसी व्यवस्था का निर्देश था कि वह शीघ्र ही बिक जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में भी यह नियम है कि जो वस्तु उपयोग की हों, उन्हें बिना शुल्क लिये आने देना चाहिए, परन्तु उपयोगी वस्तुओं के विदेश जाने पर रोक लगा देना चाहिए। विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से स्वदेश व्यापार की तुलना में विदेशी व्यापार पर अधिक लाभ लेने की अनु-मति थी।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि व्यापार के उस समय भी निर्धारित सिद्धान्त थे। उदाहरण के लिये व्यापारियों की रक्षा करना राज्य का उत्तरदायित्व था और यदि राज्य वैसी रक्षा न कर सके तो क्षति पूर्ति की उसकी सारी जिम्मेदारी होती थी। दूसरा सिद्धान्त यह भी था कि निर्यात की तुलना में आयात को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया था। वस्तुओ की पूर्ति के लिये राज्य सतत प्रयत्नशील रहता था और आपत्ति के समय बाहर जाने वाली वस्तुओं पर रोक लगा सकता था। विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन ही नहीं दिया जाता था,

अपितु आवश्यकता की वस्तु पर से शुल्क हटा लिया जाता था। हम देखते हैं कि वर्तमान अर्थव्यवस्था में ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। वर्तमान समय में आयात की अपेक्षा निर्यात को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। निर्यात के अधिक प्रोत्साहन से सम्पूर्ण समाज को लाभ न होकर अपितु सीमित उत्पादक वर्ग तक ही लाभ की सीमा रह जाती है और यही आर्थिक साम्राज्यवाद का कारण बनता है। भारतीय आचार्यों द्वारा स्वीकृत आत्मनिर्भरता का अर्थ यह नहीं था कि आवश्यक वस्तुओं का अभाव रहे। देश में उत्पादन की वस्तुओं के साथ उन्होंने आयात पर विशेष बल देकर वस्तुओं के संग्रह की ओर अधिक ध्यान दिया।

भारतीय व्यापार प्रारम्भ से ही सुसंगठित था। 'वणिक' वर्ग के रूप में इसे एक प्रथक स्थान दिया गया था। इस वर्ग को काफी उपयोगी समझा जाता था। उस समय भी थोक एवं फुटकर व्यापार के रूप में व्यापारिक क्रियायें सम्पन्न की जाती थी। उत्पादन के स्थान से थोक व्यापारी सामूहिक रूप से वस्तुओं को ले आते थे और वे फुटकर व्यापारियों के हाथ उन्हें बेचते थे ताकि वस्तुओं की पहुँच और वितरण समुचित ढंग से सामान्य जनता में हो सके। आचार्य मनु तथा कौटिल्य ने फुटकर एवं थोक दोनों प्रकार के व्यापारियों के सम्बन्धों को कायम रखने हेतु नियम बनाये हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि व्यापारिक लेन-देन, माल को वापस करने, तथा उनके नकद क्रय-विक्रय को मान्यता दी गई थी।

विदेशी व्यापार में जिन वस्तुओं का प्रचलन था, उनमें सोना, चाँदी, बहुमूल्य पत्थर, अबरक, मोती, सूती, ऊनी कपड़े, कपास तथा खाने-पीने की बहुमूल्य वस्तुयें प्रमुख थी। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के मसाले, दास, घोड़ों आदि का विदेशी व्यापार में प्रमुख स्थान था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसकी विस्तृत विवेचना की गई है।

प्राचीन भारतीय व्यवस्था में सिक्कों के प्रयोग से पूर्व वस्तु विनमय को सर्वाधिक मान्यता प्रदान की गई है। फिर भी भारतीय विचारकों ने विनिमय में मुद्रा को मान्यता दी है। भारतीय सिक्के पश्चिमी देशों के सिक्कों से सर्वथा भिन्न थे। पंच मार्क अर्थात् पंच चिन्हों से युक्त चौकोर धातु के सिक्के भारतीय व्यवस्था में प्रयुक्त किये गये हैं। वेदों में अनेकशः 'निष्क' के रूप में इनका प्रयोग मिलता है। आगे चल कर कौटिल्य तथा शुक्र ने सिक्कों के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचना की है। 'रूपदर्शकविशुद्धं हिरण्यं प्रतिगृह्णीयात्। अशुद्धं छेदयेत। आहर्तुः पूर्व साहस दण्डः।' कौटिल्य के इन विचारों से पता चलता है कि विशुद्ध सोने के सिक्कों को ग्रहण करने का निर्देश दिया गया था। 'सौवर्णिक' पौर जनपदानां 'रूप्य सुवर्ण'

आवेशनिभिः कारयेत् । यथावर्ण प्रमाणं निक्षेपं गृहणीयुः तथा विघ्नमेव अर्पयेयुः । अन्यत्र क्षीण परिशीर्णाभ्याम् ।' इस वाक्य में स्वर्णकारों को यह आदेश दिया गया है कि वे सही ढंग से सिक्कों का निर्माण करें ।

मुद्रा के लिये शुक्र ने 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है । इसके निर्माण का उत्तरदायित्व राज्य को सौंपा गया था । सिक्के के मूल्य की तुलना में कम धातु का प्रयोग कर यदि कोई व्यक्ति बिना अधिकार के मुद्रायें बनाने की चेष्टा करता अथवा उचित मुद्राओं को स्वीकार न करता या झूठी मुद्रा का प्रचलन करता अथवा कोष में जाली सिक्के रखता तो उसके लिये दण्ड की व्यवस्था की गयी थी । बनावटी सिक्कों को काटने के भी नियम बनाये गये थे ।

सोने का प्रयोग उच्चस्तरीय सिक्कों के निर्माण में किया जाता था । चाँदी तथा ताँबे के सिक्कों को उच्च कोटि में रखा गया था या नहीं, यह बात स्पष्ट नहीं होती, फिर भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि इनका प्रयोग होता था । सोना तथा चाँदी में एक अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित किया गया था । आचार्य शुक्र का कहना है कि 'रजतंषोडश गुण भवेत् स्वर्णस्य मूल्यकम् ताम्र रजत मूल्य स्यात प्रायो शीतिगुण तथा'—इससे स्पष्ट है कि चाँदी के मूल्य से सोने का मूल्य १६ गुना अधिक निर्धारित किया गया था । इन धातुओं के माध्यम से राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आयात-निर्यात किया जाता था ।

मुद्रा के साथ-साथ व्यापार में सहायता के लिये उधार की आवश्यकता समझी गयी । इस आवश्यकता का भी भारतीय अर्थव्यवस्था में पर्याप्त विवेचन किया गया है । साझेदारी के नियम को 'सभूय समुत्थान' की संज्ञा दी गयी है । कौटिल्य ने इसकी परिभाषा करते हुये कहा है कि जहाँ व्यापारी मिल कर सहयोग करके अपना कार्य करते हैं, इस व्यावहारिक प्रणाली को 'सम्भूय समुत्थान' कहा जाता है । इस प्रकार की साझेदारी के सम्बन्ध में नियम है कि उसमें आय-व्यय, हानि-लाभ तथा श्रम का बँटवारा साझेदारी के नियमों के अनुसार हो । पूँजी के अनुपात में ही इन सब का विभाजन होता है । कौटिल्य के अनुसार प्रत्येक व्यापार के पश्चात् हानि एवं लाभ का बँटवारा कर लेना चाहिए, परन्तु यदि कोई व्यक्ति स्वस्थ रहने के बावजूद तथा किसी समुचित कारण के बिना साझेदारी छोड़े, तो उसे दन्ड दिया जाना चाहिये ।

मुद्रा के उधार लेने के साथ-साथ वर्तमान काल की भाँति उस समय भी महाजनी प्रथा विद्यमान थी और उसका पर्याप्त प्रचलन था । प्रारम्भ में महाजनी प्रथा का जन्म 'वणिकों' द्वारा हुआ । उन्हें महाजन भी कहा जाता था । आवश्यकता पड़ने पर वे ब्याज पर ऋण दिया करते थे । धर्मशास्त्रों में इसका भी उल्लेख मिलता

है कि बिना किसी शर्तनामे एवं ब्याज के ऋण दिया जाता था, किन्तु बाद में यह प्रथा समाप्त हो गयी। इस महाजनी प्रथा का सबसे अधिक सम्बन्ध व्यापार से रहा और सामान्य वर्ग के लोगों के बीच इसका पर्याप्त प्रचलन था।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में विनिमय को प्रधानता दी गयी थी। इसी के माध्यम से राज्य की आय, धन का वितरण, लाभ, हानि आदि का लेखा-जोखा होता था।

राजस्व

पिछले पृष्ठों में हमने उपभोग, उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के कतिपय पक्षों पर विचार किया। इन विचारों से स्पष्ट है कि आर्थिक क्रियाओं के नियंत्रण हेतु राज्य को सर्वाधिकार प्राप्त थे और सम्पूर्ण कियायें उसी के माध्यम से सम्पन्न की जाती थीं। प्रारम्भ से ही राजा प्रजा के बीच पारस्परिक सम्बन्ध बन चुका था। राजा प्रजा की रक्षा करता और प्रजा राजा के लिये रक्षा करने के साधनों को जुटाती थी। उत्पादन का १/६ भाग राजा को दिये जाने की परम्परा का जन्म सर्वप्रथम हुआ, किन्तु बाद में आवश्यकताओं के अनुसार आय प्राप्ति के साधनों का विस्तार होता गया।

राज्य की आय प्राप्ति के प्रमुख साधन विभिन्न मदों से करों की वसूली माने गये हैं। प्रागैतिहासिक काल तथा सिन्धु सभ्यता में वित्तीय व्यवस्था का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। वैदिक युग में कर प्रणाली की पर्याप्त चर्चा की गयी है। 'बलि' भाग आदि के रूप में कर की चर्चा वैदिक ग्रन्थों में की गयी है। राजा एवं राज्य की समृद्धि के लिये यज्ञ की क्रियायें सम्पन्न की जाती थीं।

प्रारम्भ में मुख्य रूप से कृषि पर ही कर लगाया जाता था, किन्तु बाद में विभिन्न प्रकार के व्यापारों तथा आय के साधनों पर करारोपण किया जाने लगा। महाभारत, स्मृतियों तथा सूत्र ग्रन्थों में करों की विस्तार से चर्चा की गयी है। राज्य द्वारा आर्थिक क्रियाओं पर तो कर लगाया ही जाता था सामाजिक हितों तथा कोष की वृद्धि को ध्यान में रखकर अनार्थिक वस्तुओं पर भी कर लगाये जाते थे। यही कारण है कि जहरीली एवं मादक वस्तुओं, जिनसे सामाजिक अशांति उत्पन्न होने की संभावना होती तथा जिनसे मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव पड़ता उन पर राज्य सरकार द्वारा कर लगाये जाते थे। उस समय भी भारतीय अर्थव्यस्था में एक ओर उत्पादन एवं उपभोग की वस्तुओं पर नियंत्रण था, किन्तु मादक वस्तुओं पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना की है।

यही नहीं, प्राचीन भारतीय विचारकों ने आधुनिक अर्थशास्त्रियों की भांति करों की 'लोच' 'बेलोच' प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों का पूरा-पूरा ध्यान रखा है।

वैदिक ग्रन्थों में कर सम्बन्धी नियमों का विशेष उल्लेख नहीं प्राप्त होता, किन्तु महाकाव्यों में तत्सम्बन्धी नियमों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। करों के कुछ प्रमुख भारतीय सिद्धान्तों का विवेचन इस प्रकार से है।

धन के अथवा शारीरिक श्रम के रूप में राज्य को जो कर लेना चाहिए, वह भारतीय व्यवस्था के अन्तर्गत निश्चित है। अर्थात् राजा इच्छानुसार कर नहीं लगा सकता। जो कर शास्त्रों (धर्मशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र) में बताये गये हैं, वही कर राजा को लेना चाहिए। यह नियम इसलिये था कि भारतीय समाज व्यवस्था के नियामक समाज पर राजा को (अथवा राज्य को) असीमित अधिकार नहीं देना चाहते थे। क्योंकि वह असीमित, मर्यादाहीन अधिकार प्राप्त कर मनमाना, उच्छृंखल होकर स्वयं के हित और सुख सुविधा के लिये प्रजा के ऊपर अत्याचार कर सकता था। धन की सत्ता बहुत बड़ी सत्ता होती है। यदि राजा के अर्थात् राज्यकर्त्ताओं के पास, प्रबल राजनीतिक शक्ति के साथ-साथ, जो स्वयं ही मद करि होता है, मनमाना धन लेने का भी अधिकार हो जायेगा, तो वे कर्तव्य भ्रष्ट होकर सुखोपभोग में लिप्त हो जायेंगे। परन्तु यदि धन प्राप्त करने पर मर्यादा रही, अंकुश रहा और यदि उनके पास सीमित धन रहा, तो उनकी कर्तव्य परायणता, तुलनात्मक दृष्टि से अधिक स्थिर रह सकती है। यह नियम इसलिये भी था कि प्रजा के सुख सुविधा के लिये, धनोत्पादन के लिये, व्यापार के लिए, तथा सामाजिक जीवन का निर्वाह करने के लिये दान आदि देने के लिये प्रजा के पास आवश्यक धन शेष रहना चाहिए। इस बात की चिन्ता की गयी है कि राज्य अपनी आवश्यकता बताकर अथवा प्रजा पर कर बढ़ा कर प्रजा से धन अधिक अंश में न ले ले, जिससे प्रजा को कष्ट हो, कठिनाई हो अथवा उसे खलने लगे। इसका यह अर्थ नहीं कि धनिक लोग अपने ऐश्वर्य के लिये मनमाना व्यय कर सकते थे। इसके विपरीत यह भी आग्रह था कि जो लोग अपव्यय करते हैं उनसे सब धन छीन लेना चाहिए। आचार्य कौटिल्य का यह कहना है कि जो 'मूलहर' अर्थात् धन को अनुचित रूप से व्यय करता है, जो 'तादात्विक' है अर्थात् जो अपने द्वारा पैदा किए हुए धन का पूरा उपभोग स्वयं कर लेता है और जो कदय (कंजूस) है राज्य उससे उसकी सम्पत्ति ले ले और उसे तभी वापस करे जब वह वैसा कार्य करना छोड़ दे।

आचार्य शुक्र अपने शुक्रनीतिसार में कहते हैं कि मिथ्याचारी व्यक्ति का धन राजा कर के रूप में ले ले। इसी प्रकार असज्जनों से उनका सब धन छीन लेने का उल्लेख कई स्थानों पर आया है। इन असज्जनों के अन्तर्गत वे धनिक भी हैं, जो

अपना धन केवल स्वार्थ के लिये व्यय करते हैं। धार्मिक कृत्यों, यज्ञ तथा आध्यात्मिक कार्यों में लगाया जाने वाले धन का अपहरण वर्जित था। परन्तु निष्क्रिय एवं उद्योगहीन लोगों का धन तथा दस्युओं का धन अपहरण के योग्य होता था। प्रजा का धन या तो सेना (राज्य की सुरक्षा के) लिये होता है अथवा यज्ञ के लिये। जो औषधियाँ (वनस्पतियाँ) यज्ञ के लिये अयोग्य होती हैं, उन्हें लोग काटकर पकाने के काम में लाते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपना धन, देवता, पितृ और मनुष्यों के लाभ में नहीं व्यय करता उस धन को धर्मज्ञाता लोग निरर्थक कह कर उसकी उपेक्षा कर देते थे। राजा को अधिकार है कि उस धन का हरण कर ले और उससे संसार के रंजन करने, प्रजापालन करने में व्यय करे।

अनुशासन है कि जो राजा असज्जनों से धन लेकर सज्जनों को देता है और स्वयं मर्यादित रहता है, उस राजा को धर्मज्ञ समझना चाहिए। प्राचीन काल में ब्राह्मणों को कर से मुक्त बताया गया है। किन्तु केवल वे ब्राह्मण कर मुक्त होते थे जो धर्मज्ञ विद्वान तथा श्रोत्रिय होते थे। राजा के ऊपर कर लगाने की यह मर्यादा इसीलिये नहीं थी कि धनिक लोग अपने धन का मनमाना उपभोग न कर सके। परन्तु इसलिये भी कि राजा को भी वास्तविक, समुचित कारण बता कर ही अपदार्थ व्यापारियों से इस प्रकार कर लेने अथवा उनको धन का अपहरण करने का अधिकार था। प्रजा को अपना जीवनयापन करना, जीवन के अन्य आवश्यक कार्य करना ही कठिन न हो जाय, इस बात का ध्यान राजा को सदैव रखना पड़ता था।

करों के सम्बन्ध में मर्यादा रखने का यह भी कारण था कि भारतीय समाज की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति समाज स्वयं ही कर सके। अर्थात् समाज राज्य की सहमति पर अवलम्बित न रह कर अधिकांश विषयों में आत्म निर्भर रहे। उदाहरण के लिये शिक्षा में विद्यार्थियों और अध्यापकों का व्यय समाज के ऊपर ही डाल दिया गया था। वर्ण और जाति व्यवस्था के द्वारा अपंग, निर्धन आदि लोगों की समस्या का सुलझाव उस जाति के ही द्वारा होता था। सिंचाई के साधन, मार्ग, वृक्ष, पुल आदि अन्य आवश्यकताओं को ग्रामीण स्वयं निर्माण करें इसका आग्रह था। यह भी आग्रह था कि धनिक अथवा अन्य समर्थ लोग, उन्हें पुण्य कार्य के रूप में निर्मित करायें। परन्तु इस प्रकार के कर्तव्यों से राजा सर्वथा मुक्त न था। उसे शिक्षा कार्य और धार्मिक जीवन में योग देने, असहाय लोगों के भरण पोषण में सहायता देने का कार्य राज्य के लिये आवश्यक बनाये गये थे। जिस आवश्यकता की पूर्ति स्वयं समाज के अन्दर से होना सम्भव न हो, राज्य उसके लिये प्रस्तुत रहे। यह अनुशासन इसलिये कि समाज के किसी कार्य में बाधा न उत्पन्न हो, और समाज का प्रत्येक प्राणी सुखी तथा संतुष्ट रहे। इस प्रकार राज्य तथा समाज दोनों को अपने-

अपनी मर्यादा में रह कर ही कार्य व्यवहार करने का आदेश था। यह विचार मान्य था कि यदि राज्य की व्यवस्था उत्तम रही, तो राज्य में समृद्धि भी अधिक रहेगी और उस समृद्धि के फलस्वरूप व्यापार आदि पर अथवा कृषि पर लगाये जाने वाले करों का परिमाण स्वतः ही बढ़ेगा। अर्थात् राज्य की सुव्यवस्था जैसे-जैसे अधिक उत्तम होगी, वैसे-वैसे राज्य की आय भी उस व्यवस्था को ठीक रखने के लिये बढ़ेगी, यदि राज्य की व्यवस्था बिगड़ी तो राज्य की आय भी स्वतः कम हो जायेगी और फिर ऐसी स्थिति में कोई कारण भी नहीं कि राज्य को अथवा शासकों को अधिक आय मिले। दुर्व्यवस्थित राज्य में अतिरिक्त आय का दुरुपयोग ही होगा। इन सब कारणों से भारतीय राज्य व्यवस्था में राज्य की आय के साधन निश्चित और सीमित कर दिये गये थे और अनावश्यक रूप से नया कर लगाना वर्जित था।

कर के अन्य सिद्धान्त

भारतीय विचारकों ने कर के सिद्धान्तों के अन्तर्गत यह भी बताया है कि प्रजा से इस प्रकार कर लेना चाहिए कि उसे कष्ट न हो अथवा उसकी धन में वृद्धि करने की शक्ति नष्ट न हो जाय।

महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णित 'मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमराइव पादपम्' से स्पष्ट है कि जैसे भौरा धीरे-धीरे फूल एवं वृक्ष का रस लेता है, वृक्ष को काटता नहीं, 'वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्' जैसे मनुष्य बछड़े को कष्ट न देकर धीरे-धीरे गाय को दुहता है, उसके थनों को कुचल नहीं डालता, उसी प्रकार राजा कोमलता के साथ राष्ट्र रूपी गौ का दोहन करे, उसे कुचले नहीं। इसके विपरीत जो राजा अपने ही अर्थ अथवा धन का विचार करता है और मोह तथा लिप्सा के कारण अशास्त्रीय कर लेकर प्रजा को पीड़ित करता है, वह स्वय अपनी हिंसा करता है। जो राजा ऊपर से अपने को अच्छा सिद्ध करता हुआ प्रजा को चूसने अर्थात् शोषण करने का प्रयास करता है, उससे प्रजा द्वेष करती है और जिस राज्य की प्रजा राजा से असंतुष्ट रहती है, उस राजा का कल्याण कदापि संभव नहीं। राजा प्रजा के लिये अप्रिय हो जाता है उसे किसी फल का लाभ नहीं प्राप्त होता।

अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत, ततो भूयस्ततो भूयः क्रम वृद्धि समाचरेत्' इस श्लोक में राजा का पूर्णरूपेण मार्ग निदेशन किया गया है। राष्ट्र के सम्वर्द्धन हेतु राजा को चाहिए कि क्रमशः धीरे-धीरे प्रजा से कर वसूल कर कोष की वृद्धि करे। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी बहुत से उदाहरण देते हुए कहा गया है कि देश काल, विचार और शक्ति देखकर प्रजा के हित में लगा रहने वाला राजा प्रजा

का अनुशासन करे, जिसमें प्रजा अपने कल्याण का अनुभव प्राप्त करे। इस प्रकार के उपकारी कार्यों से राजा को अपने राज्य में शासन करने का निर्देश था। जिनकों का मत था कि जिस प्रकार भौरा वृक्षों से मधु लेता है उसी प्रकार राजा को भी राज्य से कर लेना श्रेयस्कर है। अर्थात् राजा प्रजा के मूल को नष्ट न कर दे। जोंक के समान राजा जनता के साथ राज्य का पान अर्थात् दोहन करे और बाघिन जिस प्रकार से अपने पुत्र को उठा लेती है, उसके दांत पुत्र को लगते तो हैं परन्तु पीड़ा नहीं देते, जिस प्रकार तीखे दांतों वाला चूहा पैर को काटता है किन्तु उसके काटने का आभास नहीं होता। उसी प्रकार राजा को राज्य के प्रति व्यवहार करना चाहिए। राजा प्रजा से पहले थोड़ा-थोड़ा कर ग्रहण करे और फिर क्रमशः उसकी वृद्धि करे। उदाहरण स्वरूप जिस प्रकार पहले पशुओं को अपने वश में कर लिया जाता है और तत्पश्चात् उनके ऊपर बोझा लादने का प्रयास किया जाता है फलस्वरूप उन्हें अधिक बोझे का आभास नहीं हो पाता। किंतु इसके विपरीत यदि बछड़े पर एकाएक अधिक बोझा लाद दिया जाय तो वह उसे फेंक देगा और वश मे न रह कर भाग जाने का प्रयत्न करेगा। ठीक इसी प्रकार यदि प्रजा का समुचित रूप से शासन किया जाता है तब तो वह राज्य के सम्वर्द्धन में सहयोग प्रदान करती है, अन्यथा असहयोग उत्पन्न कर देती है। करारोपण के समय यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वह उचित समय पर लगाया जा रहा है या नहीं। अकाल, बाढ़ तथा अन्य आकस्मिक घटनाओं से पीड़ित प्रजा कर का बोझ सहन न कर सकेगी और परिणाम विपरीत होंगे। प्रजा को पहिले सांत्वना देकर, फिर उचित काल देखकर और उचित ढंग से कर लगाना चाहिए। उदाहरण के लिये गलत उपाय से यदि घोड़े को वश में लाने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह भी क्रुद्ध हो जाता है।

कामन्दक का कहना है कि जिस प्रकार योग्य व्यक्ति डालों की रक्षा कांटों की बाड़ी से करता है, उसी प्रकार इस संसार की रक्षा कर इसका भोग करना चाहिए। जिस प्रकार से गौ को पाल कर समय पर दुहते हैं और पुण्य फल की इच्छा करते हैं, जिस प्रकार माली लता को सींचते हैं और बढ़ाते हैं, उसी प्रकार राजा भी प्रजा को सींचकर, बड़ा कर अर्थात् उसका पालन पोषण कर उससे कर ले। ऊपर दिये हुए सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि कर किस प्रकार लेना चाहिए। राजा से यह आग्रह था कि प्रजा की उचित ढंग से रक्षा करते हुए उसका पालन एवं सम्वर्द्धन कर उसे संगठित कर लेना चाहिए। क्योंकि रक्षित एवं सम्वर्द्धित प्रजा अधिक कर देने में समर्थ होती है। कामन्दकीय नीतिशास्त्र के प्रणेता कामन्दक के खेतो, केकड़ी, लताएँ, गौ आदि तथा महाभारत के शांति पर्व में बछड़े को दूध से पुष्ट कर काम लेने के उदाहरण समुन्नत और पुष्ट प्रजा से समुचित कर प्राप्त करने

के प्रतीक हैं। विचारकों का यह भी कहना है कि प्रजा से अनुचित रूप से अधिक कर नहीं लेना चाहिए। अधिक कर लेने से प्रजा क्रुद्ध हो जायगी ऐसा करने से प्रजा के सभी साधनों की जड़ ही समाप्त हो जायगी और राज्य की आर्थिक वृद्धि में बाधा उत्पन्न होगी। प्रजा निर्बल होकर अधिक असमर्थ हो जायगी। कर लेने का ढंग इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे प्रजा का किसी प्रकार से अहित न हो और वह समृद्धशालिनी बनी रहे। इसके लिये राजा को एक माली के समान होना आवश्यक बताया गया है, जो खिले हुए पुष्पों को चुन लेता है तथा कलियों को फिर से खिलने के लिये छोड़ देता है। आर्थिक विचारकों का मत है कि समाज का आय-व्यय देख कर ही दुबारा कर (आकस्मिक) लगाना चाहिए-यह भी बताया गया है कि कर इस प्रकार लगाने चाहिए कि जिससे प्रजा को किसी प्रकार की पीड़ा न हो, क्योंकि यदि प्रजा को कष्ट का अनुभव हुआ तो वह राज्य से बिरुद्ध कार्य करना प्रारम्भ कर देगी। इसके लिये बाघिन का, चूहा द्वारा पैर काटने का और जोंक का उदाहरण दिया जा चुका है।

करारोपण का यह नियम अनिवार्य था कि राजा को प्रजा से धीरे-धीरे कर लेना चाहिए, जिससे प्रजा प्रसन्नता के साथ बिना किसी कमी और कष्ट का अनुभव करते हुए कर दे दे। आवश्यकता पड़ने पर उसे धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए अन्यथा प्रजा रुष्ट हो जायेगी, विद्रोह कर देगी। पशु को धीरे-धीरे वश में करने और धीरे-धीरे उन पर बोझ बढ़ाने का उदाहरण सबसे अन्तिम नियम है। उचित समय पर उन व्यक्तियों पर जो कर का बोझ सहने के समर्थ हों, समुचित ढंग से कर लगाना चाहिए अथवा दूसरे शब्दों में राजा को उचित और धर्म पूर्ण कर अथवा न्याय पूर्वक कर लेना चाहिए। लोभ एवं घृणा की भावना से कर नहीं लेना चाहिए और न इतना अधिक कर लेना चाहिए कि राज्य के करों के कारण अथवा राजकर्ताओं के लोभ के कारण प्रजा अपना वैभव छिपा कर रखे। इसीलिये कर्मचारियों से भी इस बात का आग्रह है कि वे प्रजा से नियमित कर से अधिक कर न लें। इसके अतिरिक्त प्रजा को धन देकर उसे लूटे नहीं। अधिकांश प्राचीन विचारकों के सिद्धांत के अनुसार किसी वस्तु पर दुबारा कर नहीं लिया जाना चाहिए।

शुक्र ने राज्य के वर्णन में कहा है कि राजा को करों अथवा अन्य साधनों से कोश मे इतनी वृद्धि कर लेनी चाहिये कि वह २० वर्ष तक प्रजा का पालन समुचित ढंग से कर सके। कामन्दक ने कोश का यह गुण बताया है कि उसमें आय अधिक होनी चाहिये और व्यय कम, कौटिल्य के अनुसार कोश को दीर्घकाल तक की विपत्ति सहन करने मे समर्थ होना चाहिये। उन्होंने अनुग्रह (दान) और परिहार (ब्राह्मणों को बिना कर के भूमि का दान) का वर्णन करते हुए

कहते हैं कि दान देते समय राजा इस बात का ध्यान रखे कि उसके कोश पर किसी प्रकार का बोझ न पड़े, क्योंकि कोश की कमी अत्यधिक कष्टदायी होती है।

प्राचीन कर सम्बन्धी विवरण को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय शासन व्यवस्था में वे कौन से सिद्धांत थे, जो आज भी मान्य है। प्राचीन काल में भी सुविधा का सिद्धांत मान्य था, जिसमें आग्रह किया गया है कि व्यय और उसकी आवश्यकता तथा देश और काल को देखते हुए कर लगाया जाय। निश्चितता के सिद्धांत में भारतीय विचारकों को केवल यही मान्य नहीं था कि कर लगाने का समय एवं स्थान ही निश्चित हो, अपितु आपत्ति काल को छोड़कर, सामान्य स्थिति में वे कर व्यवस्था में किसी भी प्रकार का व्यतिरेक नहीं चाहते थे। मितव्ययिता का सिद्धांत भी भारतीय विचारकों को मान्य था, क्योंकि उनका यह आग्रह था कि व्यय आय से कम होना चाहिये, उससे अधिक नहीं। गतिशीलता का सिद्धांत केवल इस दृष्टि से मान्य था कि अधिकांश कर ऐसे थे, जिनमें देश की समृद्धि के साथ स्वयमेव वृद्धि होती थी। समानता का सिद्धांत इस सीमा तक मान्य था कि जो धनी नहीं थे, जैसे ब्राह्मण, शारीरिक कर्म करने वाले, सन्यासी आदि उन्हें धन के रूप में कर नहीं देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त भी बहुत से अन्य कर सम्बन्धी भारतीय विचार प्राचीन काल में थे, जो समाज के लिये उपयोगी थे।

विचारकों का यह आग्रह था कि राजाओं को कोश की वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। यह वृद्धि तभी सम्भव है जब वह जनता से आवश्यक कर की वसूली करे। कोश के महत्व के कारण, यह बताते समय कि राजा के अन्दर विभिन्न देवताओं के अंश हैं, राजा को कुबेर के अंश से भी अधिक महत्वपूर्ण बताया गया है। अर्थात् यह कहा गया है कि वह कुबेर के समान धन संग्रह करने में कुशल हैं। कोश के ही महत्व के कारण यह आदेश है कि राजा प्रति दन कोश की देख भाल करे।

विभिन्न कर

कोष में धन लाने के जो प्रमुख और नियमित साधन हैं, वे हैं भूमि की उपज का भाग (बलि), व्यापारियों से लिया गया शुल्क तथा अपराधियों के दण्ड से प्राप्त धन। मनु ने आय के पाँच प्रकार के साधनों का उल्लेख किया है। मनु और गौतम ने छठे भाग के अतिरिक्त ८ वाँ और बारहवाँ भाग की भी चर्चा की है। इसका अर्थ है कि गेहूँ, जौ आदि अन्नों का जो वसन्त ऋतु में उत्पन्न होते हैं, आठवाँ भाग औग ऊसर भूमि की उपज का दसवाँ भाग अथवा बारहवाँ भाग कर के रूप में लिया जाय। मनु का यह भी कथन है कि आपत्ति काल में राजा

शुल्क का चौथा भाग ले। शुक्र ने भी किसानों से उनकी उपज का तीसरा, पांचवां, सातवां अथवा दसवां भाग कर के रूप में लेने को कहा है। परन्तु कौटिल्य तथा शुक्र दोनों का कहना है कि जिन खेतों की सिंचाई की सुविधा हो, उनसे अधिक कर लेना चाहिये। उदाहरण के लिये जिन खेतों की कूप, बावली आदि से सिंचाई होती है, उनसे चौथा भाग लिया जाय, यदि कोई सिंचाई के साधनों का निर्माण कराये, तो कौटिल्य के अनुसार कहे गये कर तब तक न लगाये जाँय, जब तक कि वह अपने व्यय का दुगुना भाग वसूल न कर ले।

अन्य वस्तुओं के विषय में मनु, गौतम, विष्टा तथा अग्निपुराण का कथन है कि राजा वृक्ष, माँस, मधु, घी, गन्ध, औषधि, इत्र, पुष्प, मूल, फल, पत्ते, शाक तृण, धर्म, बाँस, मिट्टी के पात्र तथा पत्थर की वस्तुओं का छठा भाग कर के रूप में ले। इन वस्तुओं के अतिरिक्त शुल्क के विषय में यह नियम है कि व्यापारियों के जीवन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही उनसे समुचित शुल्क लेना चाहिये।

महाभारत के शान्तिपर्व में शिल्पियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वस्तुओं की उत्पत्ति, दान वृत्ति अथवा कार्यकुशलता आदि को देख कर ही उन पर कर लगाया जाय और राजा इस प्रकार कर लगाये जिससे प्रजा के कार्य में बाधा न पड़ सके। अतः वह कार्य तथा उसके परिणाम को देखकर ही करारोपण करे। साधारण-तया जो वस्तु राज्य में ही उत्पन्न होती है उसमें बीसवां भाग शुल्क लगाना चाहिये। परन्तु बाहर से आने वाले माल के ऊपर सारा व्यय आदि देखकर शुल्क लगाना चाहिये। कौटिल्य का यही आदेश है। शुक्र ने लाभ का बत्तीसवां, बीसवां अथवा सोलहवां भाग शुल्क लेने को कहा है। जो व्यापारी कर न दे अथवा बढ़िया वस्तु को घटिया बताकर, अधिक वस्तु को कम बताकर अथवा गलत मूल्य बताकर, चुंगी कर से बचा कर समान ले जाय, उन्हें वस्तु के मूल्यों से ८ गुना अधिक दण्ड देना पड़ेगा। कौटिल्य का यह भी कहना है कि विवाह सम्बन्धी माल पर, कन्या दान, यज्ञ, प्रसव, देवप्रजा उपनयन गोदान और व्रत के निमित्त वस्तुओं पर कर न लगाना चाहिये। परन्तु यदि कोई अन्य माल को इस निमित्त बताये तो उसे उस पर चोरी का दण्ड दिया जाना चाहिये। व्यापार के लिये वर्जित वस्तुओं को लेकर यदि कोई जाना चाहे उसे भी दन्ड दिया जाना चाहिए। कौटिल्य ने विभिन्न वस्तुओं की श्रेणियों तथा उनके शुल्क के नियमों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।

शुक्र ने मार्ग में चलने वालों से कार्य कर, दुकानदारों से बाजार कर, गृह

तथा भूमि कर, कृषि की भूमि के अनुसार कर, व्यय तथा सिंचाई आदि से सम्बन्धित करों का उल्लेख किया है।

करों के ही अन्तर्गत इस नियम को भी गिना जाता है कि कारीगर, शिल्पी, शूद्र तथा अन्य काम करने वालों से राजा प्रतिमास कुछ दिनों निःशुल्क काम करा ले। करों से जिन लोगों को मुक्त किया गया था, उनमें स्त्री, बालक, विद्यार्थी अथवा यती, शूद्र अन्धे, बहरे, गूंगे, रोगी, अपंग तथा ७० वर्ष के ऊपर के वृद्ध प्रमुख थे। इनमें से यद्यपि अन्य लोगों को तो इसी लिये कर देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी, क्योंकि या तो वे इसके लिये असमर्थ थे अथवा उनके पास धनोपार्जन का कोई उपाय न था।

श्रोत्रिय ब्राह्मण से कर लेने का कोई विधान नहीं था, क्योंकि वह थोड़ा बहुत धनोपार्जन करने के बावजूद निर्धनता का जीवन व्यतीत करता था। अतः उससे भी कर लेने का नियम बनाना उसके निर्धन जीवन पर अधिक आघात करना माना गया है।

कौटिल्य ने तो यहां तक कहा है कि राजा वेदपाठी का अन्न तो छुए ही नहीं, अर्थात् उसका भूमि भाग नहीं ले। यदि श्रोत्रिय खेती करने में असमर्थ हो तो राजकीय अधिकारियों को चाहिये कि उसकी खेती कराने का प्रबन्ध करें। यदि किसान की लापरवाही के कारण कुछ अन्न व्यर्थ जाय, तो उसे दण्ड दे और स्वयं खेती की रक्षा कराये।

व्यय

अभी तक हमने आय के विभिन्न साधनों पर प्रकाश डाला, अब हम व्यय पर भी दृष्टिपात कर लें। प्रारम्भिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि इस उत्पादन अथवा आय का अधिकांश भाग घरेलू कार्यों में व्यय होता था और इस व्यय का अधिकार गृहणी को दिया गया था। प्रारम्भ में यह गृह कार्यों के विभिन्न मदों में व्यय किया जाता था, किन्तु बाद में राज्य स्तर पर व्यय किया जाने लगा और इसका सम्बन्ध राज्य की आय से हो गया।

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था में व्यय की मदों को हम मुख्यतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) राज्य की क्रियाओं में व्यय, (२) व्यैक्तिगत क्रियाओं में व्यय। राज्य की क्रियाओं से सम्बन्धित व्यय में वे सभी प्रकार के कार्य आ जाते हैं जिनमें राज्य का विकास, प्रजा का हित शामिल है। राज्य द्वारा जनहित के कार्यों में जैसे नहर और तालाब खुदवाना, कुंए के निर्माण आदि में खर्च स्वाभाविक था, किन्तु आपत्ति (भुखमरी, सूखा, युद्ध आदि) के समय राज्य के

व्यय में काफी वृद्धि हो जाती थी और राजा प्रजा से आय प्राप्त कर इकट्ठे किये गये कोश से प्रजा की मदद करता था। युद्ध के समय में वह अतिरिक्त आय प्रजा से प्राप्त कर युद्ध कार्यों में व्यय करता था। प्राचीन विचारकों का यह मत रहा है कि सामान्य स्थिति में आय की अपेक्षा व्यय अधिक नहीं होना चाहिए। आचार्य शुक्र ने आय और व्यय दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित किया है। उनका कहना है कि गाँव के मुखिया को ग्राम की आय का ११२ भाग प्राप्त करना चाहिये, जिसमें सेना के लिये १।३ तथा दान में ११२, मनोरंजन के लिये ११२, अधिकारियों के लिये १।२, राजा के व्यक्तिगत कार्यों में १।२ तथा शेष से कोष के भाग को सुरक्षित रखना चाहिये। इस प्रकार के आय को ६ भागों में विभक्त कर व्यय करने के नियम बताये गये हैं। यथा "ग्रामस्य द्वादशांशेन ग्रामदान सन्नियोजयेत्। त्रिभिरंशैर्बलंधार्यं दानमर्धंशकेन च। अर्धांशेन प्रकृतयोहृर्षांशेनाधिकारिणः। अर्धांशेनात्मभोगश्च कोशो शेनऽचरक्ष्यते आयस्यैव षड् विभागैर्व्ययं कुर्यात तु वत्सरें।" इसी प्रकार शुक्र ने चौथे अध्याय में यह भी कहा है कि यदि किसी शासक की आय १ लाख है, तो उसे १५०० दान एवं व्यक्तिगत आवश्यकताओं में, एक सौ लेखकों में, ३०० सभासदों में, ३०० बच्चों तथा पत्नी में, २०० गरीबों में, ४ हजार सैनिकों में, ४ सौ हाथी, घोड़े, बैलों तथा शस्त्रों में व्यय करना चाहिये तथा १५०० कोष में सुरक्षित रखना चाहिये। शेष का अन्य जरूरी मदों में व्यय का विधान था। इस प्रकार के व्यय में अनुमान लगाया जा सकता है कि विभिन्न मदों में किस अनुपात में व्यय करने के नियम बनाये गये थे।

शुक्र द्वारा आय के वितरण अथवा व्यय के लिये बनाये गये नियमों से हमें तत्कालीन समाज एवं राज्य की व्यवस्था का पता चलता है। इनके द्वारा अपनाये गये नियमों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण आय का ११२ भाग सेना के कार्यों में खर्च करना अनिवार्य था। सेना के एक सामान्य अधिकारी को ५०० पण वेतन दिया जाता था मौर्यकालीन सैन्य व्यवस्था में सेना के जवानों में व्यय करने की कार्यप्रणाली का पता चलता है।

राष्ट्रीय आय का दुरुपयोग करना पाप समझा जाता था। प्रजा द्वारा प्राप्त आय का व्यय उन्हीं कार्यों में किया जाता था, जिनकी उपयोगिता हो। अपने व्यक्तिगत कार्यों में खर्च करने वाले राजा की निन्दा की जाती थी। आय का कुछ भाग निधि के रूप में भी संचित कर लिया जाता था और उसे अकाल एवं भुखमरी के समय प्रजा की रक्षा हेतु प्रयुक्त किया जाता था। वर्षा पर कृषि कार्य निर्भर होने के कारण कभी-कभी वर्षा के अभाव में फसल अच्छी न होती, उस समय राजा संचित किये गये धन से प्रजा की सहायता करता था।

व्यय की समुचित व्यवस्था के लिये केन्द्रीय तथा स्थानीय प्रबन्ध किया गया था सामाजिक सेवा जैसे गरीबों की सहायता, कृषि कार्यों में सुधार, औद्योगिक कार्यों के विकास आदि पर व्यय किये जाने का विधान था। ग्रामों की प्रथक इकाई बना कर उन्हें ग्रामीण व्यवस्था का पूरा अधिकार दे दिया गया था। कौटिल्य अर्थशास्त्र मे अनुमानित व्यय का सम्बन्ध केन्द्रीय व्यवस्था से ही माना गया है। अनुमानित व्यय का निर्धारण स्थानीय निकायों तथा संगठनात्मक कार्यों को दृष्टि में रख कर किया जाता था। राज्य ऐसे लोगों की भी सहायता करता था, जो अपनी जीविका चलाने में असमर्थ थे। शिक्षा के विकास कार्यों में व्यय करने का उत्तरदायित्व भी राज्य को सौंपा गया था। इस सम्बन्ध में तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला आदि शिक्षण संस्थानों का उल्लेख मिलता है।

व्यय की उपयुक्त व्यवस्था काफी बाद की है इसके पूर्व वैदिक युग में तो व्यय का स्वरूप इससे बिल्कुल पृथक था। आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्रियाओं में मुख्य रूप से आय का अधिकांश भाग व्यय किया जाता था। इस युग में धार्मिक क्रियाओं की अधिक मान्यता रही, किन्तु महाभारत काल में व्यय का अधिकांश भाग सैन्य कार्य में प्रयुक्त होने लगा। कालांतर में आवश्यकताओं के साथ-साथ व्यय की मदों में भी परिवर्तन होता गया और समाज एवं राष्ट्र की उन्नति तथा अवनति के साथ ही आर्थिक ढाँचे में भी बदलाव आया।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्॥

सहायक पुस्तक सूची

वेद (मूल ग्रन्थ)

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद
} श्री राम शर्मा आचार्य द्वारा सम्पादित एवं अन्य की टीकायें

सहायक ग्रन्थ

ए० सी० दास	ऋग्वैदिक एज़
बी० एस० उपाध्याय	वीमेन इन दि ऋग्वेद
जी० पी० उपाध्याय	वैदिक कल्चर
महादेवेन्द्र गिरि	वैदिक कल्चर
आर० सी० मजूमदार	वैदिक एज़
रामेश्वर प्रसाद मिश्र	वैदिक एवं वेदान्त साहित्य की रूपरेखा
वैदिक इन्डेक्स	
विश्वेश्वर नाथ	ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि (प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, प्रथम संस्करण, १९६७)
बी० जी० राहुरकर	दि सियर्स ऑफ दि ऋग्वेद यूनिवर्सिटी आफ पूना, १९६४

विश्व बन्धु द्वारा सम्पादित—ऋग्वेद विद कमेन्ट्रीज
स्कन्द स्वामिनि उद्‌गीथ वेंकटमाधव एण्ड मुद्‌गल, भाग १ ।

वेंकट सुब्बिय	वैदिक स्टडीज
जेड० ए० रेंगोजीन	वैदिक इन्डिया

ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण
तैत्तरीय ब्राह्मण

संहिता

काठक संहिता
कपिष्ठल कठ संहिता

मंत्र संहिता
नारदीय मनुसंहिता

उपनिषद् (मूल ग्रन्थ)

आश्रमोपनिषद्
कठोपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद्
तैत्तरीय उपनिषद्
सुबालोपनिषद्
प्रश्नोपनिषद्

महाकाव्य (मूल ग्रन्थ)

वाल्मीकि रामायण — गीता प्रेस, गोरखपुर
महाभारत — गीता प्रेस, गोरखपुर
महाभारत — भंडारकर इन्स्टीट्यूट, पूना

सहायक ग्रन्थ

सी० वी० वैद्य — इपिक इन्डिया
शांतिकुमार नानू राम व्यास—रामायणकालीन समाज, अंग्रेजी अनुवाद-
इंडिया इन दि रामायण एज, १९६७।

सूत्र (मूल ग्रन्थ)

आपस्तम्बीय धर्मसूत्र — बम्बई संस्कृत सिरीज
बोधायनसूत्र — मैसूर, विश्वविद्यालय, प्रकाशन
गौतम धर्मसूत्र — आनन्द आश्रम प्रेस द्वारा प्रकाशित
" " " — काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १७२ (चौखम्बा)
जैमिनसूत्र
काम सूत्र — यशोधरा टीका चौखम्बा प्रकाशन, १९१९
पाणिनि अष्टाध्यायी — गुरुकुल हरिद्वार, १९५९
वसिष्ठ धर्मसूत्र — बम्बई संस्कृत सिरीज
विष्णु धर्मसूत्र — मन्मथ दत्त द्वारा प्रकाशित, बम्बई

सहायक ग्रन्थ

ए० एन० कृष्णा आयंगर द्वारा व्याख्याकृत गौतमधर्मसूत्र परिशिष्ट

भगवत्तदत्त द्वारा सम्पादित संस्कृत सिरीज, लाहौर १९२१

जी० बूलर द्वारा अनूदित—गौतम धर्मसूत्र, हरिदत्त की टीका, १९१०, एस० बी० ई० भाग २, १८८६

जी० बूलर बौधायन धर्मसूत्र विद गोविन्द भाष्य कमेन्ट्री—मैसूर, १९०७ अनूदित एस० बी० ई० भाग १४—१८८२

जी० बूलर द्वारा अनुदित वसिष्ठ धर्मसूत्र—ए० ए० फुरर द्वारा सम्पादित १८८३, एस० बी० ई० १८८२

गोविन्द स्वामी प्रणीत—बोधायन धर्मसूत्र चौखम्बा संस्कृत सिरीज, १९६६

वी० एस० अग्रवाल—पाणिनि कालीन भारतवर्ष (चौखम्बा प्रकाशन बनारस, १९५५)

वी० एस० अग्रवाल—इन्डिया ऐज नोन टु पाणिनि अष्टाध्यायी, वाराणसी

विन्टरनिट्ज द्वारा सम्पादित आपस्तम्ब गृह्यसूत्र

स्मृति (मूल ग्रन्थ)

मनुस्मृति

गौतम स्मृति

विष्णु स्मृति

नारद स्मृति

लिखित स्मृति

बृहस्पति स्मृति

पराशर स्मृति

वसिष्ठ स्मृति

सांख्य लिखित स्मृति

सहायक ग्रन्थ

जी० एन० झा द्वारा अनूदित मनुस्मृति—१९२१

गोविन्द दास द्वारा सम्पादित—याज्ञवल्क्य स्मृति, चौखम्बा सिरीज १९१४

जे० जालो द्वारा सम्पादित मनुस्मृति, १८८७

जे० आर० घरपूरे द्वारा सम्पादित मनुस्मृति १९२०-१९२९

जे० जाली द्वारा सम्पादित मनुस्मृति, टीका संग्रह, अनुदित जी० बूलर, एस० बी० ई०, भाग २५, १८८६, १८८५

जे० जाली द्वारा सम्पादित एवं अनूदित, नारद स्मृति, १८८६, एस० बी० ई०, भाग ३३, १८८६
जे० जाली द्वारा सम्पादित विष्णु स्मृति १८८०, अनूदित १८८१
जीवानन्द—स्मृति मयूख, वेंकटेश्वर प्रेस, १६०८
जे० जाली द्वारा अनूदित एवं सम्पादित बृहस्पति स्मृति, १८८६
के० वी० रंगास्वामी आयंगर, बृहस्पति स्मृति त्रिवेन्द्रम, १६४१ मिश्र मित्रकृत्त वीर मित्रोदय टीका—याज्ञवल्क्य स्मृति, चौखाम्बा सिरीज, १६२४
एम० बी० पाटवर्धन—मनुस्मृति—दि आयडिल डेमोक्रेटिक रिपब्लिक आव मनु-मोती लाल बनारसीदास १६६६।
मत्कुल्लूक विरचित—मनुस्मृति-१६१५
नन्द पंडित विरचित—विष्णु स्मृति-चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थ माला १६६२
पी० बी० काणे द्वारा संशोधित—सांख्य लिखित स्मृति १६२६
टी० गणपतिशास्त्री द्वारा सम्पादित, याज्ञवल्क्य स्मृति, १६३२
उमेशचन्द्र पाण्डेय द्वारा व्याख्या कृत याज्ञवल्क्य स्मृति—चौखम्बा प्रकाशन बूलर-लाज आव् मनु—१८३६
वी० कृष्णामाचारी द्वारा सम्पादित—विष्णु स्मृति, १६६४
वी० एन० मण्डलीक की कमेन्ट्री सहित मनुस्मृति—१८८५।

पुराण (मूल ग्रन्थ)

अग्नि पुराण—आनन्द आश्रम प्रेस
भविष्य पुराण
ब्रह्म पुराण—आनन्द आश्रम प्रेस, पूना
भागवत पुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर
ब्राह्मण पुराण—वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे
देवी पुराण
गरुण पुराण
लिंग पुराण
मत्स्य पुराण,
नारदीय पुराण—वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे
पद्म पुराण—आनन्द आश्रम प्रेस
शिव पुराण
विष्णु पुराण
वायु पुराण

पुराण (सहायक ग्रन्थ)

एच० एच० विलसन द्वारा अनूदित विष्णु पुराण विद कमेन्ट्री, बाम्बे संस्करण, १८८७

एम० एन० दत्त द्वारा अनूदित गरुण पुराण, बाम्बे संस्करण १८८६

एम० एन० दत्त द्वारा अनूदित, अग्नि पुराण, १८७०, १८७३, पूना

रवि सेन आचार्य द्वारा अनूदित पद्म पुराण भाग १, २, ३ भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५९

सर्वानन्द पाठक, विष्णु पुराण का भारत, वाराणसी, १९६७

एस० डी० ज्ञानी—अग्नि पुराण, ए स्टडी, चौखम्बा सिरीज, १९६४

सुब्बाराव द्वारा अनूदित—भागवत पुराण विद श्रीधर कमेन्ट्री, भाग ३

श्रीमती वीणापाणि पाण्डेय—हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९६०

वासुदेव शरण अग्रवाल, मत्स्य पुराणानुशीलन, वाराणसी, १९६३

विजानन्द द्वारा अनूदित –देवी पुराण विद कमेन्ट्री बाम्बे

बुद्ध एवं जैन साहित्य

ई० सेनार्ट—महावस्तु-१८८२-१८९७

ई०बी० कावेल तथा अन्य के द्वारा अनूदित—जातक भाग ६, १८९५, १९१३

एच० ओल्डेन वर्ग एण्ड टी० डब्लू० राइस डेविड्स–विनय टेक्स्ट्स (एस० बी० ई० भाग १३-१७ तथा २०, १८८१, १८८५)

एच० जैकाबी –जैन सूत्रास (एस०बी०ई० भाग २२ तथा १६)

टी० डब्लू० राइस डेविड्स—बुद्धिस्ट सूत्रास (एस०बी०ई० भाग ११)

टी० डब्लू० राइस डेविड्स एण्ड लार्ड चैम्बर्स—डाइलाग्स आफ दि बुद्धा (अनुवाद भाग ३, १८९१, १९२१ भाग २, १९२६, १९२७)

जातक

कटाहक जातक

कूटवणिज जातक (जातकट्ठ कथा)

खदिरंग जातक—जातकट्ठ कथा-त्रिपिटिका चार्य, भिक्षुधर्म रक्षित,

नाम सिद्धि जातक

महाउभग्ग जातक

सुवर्ण हंस जातक
सुरूसी जातक
सेबवणिज जातक

नीतिशास्त्र (मूल ग्रन्थ)

शुक्रनीति सार, विद्योतिनी टीका, चौखम्बा सिरीज, वाराणसी (मिहिरचन्द्र सेन)
शुक्रनीति—काशी संस्कृत ग्रन्थ माला १८५ (चौखम्बा)
नीतिवाक्यामृत (ग्रन्थ माला संस्करण) सोमदेव
चाणक्य नीति सूत्रम्—त्रिवेन्द्रम्, १६१२

(सहायक ग्रन्थ)

ए० डब्लू० राइडर—पंच तंत्र, अंग्रेजी अनुवाद
बी० के० सरकार, शुक्रनीति सार अंग्रेजी अनुवाद
ईश्वर चन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित, चाणक्य नीतिशास्त्रम्
ईश्वर चन्द्र शास्त्री, भोज युक्ति कल्पतरु १६१७
एफ० एडगर्टन, टेक्स्ट ओनली, पंचतत्र, पूना १६२३
एफ० डब्लू टामस द्वारा सम्पादित तथा अनूदित बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र
जी० ओपर्ट द्वारा सम्पादित, शुक्रनीति सार, १८८२
गुरू प्रसाद शास्त्री की टीका, श्री विष्णु शर्मा द्वारा विरचित, पंचतंत्र
जी० वूलर एन्ड एफ० कीथर द्वारा सम्पादित पंचतंत्र
जे० वान मैनन द्वारा सम्पादित चाणक्य नीतिशास्त्र, १६२४
जे० वान मेनन द्वारा सम्पादित नीति प्रकाशिका, १६२४
जय मंगलोपाध्याय द्वारा सम्पादित कामन्दकीय नीतिसार, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १६६४
जीवानन्द द्वारा सम्पादित, कामन्दकीय नीतिसार, १८७५
एम० आर० काले द्वारा सम्पादित, विष्णु शर्मा कृत पंचतंत्र, १६६६
एम० एन० दत्त द्वारा अंग्रेजी में अनूदित कामन्दकीय नीतिसार, १८८६
पन्ना लाल सोनी द्वारा सम्पादित सोमदेव नीति वाक्यामृत विद इकोनामिक्स कमेन्ट्री
आर० मित्र द्वारा सम्पादित, उपाध्याय निरपाशनी टीका के साथ, कामन्दक नीतिशास्त्र, बिवलियोथिका इण्डिका, १८६१
टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, शंकर राय की टीका के साथ, कामन्दक नीतिसार

बी० पी० महाजन, नीति कल्पतरु, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२६

बी० के० सरकार का अंग्रेजी अनुवाद, शुक्रनीति सार

धर्मशास्त्र

१—ए० बी० कीथ, रिलीजन एण्ड फिलास्फी आफ दि वेद एण्ड उपनिषदाज

ए० वार्थ, रिलीजन्स आफ दि इन्डिया

बी० डी० वसु, द्वारा सम्पादित सेक्रेड बुक्स आफ दि हिंदूज

डा० दक्षिणा नन्दन शास्त्री, ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट आफ दि रिचवेल्स आफ एनसेस्टर वर्शिप इन्डिया, १९६३

एफ० मेक्समूलर द्वारा संपादित दि सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, ट्रान्सलेटेड बाइ वैरियस ओरियन्टल स्कालर्स भाग ७, १९०० आक्सफोर्ड क्लैरेंन्डन प्रेस

एफ० मैक्समूलर द्वारा सम्पादित सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट भाग २, १८९७

डा० जे जाली, नारदीय धर्मशास्त्र अथवा इंस्टीट्यूट आफ नारद लन्दन, १८७६

जे० एन० फारग्रेसर, रिलीजस क्वेस्ट आफ इण्डिया एवं रिलीजस लाइफ आफ इण्डिया

एम० ब्लूमफील्ड, रिलीजन आफ दि वेद

एम० एल० बुश, ऐन्शियन्ट हिन्दू कल्चर

एम० विलियन्स, रिलीजस थाट एण्ड लाइफ इन ऐन्शियन्ट इण्डिया

पी वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग १, २ बम्बई

एस० सी० बनर्जी, धर्मसूत्राज कलकत्ता ४, १९६२

डा० वेद मित्र, इण्डिया आफ धर्मसूत्राज, नई दिल्ली, १९६५

वी० आर० आयंगर, सम ऐस्पेक्ट्स आफ हिन्दू व्यू आफ लाइफ एकार्डिङ्ग टु धर्मशास्त्र

अर्थशास्त्र

एडम स्मिथ, वेल्थ आफ नेशन १७७६ संस्करण ई कैनन, भाग—२, १९०४ सम्पादित डा० जे० एस० निकोल्सन १९०७

एडम स्मिथ लेक्चरस आन जस्टिस, पालिशी, वेल्थ एण्ड आर्म्स (सी० १७६३) संस्करण ई० कैनन १८९०

ए० ई० मोनरो, अर्ली इकोनामिक थाट (हरवर्ड)

ए० मार्शल, एकोनामिक्स आफ इण्डस्ट्री (विद मिसेज मार्शल १८७९, बाई हिमसेल्फ १८९२)

ए० मार्शल, प्रिन्सिपल्स आफ इकोनामिक्स, प्रथम संस्करण १८९०, आठवाँ संस्करण १९२०
सी० ए० एफ० राइस डेविड्स, इकोनामिक कण्डीशन्स इन ऐन्शियन्ट इण्डिया (इकोनामिक जर्नल, सितम्बर १९०१)
जी० ओ० ब्रीन, मेडिविल इकोनामिक टीचिंग (१९२०)
जी० एण्ड रिस्ट, हिस्ट्री आफ इकोनामिक डाक्ट्रिन्स (अंग्रेजी अनुवाद १९१५)
एच० एस० हेन, ऐन्शियेन्ट ला (१८६१) संस्करण, एफ० पोलक, १९०६
जे० ए० समोद्दार, लेक्चरस आन दि इकोनामिक कण्डीशन्स आफ ऐन्शियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२२
जे० के० इन्ग्राम, हिस्ट्री आफ पालिटिकल इकोनामी, १८८८, तृतीय संस्करण १९२५
जे० के० मेहता, लेक्चर्स आन माडर्न इकानामिक थ्योरी, इलाहाबाद, १९२६
जे० एस० मिल, प्रिन्सपल्स आफ पालिटिकल इकानामी १८४८, संपादित डब्लू. जे० ऐशले १९०९
के० पी० एम० सुन्दरम् एवं एम० सी० वैश्य, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, तृतीय संस्करण, रतन प्रकाशन मन्दिर, आगरा
के० वी० रंगास्वामी आयंगर, आस्पेक्ट्स आफ ऐन्शियन्ट इण्डियन इकोनामिक थाट बनारस, १९३४
एल० एच० हेने, हिस्ट्री आफ इकोनामिक थाट, १९२४
एल० ग्रास, इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी आफ पालिटिकल इकोनामी, अनुवाद एल० डायर, १८९३
एम० ए० बुश, इकोनामिक लाइफ इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, बड़ौदा, १९२४
एन० सी० बन्दोपाध्याय, ऐन एक्सपोजीशन आफ दि सोशल आइडियल्स एण्ड पालिटिकल थ्योरी, कलकत्ता
एन० सी बन्दोपाध्याय, इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२५
एन० एस० सुब्बाराव, इकोनामिक एण्ड पालिटिकल कण्डीशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया बींग एन एनालिटिकल स्टडी आफ दि जातकाज, मैसूर, १९११।
पी० एन० बनर्जी, इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
पी० एन० बनर्जी, ए स्टडी आफ इण्डियन इकोनामिक्स
पी० एन० बनर्जी, दि हिस्ट्री आफ इण्डियन टैक्सेशन
पी० एन० बनर्जी, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया

प्राण नाथ, ए स्टडी इन दि इकोनामिक कण्डीशन आफ ऐन्शियन्ट इण्डिया, रायल एशियाटिक सोसाइटी लंदन।

राधारमण गंगोपाध्याय, एग्रीकल्चर एण्ड एग्रिकल्चरिस्ट इन इण्डिया, कलकत्ता, १९३२

एस० के० दास, इकोनामिक्स लाइफ इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२५

एस० के० आयंगर, ऐन्शियेन्ट इण्डिया

सिसमंडी, पालिटिकल इकोनामी अनुवाद १८४७

एस० सी० शर्मा, आर्थिक विचारों का इतिहास, कृष्णा प्रकाशन मन्दिर, मेरठ

टी० एन० कार्वेल्स, एग्रीकल्चरल इकोनामिक्स, १९१२

यू० एन० घोषाल, कन्ट्रीब्यूशन टू दि हिस्ट्री आफ दि हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम कलकत्ता, १९२९।

यू० एन० घोषाल, दि ऐग्रेरियन सिस्टम इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, कलकत्ता १९३०

यू० एन० बागची, दि लॉ आफ मिनरल्स इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, कलकत्ता १९२६,

विनोद बिहारी दत्त, टाउन प्लानिंग इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, कलकत्ता १९२५

बी० बी० नाइक, ऐन्शियन्ट हिन्दू पालिटिक्स १९३२

कौटिल्य विषयक ग्रन्थ

वाचस्पति गैरोला, द्वारा संपादित कौटिल्य अर्थशास्त्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

बी० ब्रिलोर, कौटिल्य स्टडीस, भाग-२ १९२८

आई० जे० सोराबजी तारपोलवाला, नोट्स आन 'अध्यक्ष प्रचार', १९१४

जे० जाली एण्ड आर० स्मिथ, कौटिल्य अर्थशास्त्र भाग-२, विद न्यास चन्द्रिका, १९२३-२४ कमेन्ट्रीज, श्री मूलम, १९२४

जे० जाली, न्याय चन्द्रिका १९२४ (मलयालम, भाग-१)

जे० जे० मेयर, कौटिल्य अर्थशास्त्र (जर्मन १९१६)

जे० जाली एण्ड आर० स्मिथ, कौटिल्य अर्थशास्त्र, नोट्स भाग-'

कालिदास नाग, लेस थ्योरीज डिप्लोमेटिक्स डे० एल० इण्डियन ऐन्शियन्ट एल० अर्थशास्त्र १९२३ (अंग्रेजी अनुवाद वी० आर० आर० दिक्षेतर इन जनरल आफ इण्डियन हिस्ट्री)

के०पी० जायसवाल एवं ए० बनर्जी शास्त्री द्वारा संपादित भट्ट स्वामिनि, कौटिल्य अर्थशास्त्र (पटना, १९२६)

एम० विन्टरनिट्ज, सम प्राब्लम्स इन इण्डियन लिटरेचर, १८२१
एन० सी० वन्दोपाध्याय, कौटिल्य, १८२७
नरेन्द्रनाथ लां, स्टडीज इन ऐन्शियेन्ट इण्डियन हिन्दू पालिटी, १८१४
ओ स्टीन, मेगस्थनीज एण्ड कौटिल्य, १६२१
प्राणनाथ, कौटिल्य अर्थशास्त्र, १८२४
आर० पी० कांगले, दि कौटिल्य अर्थशास्त्र (भाग—१,२,३ बम्बई)
आर० शामा शास्त्री, कौटिल्य अर्थशास्त्र कन्कार्डन्स, इन्डेक्स-बरबोरम (भाग —३, १६२४-२५) अंग्रेजी अनुवाद (१८१५,१८२३,१८२८)
आर० शामाशास्त्री, कौटिल्य अर्थशास्त्र (रिकार्ड टु एस दि कौटिल्य), १८०८
टी० गणपति शास्त्री, कौटिल्य अर्थशास्त्र विद हिज भाष्य श्री मूलम भाग—३, १६२०,१८२४
टी० गणपति शास्त्री, कौटिल्य अर्थशास्त्र (भाग १,२) त्रिवेन्द्रम्, १८२१
उदयवीर शास्त्री द्वारा अनूदित कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग—१,२,३ दिल्ली—६, १८७०
विनयचन्द्र सेन, इकोनामिक्स इन कौटिल्य, संस्कृत कालेज, कलकत्ता

शिक्षाशास्त्र एवं समाजशास्त्र

बी० के० सरकार, थ्योरीज आफ दि हिन्दूज
सी० कोनहन, सम ऐस्पेक्ट्स आफ एजूकेशन इन ऐन्शियेन्ट इण्डिया, १८५०
डी० जीडुमल, दि स्टेट्स आफ वीमेन इन इण्डिया
दुख मोचन झा एवं तिमिर मित्रोदय, वर्ण व्यवस्था, दुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर
महामहोपाध्याय दुर्गा प्रसाद द्विवेदी द्वारा चातुर वर्ण शिक्षा वेद दृष्टयासमेता, ए क्रिटिकल इन्ट्रोडक्शन, १८२७
जी० एस० घुरे, कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया
गौरीशंकर भट्ट, भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र
एच० ग्वाल्थरस, धर्म एण्ड सोसाइटी, लदन, १८३५
जे० ई० सज्जन, कास्ट एण्ड आउट कास्ट
जे० के० शास्त्री, डेमोक्रेटिक हिन्दूइजम
एम० एन० मजूमदार, हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
नृपेन्द्र कुमार दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इण्डिया भाग—१, (कलकत्ता, १८०८)
एन० सी० एस० गुप्त, सोर्सेज आफ लां एण्ड सोसाइटी इन ऐन्शियन्ट इण्डिया

समाजशास्त्र

एन० एफ० विलिंगटन, वीमेन इन इण्डिया
एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
एन० सी० बन्दोपाध्याय, इन्टरनेशनल ला एण्ड कस्टम इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
आर० एम० सी० आइवर, सोसाइटी, ए टेक्स्ट बुक आन सोशियालाजी
आर० एस० शर्मा, लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकोनामी
आर० एस० शर्मा, सम इकोनामिक आस्पेक्ट्स आफ कास्ट सिस्टम इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
आर० जे० शास्त्री, इवोल्यूशन आफ इण्डिया
रोथफील्ड, वीमेन आॅफ इण्डिया
एस० शास्त्री, इवोल्यूशन आफ कास्ट
सेनार्ट इमारल, कास्ट इन इण्डिया
एस० वी० केलकर, हिस्ट्री आफ कास्ट इन इण्डिया
तारा चन्द्र, हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
विनय कुमार सरकार, दि पाजिटिव बैक ग्राउन्ड आफ हिन्दू सोशियोलाजी बुक —१ (नान पालिटिकल, १९१४)

इतिहास

ए० काल्जी, लाइफ इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
ए० ए० मैक्डानेल, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर
ए० बी० कीथ, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर
ए० ए० मैक्डानेल, इण्डियाज पास्ट
बी० जी० गोखले, ऐन्शियेन्ट, हिस्ट्री एण्ड कल्चर
बी० के० सरकार, क्रियेटिव इण्डिया
वल्देव उपाध्याय, आर्य संस्कृति के मूलाधार
भगवत शरण उपाध्याय, सांस्कृतिक भारत
बेनी प्रसाद, हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता
चतुरसेन शास्त्री, बुद्ध एवं बौद्ध धर्म
सी० वी० वैद्य, हिस्ट्री आफ मेडिवल हिन्दू
सी० वी० वैद्य, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर

डी० डी० कौशाम्बी, इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ दि इण्डियन हिस्ट्री
ई० जे० टामस, प्रो० हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट थाट
गोड, स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्ट्री
गोल्डन चाइल्ड, ह्वाट हैपेन्ड इन हिस्ट्री १९४३
एच० जी० रालिन्सन, ए० सार्ट कल्चर हिस्ट्री आफ इण्डिया
जनार्दन भट्ट, बौद्धकालीन भारत
जॉन डोसन द्वारा सम्पादित इट्स ओन हिस्टोरियन्स
जवाहर लाल नेहरू, डिस्कवरी आफ इण्डिया
के० एम० मुंशी, हिस्ट्री एण्ड दि कल्वर आफ दि इण्डियन पिपुल भाग २,३
के० एम० मुंशी, दि क्लासिकल एज, ए० डी० पुसालकर, बाम्बे
के० एम० मुंशी, एज आफ इम्पीरियल यूनिटी
के० ए० नीलकंठ शास्त्री, ऐन्शियन्ट इण्डिया
एल पी० वार्नेट, विजडम आफ दि ईस्ट
लल्लन जी गोपाल, भारतीय संस्कृति
एम० एलफिसटन एण्ड अदर्स, ऐन्शियन्ट इण्डिया
मैक्समूलर, हिस्ट्री आफ ऐन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर
मैक्समूलर, इण्डिया व्हाट कैन टीच अस
ओल्डेन वर्ग, ऐन्शियन्ट इण्डिया
प्रसन्न कुमार, ग्लोरीज आफ इण्डिया, इलाहाबाद
आर० के० मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, अनुवादक वी० एस० अग्रवाल
आर० के० मुकर्जी, हिन्दू सिविलाइजेशन, बम्बई, १९५६
राधाकुमुद मुकर्जी, ऐन्शियन्ट इण्डिया, इलाहाबाद, १९५०
आर० सी० दत्त, ऐन्शियन्ट इण्डिया
आर० सी० दत्त, सिविलाइजेशन इन वुद्धिस्ट एज
आर० सी० मजूमदार, ऐन एडवान्स हिस्टी आफ इण्डिया
रमेशचन्द्र दत्त, प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास
राजबलि पाण्डेय, प्राचीन भारत
आर० डी० बनर्जी, प्री-हिस्टोरिक ऐन्शियन्ट एण्ड हिन्दू इण्डिया
आर० डी० डब्लू० फ्रेजर, लिटरेरी हिस्ट्री आफ इण्डिया
राइस डेविड्स, मैनुवल आफ बुद्धिज्म
राइस डेविड्स, बुद्धिज्म

रेन्डालुइन्स, सिविलाइजेशन आफ ऐन्शियन्ट इण्डिया
आर० के० मुकर्जी, ऐन्शियन्ट स्कीम आफ लाइफ
आर० के० मुकर्जी, मेन एण्ड थाट इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
आर० सी० मजूमदार एण्ड अल्तेकर, ए न्यू हिस्ट्री आफ दि इण्डियन पिपुल
आर० सी० मजूमदार, वैदिक एज आफ इम्पीरियल युनिटी एण्ड क्लैसिकल एज
आर० सी० मजूमदार, हिस्ट्री आफ इण्डिया
आर० सी० मजूमदार आउट लाइन आफ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन
आर० सी० मजूमदार, हिस्ट्री एण्ड दि कल्चर आफ इण्डियन पिपुल
रमेश चन्द्र दत्त, अर्ली हिन्दू सिविलाइजेशन, कलकत्ता—४, १९६३
रमाशकर त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ ऐन्शियन्ट इण्डिया
सुनीति कुमार चटर्जी, भारत में आर्य और अनार्य
संपूर्णानन्द, आर्यों का आदि देश
सोमायजुल, ऐन्शियन्ट हिस्ट्री आफ इण्डिया
स्पाइट, लाइफ इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
एस० पी० व्यंकटेश्वर, इण्डिया कल्चर थ्रू दि एजेंज
यू० एन० घोषाल, पब्लिक लाइफ इन ऐन्शियन्ट इडिण्या
यू० एन० घोषाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर
वी० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया
विलियम विल्सन हन्टर, दि हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाइइट्स ओन हिस्टोरियन्स, जान डोसन द्वारा संपादित

दर्शनशास्त्र

चन्द्रकान्ता द्वारा संपादित खाण्डव भट्ट दीपिका बिब्लो० इण्डिया १८८९, १९१२
महेश चन्द्र, मीमांसा दर्शन आफ जैमिन विद सावराज कमेन्ट्री बिब्लो० इण्डियन, १८६३, १८६७
माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह संपादित वी० एस० अभयंकर, १९२४
माधवाचार्य, जैमिनीय न्याय मत विस्तार
पार्थसारथी मिश्र, शास्त्र दीपिका
राधा विनोद बिहारी पाल, हिन्दू फिलास्फी आफ ला इन दि वैदिक एण्ड पोस्ट वैदिक टाइम्स प्रायर टु दि इन्स्टीट्यूट आफ मनु
टी० गुणपतिशास्त्री, सर्वमत संग्रह १९१८

राजनीति

अम्बिका प्रसाद बाजपेई, हिन्दू राजतंत्र १६४६ प्रयाग
ए० के० सेन, स्टडीज इन हिन्दू पालिटिकल थाट
ए० मुकर्जी द्वारा सम्पादित जीमूतवाहन कृत व्यवहार मृतक
अनन्तदेव, स्मृति कौस्तुभ, बम्बई १६०६
बाल कृष्ण, बाल भट्टीयम आचार एण्ड व्यवहार, सम्पादक जी० आर० घरपुर, १६१४
बेनी प्रसाद, थ्योरी आफ गवर्नमेन्ट इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
बेनी प्रसाद, स्टेट इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, इलाहाबाद इण्डियन प्रेस, १६२८
बी० ए० सालेतुरे, ऐन्शियन्ट इण्डियन पालिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीट्यूशन
वाचस्पति विरचित विवाद चिन्तामणि
डी० आर० भंडारकर, आस्पेक्ट्स आफ ऐन्शियन्ट हिन्दू पालिटी १६२६
जी० सी० सरकार द्वारा अनूदित व्यवहार प्रकाश, जीवानंद संस्करण, १८७५
गंगानाथ झां द्वारा अनूदित विवादचिन्तामणि, अंग्रेजी अनुवाद बड़ौदा इन्स्टीट्यूट, १६४२
जगन्नाथ, विवाद भृंगरव, भाग-१ ट्रान्सलेशन एच० टी० कोल बुक एण्ड डाइजेस्ट, १७६७।
जीमूतवाहन, दाय भाग, द्वितीय संस्करण १८६३, जीवानन्द विद्यासागर
जे० आर० घरपुरे द्वारा संपादित व्यवहार मयूख आफ भट्ट नीलकंठ भाग—१
के० बी० रंगास्वामी द्वारा संपादित कृत्य कल्पतरु आफ भट्टलक्ष्मी धर भाग—१, २ व्यवहार काण्ड, बड़ौदा ओरियन्टल सिरीज १६१४
के० बी० रंगास्वामी आयंगर द्वारा संपादित, राजधर्म १६४१
के० पी० जायसवाल, हिन्दू पालिटी
के० पी० जायसवाल द्वारा संपादित राजनीति रत्नाकर, १६२४
के० बी० रंगास्वामी, सम आस्पेक्ट्स आफ ऐन्शियेन्ट इण्डियन पालिटी, १६१४
के० बी० रंगास्वामी आयंगार, इवोल्यूशन आफ ऐन्शियन्ट इण्डियन पालिटिक्स पटना, १६२६
कण्डेश्वर, विवाद रत्नाकार, १८८७
के० बी० रंगस्वामी आयंगर, इन्ट्रोडक्शन, द व्यवहार काण्ड आफ कृत्यकल्तरु विद इन्डेक्स आफ लक्ष्मीधर १६५८
लक्ष्मीधर भट्ट विरचित, कृत्य कल्पतरु भाग—५ बड़ौदा ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट १६४१

मधुसूदन, बिब्लो इण्डिका, १८८३
मिश्रा मिश्र, विवाद चन्द्र, बम्बई १८८२
मनोरमा जौहरी, पालिटिक्स एण्ड एथिक्स इन ऐन्शियन्ट इण्डिया भारतीय प्रकाशन वाराणसी, १९६८
मित्र मिश्र, राजनीति प्रकाश (वीरमित्रोदयान्तर्गत)
माधवाचार्य कृत, पाराशर माधुरीयम् संपादित चन्द्रकान्त, संस्करण बिब्लोथिका इण्डिया भाग— ३, १८८२, १८८९ बम्बई
नरेन्द्र नाथ झां, ऐस्पेक्ट्स आफ ऐन्शियन्ट इण्डियन पालिटी, ओरियन्ट लॉंगमेन्स, १९६०
एन० सी० बन्दोपाध्याय, हिन्दू पालिटी एण्ड पालिटकल थ्योरी १९२७
नरेन्द्र नाथ झां, इन्टर स्टेट रिलेसन्स इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
नरेन्द्रनाथ झां, स्टडीज इन इण्डिया हिस्ट्री एण्ड कल्चर १९२५
नरेशचन्द्र सेन, सोर्सेज आफ ला एण्ड सोसाइटी इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, १९१४
पद्म प्रसाद उपाध्याय द्वारा संशोधित मित्र मिश्र विरचित वीरमित्रोदय शुद्धि प्रकाश १९३७, चौखम्बा सिरीज
पृथ्वी चन्द्र, व्यवहार प्रकाश भाग—१, २, ३ भारती विद्या भवन, बम्बई, १९६२
पी० एन० बनर्जी, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, १९१६
प्रसन्न कुमार टैगोर, अनुवाद १८६३
राधा कुमुद मुकर्जी, लोकल गवर्नमेन्ट इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, १९२२
राघवेन्द्र बाजपेई, बार्हस्पत्य राज्य व्यवस्था, चौखम्बा प्रकाशन
रामचन्द्र वर्मा द्वारा अनूदित हिन्दू राज्य तन्त्र खण्ड—२
आर० एस० शर्मा, ऐस्पेक्ट्स आफ पालिटिकल इण्डियन एण्ड इन्स्टीट्यूशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया
डा० आर० एस० शर्मा, आस्पेक्ट्स आफ आइडियाज इण्डियन एण्ड इन्स्टी-ट्यूशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, १९५९
आर० सी० मजूमदार, कार्पोरेट आर्गनाइजेशन इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, १९२२
आर० शामाशास्त्री, रिवैल्यूरेशन आफ इण्डियन पालिटी, १९२०
सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राज्यशास्त्र
सीताराम जोशी द्वारा संपादित राजनीति मंजरी १९२३
एस० वी० विश्वनाथ, इन्टरनेशनल लॉ इन ऐन्शियन्ट इण्डिया, १९२५
टी० कृष्णा स्वामी अय्यर अनुवाद व्यवहार, १८६३

यू० एन० घोषाल, हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटिकल आइडियाज
यू० एन० घोषाल, हिस्ट्री आफ हिन्दू पालिटिकल थ्योरीज
वाचस्पति गैरोला द्वारा व्याख्या कृत पं० तरणीश झां कृत राजनीति रत्नाकर १६७०
विनायक शास्त्री द्वारा संशोधित दलपतिराज विरचित व्यवहार सार, १६३४
वी० आर० आर० दिक्षितार, हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स
वी० आर० आर० दिक्षितार, मौर्यन पालिटी १६३२
विनय कुमार सरकार, पाजिटिव बैक ग्राउन्ड आफ हिन्दू सोशियोलाजी, १६२१ १६२६

कालिदास विरचित ग्रन्थ

अभिज्ञानशाकुन्तल
मालविकाग्निमित्रम्
रघुवंशम्
विक्रमोर्वशीयम्
मेघदूतम्
कुमारसंभवम्

जर्नल

एनाल्स आफ दि ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट भाग—३८, १६५७ भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
एनाल्स आफ दि भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट भाग—३६, १६५८ आर० एन० डांडेकर तथा एच० डी० वेलांकर द्वारा संपादित, पूना
इण्डियन ऐन्टीक्वेटी
जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल
जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी
जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रान्च आफ दि रायल एसियाटिक सोसाइटी
जर्नल आफ दि एन्थ्रोपोलोजिकल सोसाइटी आफ बाम्बे
जर्नल आफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
जर्नल आफ दि डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, कलकत्ता यूनिवर्सिटी
बंगाल इकोनामिक, जर्नल

अन्य पुस्तकें

श्रीपाद अमृत डांगे, भारत—आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक का इतिहास

अमर सिन्हा, नाम लिंगानु शासन, संपादक गणपति शास्त्री
ए० ए० मैक्डानेल एण्ड ए० बी० कीथ, वैदिक इन्डेक्स, भाग—२, १६१२
जी० वी० हीड, हिस्ट्री न्यूमरन, १८५७
एफ० मैक्समूलर, सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी १८६६
जी० बूलर एवं पी० पीटर्सन द्वारा संपादित दंडिन दशकुमार चरित १८८८, १८६१
एच० टी० कोलब्रुक, मिसलेनियस एसेज (मद्रास प्रिंट) भाग—२, १८७२
के० पी० जायसवाल, हिस्ट्री आफ इण्डिया, १५०-३५० ए० डी० १६३३
एल० एच० एण्ड कार्डियर, एच० एण्ड दि वे दीदर, हकलसुट सोसाइटी, एन० एस० भाग—४, १६१६
मैक्रिन्डल, मेगस्थनीज, इण्डिका
एम० ए० स्टेन द्वारा अनूदित कल्हण की राजतरंगणी प्रकाशित दुर्गा प्रसाद, भाग—२, १६००
आर० एच० मेजर, इण्डिया इन दि फिफटीन्थ सेन्चुरी (हकल्यूट सोसाइटी, १८५७)
राज शेखर, काव्य मीमांसा प्रकाशित सी० डी० दलाल, १६२४ बड़ौदा
आर० जी० भंडारकर, ए० पीय इन टु दि अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया १६००
एस० बील्स, बुद्धिस्ट रिकार्डस ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग—२
एस० बील्स, लाइफ आफ ह्वेनसांग
श्री श्रीकृष्णदास, हमारी लोकतांत्रिक परम्परा, सरोज प्रकाशन, प्रयाग १६६०
वाटरर्स, यान कांग ट्रेवेल्स, १६०४